जपसूत्रम्

स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती

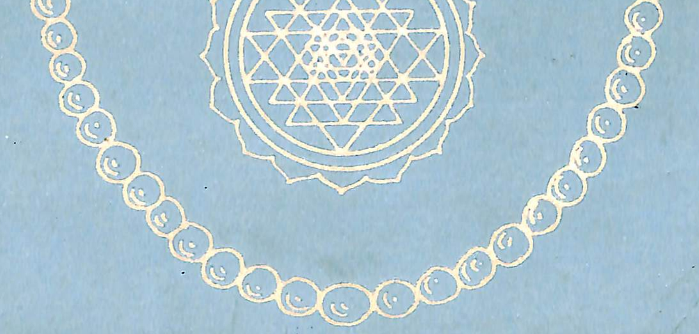

जपसूत्रम्

(प्रथम खण्ड)

(कारिका सम्वलित तथा व्याख्या एवं भाषानुवाद युक्त)

तन्त्रविज्ञानोक्त ज्ञान-योग की राहस्यिक व्याख्या, जपविज्ञान का सर्वाङ्गीण समीक्षण-उपदेश, अनादि परम्परागत आगमोपदेश युक्त अनुभवात्मक प्रातिभ साक्षात्कार एवं विवेकज ज्ञान का सामरस्य द्योतक ग्रन्थ ।

ग्रंथकार

श्री स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती

(पूर्वाश्रम का नाम—प्रोफेसर प्रमथनाथ मुखोपाध्याय)

मुख्य भूमिकाङ्कनकार

म० म० डा० पं० गोपीनाथ कविराज 'पद्मविभूषण'

अनुवादक

एस० एन० खण्डेलवाल

प्रकाशक

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी दिल्ली

प्रकाशक :—

© भारतीय विद्या प्रकाशन

(१) पो० बा० नं० ११०८, कचौड़ी गली, वाराणसी—२२१००१

(२) १, यू० बी० बैंग्लो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली—११०००७

प्रथम संस्करण १९९२ ई०

मूल्य १००—००

मुद्रक :

चिनगारी प्रेस

सीके० ६४/७, हीरापुरा (जालपा देवी रोड)

कबीरचौरा, वाराणसी—२२१००१ (यू० पी०)

निवेदन

'जपसूत्रम्' प्रथम खण्ड का भाषानुवाद प्रस्तुत करने वाले इस प्रकाशनोत्सव की मंगलमयी बेला में सुधी श्रद्धालु पाठकगण के समक्ष जपसूत्रम् में आलोचित साधनाधारा के सम्बन्ध में कुछ निवेदन करना आवश्यक प्रतीत होता है। साधना की चर्चा के अभाव में वांगमयी मातृका शक्ति का भुवनविमोहन स्वरूप चिन्तना तथा भावना के स्तर पर प्रकट ही नहीं होता।

हमारे संवेग जिन तरँगों के माध्यम से संचारित होते हैं, वे तरँगे चक्षु घ्राण इत्यादि के माध्यम द्वारा अन्तकरण तक आ जाती हैं। हमारा अन्तःकरण इन तरँगों द्वारा लाये गये संवेग से प्रभावित होकर भावना-चिन्तना, कल्पना-जल्पना करता रहता है। ज्ञानीजन इसे हमारी अनुभूति का कार्पण्य अथवा दैन्य कहते हैं। इसी दैन्य के प्रभाव से उर्ध्वधामस्थ आयाम का और वहाँ से उत्सरित हो रहे नाद, विन्दु, ज्योति तथा रस का परिचय हमें नहीं मिल पाता। यह अनुभूतिगत कार्पण्य वाह्यानुभूति के अवरोधक तत्व, वायुमण्डलीय कम्पन की तारतम्यपूर्ण स्थिति और मन के गठन के कारण है। विभिन्न कारणों के समवाय के अभाव में अथवा मात्रास्पर्श की सीमाबद्धता के ही कारण हमारी अनुभूति में सर्वभौमता का अभाव हो जाता है। फलतः नाद प्रभृति लोकोत्तर श्रुति का हमें कोई संवाद नहीं मिलता! अतएव सिद्धान्त यह है कि लोकोत्तर संवादरूपी नाद, विन्दु, ज्योति तथा रस का सम्पर्क प्राप्त करने के लिये मात्रास्पर्श एवं अनुभूतिगत् कार्पण्य को दूर करना ही होगा। स्वामीजी के अनुसार इस कार्पण्य को दूर करने का और मात्रास्पर्श की परिधि से उत्तीर्ण होने का एकमात्र उपाय है जपयज्ञ रूपी तप। साधक इसके द्वारा अपनी वाक्, वायु, दृष्टि तथा मन की स्वाभाविक चन्चलता से मुक्त हो सकता है। तभी अचँचल और स्थिर वृत्ति प्राप्त होती है। जप के प्रभाव से अब वाक् भी अनर्गल वृथा प्रलाप से मुक्ति पाकर स्वेच्छा अथवा अनिच्छा से जपकर्म से संश्लिष्ट रहता है, प्राणवायु अब इतःस्ततः प्रधावित न होकर ऋतच्छन्द के शासनाधीन हो जाती हैं। अब वाह्य जगत् के चित्र-विचित्र वर्णो से आकृष्ट दृष्टि जप के मधुच्छन्द से आकृष्ट होकर शान्त स्वात्मरूप के प्रति आकर्षित होती हुई विभोर हो जाती है। यही है दृष्टि का स्थैर्य। अतः योगीगण कहते हैं कि योगी, भोगी तथा रोगी की पहचान उसकी दृष्टि (आँख) से ही होती है! दृष्टि के स्थैर्य के साथ-साथ योगसिद्धि का भी क्रमिक उन्मेष होने लगता है।

वाक्, प्राण तथा दृष्टि स्थैर्य के उपरान्त साधित होता है मन। जप का यह अतुलनीय प्रभाव है कि अब प्रत्याहार, धारणा तथा ध्यान स्वतः ही होने लगते हैं। इस स्थिति में जप के आकूतिपूर्ण आह्वान के द्वारा प्रसुप्ता कुण्डलिनी, अनाहत शाश्वतनाद, आदित्यवर्ण ज्योति तथा श्रुतियों में वर्णित मधुमत्तम रस क्रमशः प्रकट होने लगते हैं। यही है जप यज्ञ द्वारा प्राप्त अमृतघट।

जप के सम्बन्ध में एक रहस्यमय तथ्य को सर्वदा स्मरण रखना चाहिये। जप के प्रभाव से स्वभावतः चन्चल रूप वाक्, प्राण, दृष्टि तथा मनः तो अचँचल हो जाते हैं, परन्तु जो नित्य अचँचल रूप कुण्डलिनी, नाद, आदित्यवर्ण ज्योति तथा मधुमत्तम रस है, वह सतत् चँचल हो उठते हैं। यह है जप की अतुलनीय शक्ति। ये चारो अचंचल अब चँचल होकर साधक की अन्तरतम सत्ता अर्थात् हृद् को भरपूर करने लगते हैं। अलसित रस अपनी जड़िमा को उच्छिन्न करता हुआ उल्लास मुखर हो उठता है। उसकी मुखरता कुण्ठाहीन मधुच्छन्द के रूप में सुर-शिल्प को लीलायित तथा रूपायित करने लगती है। अब यह मधुच्छन्द रूपी सुरशिल्प परम निगूढ़ नादसान्द्र समाधि में प्रविलीन हो जाता है।

जपकर्म द्वारा वाक् की वाह्य प्रवृत्ति क्रमशः अनाहत धर्मिणी तथा स्व छन्द रूपिणी हो जाती है। अस्थिर तथा विशृंखल प्राण भी वाह्यप्रवृत्ति का परित्याग करते-करते नासाभ्यन्तर में वृत्तिमान हो जाता है। अब श्वास का छन्द और जप का छन्द पारस्परिक विषमता का त्याग करते हुये सुषम होने लगता है। परिणामतः जापक की दृष्टि भी बाह्यता से मुक्त होकर अनाकुल अन्तर्दृष्टि के रूप में विवर्तित हो जाती है। सर्वान्त में चित्त भी अपने अपरूप अन्तःकुहर में प्रविष्ट होकर समस्त श्रान्ति तथा क्लान्ति से मुक्त हो जाता है।

जप का आधार है नाम। नाम साधना ही जप साधना है। नाम साधना के लिये न्यास, भूतशुद्धि तथा गुरुध्यान अत्यावश्यक हैं। इसी के साथ साथ यह भी ज्ञातव्य है कि जपसाधना में सन्धित्रय को पार करना पड़ता है। साधक की देह ही जप का आधार है। यह उसका अपना यन्त्र है। यन्त्र अर्थात् देह-प्राण तथा चित्त का संघात। इसमें से देह का निर्माण अनेक उपादानों के द्वारा होता है। ऐसा हम मानते हैं। अब आवश्यक हो जाता है इस स्थूल देह को प्राण तथा चित्त के समपर्याय में उत्तीर्ण करना। अतः अंगन्यास के द्वारा देह की उस विसदृश स्थिति का सदृशीकरण करना आवश्यक है जिस वैसादृश्य के कारण देह की स्थिति प्राण तथा चित्त की तुलना में विजातीय सी प्रतीत होती है। अतः अंगन्यास के प्रभाव से सर्वप्रथम भावना द्वारा तत्पश्चात् अनुभूति के द्वारा सदृशी-करण किया जाता है। वास्तव में भौतिक देह भौतिक उपादानों द्वारा निर्मित

नहीं है। यह प्राण तथा अन्तःकरण का सगोत्र है। यह भावना अथवा अनुभूति होती है न्यास द्वारा। न्यास में इस शरीर की मंत्राक्षरमयी भावना की जाती है। अर्थात् शरीर का प्रत्येक अंग एक-एक मंत्रावयय की ही मूर्त अभिव्यक्ति है। इस प्रकार से मंत्राक्षर रूपी सेतु के द्वारा यह स्थूल देह भी प्राण, मन तथा उर्ध्वचेतना की स्थिति पर्यन्त समुन्नत हो जाता है।

इसके अनन्तर है भूतशुद्धि। भूतशुद्धि का तात्पर्य है हमारे इस स्थूल देह से प्रारंभ करते हुये सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा परम सूक्ष्मपर्यन्त की उर्ध्वगामिनी यात्रा। समस्त साधक एक ही क्रम अथवा प्रणाली द्वारा उर्ध्वप्रवाह का अनुसरण नहीं करते। प्रथमतः जप क्षिति तत्व में चलता है। इस स्थिति में पृथ्वी तत्व का प्राधान्य रहता है। इस जप को क्रमशः जल, तेज, वायु एवं आकाश तत्व पर्यन्त उर्ध्व प्रवाहित करना चाहिये। इससे प्रारंभिक तत्व के अवरोध कटते जाते हैं और उससे उर्ध्व तत्व में आरोहण होने लगता है। पृथ्वी से जल तत्व में जप का आरोहण होते ही पृथ्वी तत्व जनित अवरोध विलीन हो जाते हैं। ऐसा ही आकाश तत्व पर्यन्त होता जाता है। जल तत्व में उन्नीत होते ही पृथ्वी तत्व जनित शुष्कता तथा रुक्षता का अवसान होने के साथ-साथ स्निग्ध सरस भाव का संक्रमण होने लगता है। तेजतत्व में आते ही अमोघ गति तथा वीर्यवत्ता परिलक्षित होने लगती है। वायु तत्व में आने पर जप की सीमाबद्धता तथा व्यष्टि-भाव समाप्त हो जाता है और व्यष्टि जप अब एक विराट विपुल जप का रूप ग्रहण कर लेता है। आकाश तत्व में आते ही जप असीम महासागर के सामान लीलायित होकर एक परम प्रशान्त महामौन में निमज्जित हो जाता है। यही है भूतशुद्धि। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ जिस पृथ्वी, जल, तेज आदि का उल्लेख किया गया है वह साधारण मिट्टी, पानी अथवा अग्नि नहीं है। यह बाह्य एवं आभ्यन्तरीण स्थिति का द्योतन कराने वाला संकेत है। किसी भी आन्तर अथवा वाह्य अनुभव के लिये हम इन पाँच मूलसूत्रों का चिन्तन करते हैं। इस पाँचों के अनुभव की पृष्ठभूमि में जिस 'महान्' अथवा 'परम्' की सत्ता है; उसके स्पन्द का संस्पर्श इनसे कराना ही भूतशुद्धि है। उसके स्पर्श मात्र से ये पाँच तक्षण शुद्ध हो जाते हैं।

यह ज्ञातव्य है कि देह के मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत तथा विशुद्ध चक्र ही पंच महाभूताधिष्ठान हैं। इन पाँचों में 'ह' तथा 'क्ष' को छोड़कर समस्त वर्णमाला न्यस्त है। इन पाँचों के उर्ध्व में द्विदल आज्ञाचक्र की सत्ता है। इसमें ह तथा क्ष वर्ण अपनी समस्त शक्ति के साथ स्थित रहते हैं। जब तक जप इस द्विदल में उन्नीत नहीं होता तब तक 'द्वन्द्वातीतो विमत्सरः' की स्थिति

प्राप्त नहीं हो सकती। आकर्षिणी-विकर्षिणी, दैवी-आसुरी, वाह्य-आन्तर प्रभृति का विमत्सर, पारस्परिक द्रोह यहीं समाप्त होता है। इस द्विदल की प्राप्ति होती है नासाग्र द्वादशान्त पर मध्यमा जप द्वारा। हठयोगी गण इस स्थिति को क्रमशः अमरोली-वज्रोली तथा सहजोली की सिद्धि के द्वारा प्राप्त करते हैं। भावुक भक्त-जन गोपीभाव में सुप्रतिष्ठ होते ही इस द्विदल में स्थित हो जाते हैं। ज्ञानमार्गी अहं विमर्श का उन्मेष होते ही द्विदल में समारूढ़ होते हैं। यहाँ 'ह' वर्ण का आश्रयण कर सकने पर सब कुछ में से अमृत का आहरण किया जा सकता है और 'क्ष' का आश्रय लेकर विष का चरम मोक्षण साधित हो जाता है। यहीं आने पर विष भी अमृत हो जाता है। अभी तो हम जिस स्थिति में हैं वहाँ आकर अमृत भी विषवत् ही है। द्विदल में विष तथा अमृत का द्वन्द्व है ही नहीं! वहाँ जप स्वयं ही अमृतरूप है। यहीं पर संसाररूपी महाज्वर शान्त होता है। ज्वर रहित स्थिति में परम की प्राप्ति का मार्ग उन्मुक्त हो उठता है।

यह द्विदल दो ध्रुवों के समान है। यह एक मूल अभिन्न स्पन्द का दो ध्रुव है। यहाँ सोम द्वारा अग्नि का प्रतिपूरण तथा अग्नि द्वारा सोम का आपूरण होता रहता है। अनुभव की चरम स्थिति में जप की कृपा से ये दोनों ध्रुव अलग-अलग नहीं रह जाते। दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। यह मिलना ही जप का सम्पूरण है। पहले आपूरण तत्पश्चात् प्रतिपूरण और अब सम्पूरण। भय है दो रहने पर 'द्वितीयाद् वै भयं भवति' परन्तु जहाँ दो है ही नहीं उस सम्पूरण को ही निर्भय पद कहा गया है। यह द्विदल ही गुरुधाम है। यहाँ पर जप की स्थिति गुरुध्यान में प्रविलीन हो जाती है।

जप साधना के सम्बन्ध में यह कहा जा चुका है कि सन्धित्रय को पार करना आवश्यक है। प्रथम संधि का सन्धान उस समय प्राप्त होता है जब जप जनित तरुण (नव, प्रारंभिक) उल्लास अपना आत्मप्रकाश प्रौढ़रूप में करता है। तरुण उल्लास में अनेकांश में चपलता तथा आविलता अज्ञात रूप से रह जाती है। इनका शोधन होने पर ही विमल एवं प्रगाढ़ उल्लास का अनुभव हो सकेगा। गुरु शक्ति को पुरोभाग में रखकर जापक मुख्यत: आत्मकृपा के द्वारा इस सन्धि को उत्तीर्ण करते हैं। अब प्रारंभ होता है जपकीर्त्तन जनित दिव्य आन्तर विलास। यहाँ पर द्वितीय सन्धि है। प्रौढ़ उल्लास का रूपान्तरण दिव्य आन्तर विलास रूप में होने से ही कुछ नहीं होता! उसे आन्तर ज्योतिरूप में विकसित होना चाहिये। यह है वर सन्धि। प्रथम सन्धि को अवर सन्धि और इस द्वितीय सन्धि को वर सन्धि करते हैं। भगवान की कृपा को पुरोभाग में रखकर श्री गुरु कृपा द्वारा यह सन्धि उत्तीर्ण होती है। इसके पश्चात् चरम (वरिष्ठ) सन्धि का सन्धान मिलता है। यहाँ आत्मकृपा तथा गुरुकृपा की धारा भगवत् कृपा में मिलित हो जाती है।

यह चरम सन्धिस्थल है द्विदल कमल। यहाँ आकर आरुरुक्षु साधक ही युंजान तथा युक्त हो जाते हैं। यही गुरुधाम है। गुरुधाम तक उर्ध्वोत्थित जप अपनी परमता—तथा चरमता में अधिरूढ़ हो जाता है। इस स्थिति के आगे का वर्णन महान् सिद्ध स्वामी जी ने ग्रंथ के अन्यान्य खण्डों में किया है। जहाँ तक भाषा की शक्ति है और पहुँच है, वहाँ तक व्यक्त करने में स्वामी जी ने कुछ भी कसर नहीं छोड़ी है। अन्य खण्डों का अनुवाद मुद्रणाधीन है। आशा करता हूँ कि महामाया की कृपा से वे शीघ्र प्रत्यक्षगोचर हो सकेंगे।

सर्वान्त में इस अनुवाद प्रस्तुति के सम्बन्ध में यह भी निवेदन करना है कि समस्त छ खण्डों के भाषानुवाद के साथ-साथ एक अलग ग्रंथ के रूप में 'जपसूत्रम्' में प्रतिपादित समस्त तत्वसमूह की समालोचना के शब्दांकन का उपक्रम भी प्रारंभ हो चुका है। इस संदर्भ में पूज्य कविराज महाराज की ऐसी ही इच्छा भी थी, जिसे उन्होंने इस ग्रंथ की भूमिका के अन्त में स्वयं व्यक्त भी किया है। वाग्देवी की कृपा से इस उपक्रम में अवश्य सफलता प्राप्त होगी, यह विश्वास करता हूँ।

स्वतंत्रता दिवस, १९९२ ई०

बी० ३१।३२ लंका, वाराणसी

एस० एन० खण्डेलवाल

—०—

विषयानुक्रमणिका

पूर्वपीठिका			पृष्ठ संख्या
जपसूत्रम् की आत्मकथा	—	स्वामी प्रत्यगात्मानन्द	१–३
अन्तिम दो बातें	—	,, ,,	४–५
मुख्य भूमिका	—	म. म. गोपीनाथ कविराज	६–२०
एक परिचय	—	डा० कल्याणमल लोढ़ा	२१–२६
प्रस्तावना	—	श्री गोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय	२७–३५
निवेदन	—	,, ,,	३६–५५

भूमिका

(स्वामी प्रत्यगात्मानन्द)

स्वाभाविक शब्द अथवा मंत्र (प्रथम अंश)	५६–८४
स्वाभाविक शब्द अथवा मंत्र (द्वितीय अंश)	८४–१०४
स्वाभाविक रूप अथवा यंत्र	१०५–१२४
जप	१२४–१५४
भूमिका के अन्त में मौलिक कथ्य	१५४–१५७

मूलग्रन्थ

(स्वामी प्रत्यगात्मानन्द)

श्री गुरुपादाब्जदलपञ्चकम्	१५८–१६६
उपोद्घातः तथा जपसूत्रोपक्रमणी	१६७–२७४

— ● —

शुद्धि

(पृष्ठ प्रथम, पंक्ति ८ में 'आचार्यों की हुई' को कृपया 'आचार्यों' की दी हुई' पढ़ें)

जपसूत्रम्

(प्रथम खण्ड)

जपसूत्रम् की आत्मकथा

(मूल पञ्चम खण्ड से उद्धृत)

शेषोन्मुख होते हुए 'जपसूत्रम्' की थोड़ी सी आत्मकथा कहने का अवकाश आया है। साठ वर्ष पहले—तरुण जिज्ञासु था, वयस् और स्वभाव के धर्म से विद्यारसिक। तब चिन्तन-राज्य के गगन में एक उज्ज्वल अप्रतिद्वन्द्वी नक्षत्र था—हर्बर्ट स्पेन्सर। उनका विराट् अवदान था—प्रकाण्ड दस जिल्दों में **Synthetic Philosophy**; उस (ग्रन्थमाला) के पाण्डित्य अथवा विशालत्व ने नहीं, किन्तु उसके निपुण बलिष्ठ विश्लेषण ने और व्यापक वैज्ञानिक समन्वय ने मानो बहुत कुछ सम्मुग्ध ही कर लिया था। अयच उसके मूल विषय में इस देश के आचार्यवर्ग के दिये हुए दिव्य ज्ञानाञ्जन ने एवं उस देश के अन्य मतों के आचार्यों की हुई नेत्र-वर्त्तिका ने जिज्ञासु की अध्यात्म दृष्टि को बहुत कुछ प्रकृतिस्थ बनाये रखा था। फिर भी आचार्य हर्बर्ट स्पेन्सर से, ऐकान्तिक आकाङ्क्षा के बीच, मिला एक विराट् समन्वयी परिकल्पन एवं जीवन में उसी साधन की प्रेरणा। दीक्षा नहीं, प्रेरणा, क्योंकि ऐसी परिकल्पना का बीज, सम्भवत: अङ्कुरायित रूप में ही, गहन संस्कार-क्षेत्र में था। उस देश की विज्ञान-विद्या और इस देश की आध्यात्म-विद्या—इन दोनों की निकट सङ्गति और समन्वय तरुण जिज्ञासु का लक्ष्य और साधन बन गया। अर्थात् लेबॅरेटरी और नैमिषारण्य का सम्मिलन।

इसके लिये दोनों क्षेत्रों में ही जो सिद्धपीठाधीश हैं, परिप्रश्न और निष्ठा के साथ उनकी शुश्रूषा की। विज्ञान और प्रज्ञान दोनों का श्रवण-मनन एवं यथासम्भव निदिध्यासन किया।

तारुण्य के उत्तरप्रान्त में उपनीत होने से पहले ही परिकल्पना वास्तव रूप लेने लगी। पहले अँग्रेजी भाषा में। गणितादि विज्ञान एवं आर्ष प्रज्ञान का युग्म शक्ति-सम्पात था मूल में। **'The Approaches to Truth' 'Patent Wonder'** ये सब उसके फल थे। किन्तु प्रधानत: प्रथम विश्व-युद्ध ने इस प्रचेष्टा और भाव को और अधिक फलीभूत नहीं होने दिया। फिर भी अधिक विलम्ब से पूर्व ही 'वेद ओ विज्ञान' इत्यादि नाना धारावाहिक प्रबन्ध-निबन्धों में मूल परिकल्पना की प्राणधारा ने अपने को कर्मरत रखा।

प्राय: साथ-साथ ही इस प्राणधारा की एक मुख्य शाखा तन्त्रविद्या के गहन-दुर्गम रहस्यराज्य की ओर प्रवाहित हुई। महामति सर जॉन वुडरफ साहब के मुख

से भगीरथ का शङ्ख ध्मात्तं हुआ इस अभिवन धारा के प्रवर्त्तन में। महामाया की इच्छा से यह धारा विशाल से विशालतर भी होती चली गई। तन्त्र-तत्त्व-विषयिणी बहुत सी रचनायें इस धारा को, उसके दोनों तटों को सजाती चलीं। फिर भी वह मूल समन्वयी परिकल्पन मानों महासिन्धु की भाँति दूर से ही अपना शाश्वत आह्वान सुनाता रहा।

उसके बाद विप्लवी संघर्ष, राजनीति और संवाद-दाता के विसंवाद ने सागराभिसारिणी धारा को कुछ समय के लिए कृच्छ्र (कृश), कुटिल गमना भी बना दिया, तथापि उस बाह्य बाधा से उसका आन्तर संवेग वर्द्धित हुआ।

स्वाधीनजातीय शिक्षा के प्रवर्त्तन के क्रम में श्रीअरविन्द ने इस शतक के प्रथम भाग में ही अपना असामान्य शक्तिसमृद्ध सहयोग दिया था। जातीय शिक्षायतन (वर्तमान यादवपुर विश्वविद्यालय) में भारतीय कृष्टि (Culture) के विषय में अनुशीलन और गवेषणा के उद्देश्य से जो 'आसन' (Chair) श्री अरविन्द के लिए आरम्भ में उत्सृष्ट हुआ था उस आसान पर उपविष्ट होने का सम्मान इस भाग्य में आया। राजनीति के आवर्त्त ने तब मुक्ति दे दी। तरुणजीवन का वह प्राण-प्रवाह अब नाना शाखाओं में न बह कर अपनी चिर-मृग्य, उदार, अखण्ड एक, धारा में बहने का निश्चित सुयोग पा सका। अँग्रेजी में नहीं, बंगला भाषा में। प्रधानतः भारतीय कृष्टि (Culture) एवं ऐतिह्य को विषयवस्तु बना कर सर्वजागतिक भावराज्य के प्रति पूर्ण सजग दृष्टि रखते हुए उस तरुण का परिकल्पन—**Synthetic Philosophy**—शायद अब वास्तविक रूप का परिग्रह करेगा, ऐसी आशा हुई। प्राचीनतम युग से लेकर वर्त्तमान युग तक सृष्टि, ब्रह्म, कर्म इत्यादि एक-एक मूल भाव किस प्रकार अपने विचित्र विकास और परिणति तक पहुँचा है—इसके तथ्य एवं तत्त्व का विश्लेषण-समन्वय करते हुए कुछ खण्डों में इतिहास लिखने की वासना हुई। किन्तु भूमिका-ग्रन्थ 'इतिहास ओ अभिव्यक्ति' प्रकाशित होने के बाद सृष्टि, ब्रह्म इत्यादि के सम्बन्ध में अन्याय सुविस्तृत लेख कुछ दूर तक प्रस्तुत होकर भी प्रकाश्य आलोक के मुख-निरीक्षण का भाग्य नहीं पा सके।

उसके बाद संन्यास-जीवन में सभी कुछ का आमूल पट-परिवर्त्तन हो गया। तरुण एवं परिणत वयस् का वह विद्या-रस अपने को ध्यान-रस और भाव-रस में खो बैठा। ग्रन्थादि-पाठ और अनुशीलन की वह प्रवृत्ति जैसे ही एक ओर निःशेष हुई, वैसे ही दूसरी ओर चाक्षुष दृष्टि का भी ह्रास हुआ। यही हुई संस्कृत में 'जपसूत्रम्' की आधार-प्रस्तुति। **जपसूत्रम् नाना शास्त्रों के अधीत-विद्य पण्डित का विरचित ग्रन्थ नहीं है, श्रद्धालु अवगृहीत का अनुध्यात ग्रन्थ है।** बाहर से निवृत्त दृष्टि-मति आन्तर अध्यात्म-संवाद में ही निविष्ट हो गई है, यद्यपि व्याख्या में विज्ञानादि बहिर्विद्या के साथ प्रसङ्गतः समझना-बूझना पड़ा है।

जपसूत्रम् परमात्मा की इच्छा से शेष हो चला है। ग्रन्थ ६ खण्डों में विशाल भी है अवश्य। किन्तु और भी सुविशाल नहीं हो सका, इसलिए इसमें भी Synthetic Philosophy का 'स्वप्न' पूर्णाङ्ग मूर्ति में फलित नहीं हो सका। सूत्र एवं कारिकावली में उस विराट् समन्वय का दिग्दर्शन-सूत्र सम्भवतः मिल गया, किन्तु अनवगाहित महारहस्यवारिधि इस के पुरोभाग में रह गया। ग्रन्थ की व्याख्या में वेद-तन्त्र-पुराणादि के तत्त्व और चर्या (theory and practice) दोनों के विषय में अनन्त अगाध रहस्य का कितना-सा अंश यहां खोल कर देखा जा सका है! प्रसङ्गतः सूत्र के प्रयोग एवं दृष्टान्त के कहने में यत्किञ्चित् ही हुआ है। वह काम तो encyclopeadic (विश्वकोषात्मक) है। भावी विधाता यथासमय उस काम को अपने सुयोग्य हाथ में ही देंगे।

'इस' अपने 'माध्यम' से उन्होंने जिस प्रकार जितना-सा करा लिया, उस के बारे में 'इस' के भीतर अतृप्ति या अप्रसाद का लेशमात्र भी उन्होंने नहीं रखा है। काम बहुत बाकी है, फिर भी 'यह' स्वयं चरितार्थ है।

जपसूत्रम के भाव और रचनाशैली में 'इस' की अपनी अध्यक्षता उन्होंने वैसी कुछ नहीं रखी है। फिर भी लगता है किसी-किसी मूल तत्त्व-सूत्र पर अतिविस्तृत व्याख्यान में उन शङ्कर-रामानुजादि प्राचीन आचार्यों की शिष्ट-समाहृत धारा का ही अनुसरण हुआ है। उस धारा का दर्शन वेदान्त में चतुःसूत्री पर, बृहदारण्यकादि में 'असदेव सौम्य' इत्यादि स्थलों पर होता है।

इस प्रकार के ग्रन्थ की दुरवगाहता स्वाभाविक ही है। मूल तत्त्वविद्या को 'तपसा मेधया' प्राप्त करना होता है, एवं 'तपसा' ही उस विद्या का अनुशीलन भी करना होता है। इन सबके मर्मग्राही और रसग्राही चिर-दिन ही मुष्टि-मेय रहे हैं और रहेंगे।

इति—

—प्रत्यगात्मानन्द

अन्तिम दो बात

(मूल षष्ठ खण्ड से उद्धृत)

जपसूत्रम् इस खण्ड में समाप्त हुआ। पूर्वखण्ड में थोड़ी सी 'आत्मकथा' थी। इस खण्ड में उसकी अनुवृत्ति करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ी। फिर भी एक बात फिर से स्मरण करा देना चाहता हूँ **'जपसूत्रम् श्रद्धालु अवगृहीत का अनुध्यात ग्रन्थ है'**। साधारण मगज का काम जिसे समझा जाता है, उसे प्रायः बन्द रख कर ग्रन्थ का जो मूल सूत्र और कारिकावली है, उसे प्राप्त करना पड़ा है। अर्थात् मगज को यथासम्भव 'वेकार' (निर्व्यापार) बना कर ऊर्ध्व-चेतना की अवतारणी धारा में उसे मिला देना पड़ा है। जैसे—एकान्त में लेखनी और पुस्तिका लेकर चुप होकर वैठ रहते समय सहसा एक-एक सूत्र और कारिका मानो कलम के मुख पर आते गये हैं। सूत्रों के सम्बन्ध में तो यह है ही; कारिकाओं में कभी-कभी कुछ-कुछ मगज का व्यापार भी हुआ है। पुस्तिका में marginal notes (पार्श्वटिप्पणियों) को देख कर ऐसा लगता है। बड़े छन्दों के श्लोकों को समय-समय पर सोच-विचार कर छन्द मिला कर ठीक बैठाने में भी कुछ काम करना पड़ा है। किन्तु यह सब मगज का मामूली काम है। काम का जो असली भाग है, वह मगज के जिम्मे या उसके हाथ में वैसा कुछ नहीं था। भाव, भाषा, शैली—ये सभी मानो एक 'आवेश' की भाँति ही आ गए हैं। मूल की देवभाषा स्वतः ही आ गई हैं, उन की कृपा भी मैंने अकृपणभाव से पाई है, और अंग्रेजी में बीच-बीच में कुछ बातें देने से व्याख्यान में सुविधा ही हुई ऐसा लगता है। अवश्य ही, साधारण मगज की ही बात हो रही थी। **'ददामि बुद्धियोगं ते'**—उस 'बुद्धियोग' की वात नहीं हो रही है। उस 'बुद्धियोग' का थोड़ा सा स्पर्श ही तो इस काम का मूल, इसकी प्रेरणा, इस का प्राण, सम्बल,—इस का सब कुछ है।

व्याख्या करते समय मगज को भी काफी चलाना पड़ा है। वह भी ठीक 'कारीगर' की भाँति नहीं, जुगाड़ करने वाले 'मजूरे' की भाँति। 'मजूरे' और ठेकेदार का काम भी आवश्यक है,, उस में मेहनत भी बहुत है; फिर भी कर्म का जो 'ध्यान' है, जो 'परिकल्पन' है, वह उसे नहीं करना होता। नियन्त्रण और निर्वाचनादि भी उसका नहीं होता। जो कर्माध्यक्ष हैं, वे जब तक स्वयं न चला दें, तब तक इस क्षेत्र में कुछ नहीं होता। सूत्रादि की व्याख्या में पग-पग पर यह समझना पड़ा है। अपने हाथ से लिखे सूत्र का या श्लोक का क्या गूढ़ भाव है, यह

उनके अपने प्रकाश में जब तक नहीं दिखाया गया है, तब तक देख नहीं पाया हूँ; इसीलिए व्याख्या के आरम्भ में अर्थ टटोलते समय भौंचक्का रह गया हूँ। बाद में उनके स्वयं समझा देने पर इस अनुगृहीत आधार में असीम विस्मय और तृप्ति प्रकाश और पुलक हुआ है।

केवल यही लगता रहा है कि शायद मेरे लिए ही यह सब कुछ तुम लिखा रहे हो ! तब और किसी के पढ़ने न पढ़ने की, समझने न समझने की बात ही मन में नहीं उठी। किन्तु इतना जानता था कि मैं तो केवल यह 'मैं' मात्र नहीं हूँ, वह 'प्रत्यगात्मन्' हूँ। सुषम, सुन्दर सभी आधारों में सत्य यथोपयोग खिल ही उठेगा। आज मेरे प्राणगोपालदा नहीं हैं, मन्मथदा भी नहीं हैं, फिर भी श्रीश्री सीतारामदास ओङ्कारनाथजी, श्रीगोपीनाथजी, अनिर्वाणजी जैसे दो चार जन हैं तो। श्रीमान् गोविन्द ही था मूल में उपलक्ष्य, और श्रीगुरु-कृपा की सहायता पा कर वह इसका व्याख्यान भी स्वच्छ-उज्ज्वल, सुन्दर रूप से सभी के लिए करता है। सभी को कितना अच्छा लगता है !

अन्त में श्रीगौराङ्ग प्रेस को भी इस बड़े काम को सौष्ठव से पूरा करने के लिए सर्वान्तःकरण से धन्यवाद देता हूँ।

—प्रत्यगात्मानन्द

भूमिका

(मूल तृतीयखण्ड से उद्धृत)

१

श्रीमत् स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती ने जपसूत्रम् नाम से एक उपादेय ग्रन्थ की रचना कर के जिज्ञासु साधक और विद्वत् समाज के समक्ष उसे प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ का मूल सूत्राकार में रचित है, सूत्रों पर सूत्र-व्याख्यारूप वार्त्तिक हैं,—ये कारिका के आकार में निबद्ध हैं। सूत्र और वार्त्तिक दोनों ही प्राञ्जल संस्कृत-भाषा में रचित हैं। आलोचित विषय का तात्पर्य-विवरण चिन्ताशील, तत्त्वान्वेषी पाठकों के बोधसौकर्य के लिये विशद रूप से विस्तारित भाव से बंगला भाषा में दिया गया है। इसे जपसूत्र का भाष्य समझ सकते हैं।

ब्रह्मसूत्र, शिवसूत्र, शक्तिसूत्र, स्वरसूत्र, कौलसूत्र, यज्ञसूत्र प्रभृति की भाँति जपसूत्र एक सूत्र-ग्रन्थ है। ग्रन्थ चार अध्यायों में एवं प्रति अध्याय चार पादों में विभक्त है। सूत्रसंख्या ५०० से अधिक एवं कारिकासंख्या उस से प्रायः चतुर्गुण है। इस महाग्रन्थ के दो खण्ड पहले ही प्रकाशित हो चुके हैं एवं सम्प्रति तृतीय खण्ड प्रकाशित हो रहा है। इन तीन खण्डों में प्रथम अध्याय के चार पादों के १२० सूत्रों की व्याख्या सम्पूर्ण हुई है, एवं द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद के आरम्भिक २२ सूत्र ही व्याख्यात हुए हैं। यदि इस प्रकार विस्तारित व्याख्या-प्रणाली का अनुसरण करके समग्र ग्रन्थ की आलोचना सम्भव हो सके तो वर्तमान आयतन के अनुरूप और भी नौ खण्डों का प्रकाशन आवश्यक होगा। अध्यात्मसाधन के विषय में केवल एक तत्त्व के सम्बन्ध में ऐसा विशाल और सूक्ष्म-विश्लेषण-पूर्ण ग्रन्थ पृथिवी के किसी देश के साहित्य में है, ऐसा ज्ञात नहीं है।

ग्रन्थकार गम्भीर चिन्ताशील दार्शनिक हैं, वैदिक और तान्त्रिक सिद्धान्त और साधन-पद्धति के मर्मज्ञ हैं, आधुनिक विविध विज्ञान और गणितशास्त्र के तत्त्ववित् हैं, प्राच्य और प्रतीच्य एवं प्राचीन और नवीन उभय-प्रकार की भावधारा के साथ सम्यक् परिचित हैं, तीक्ष्णदर्शी विश्लेषण-पटु एवं लिपिकुशल सुलेखक हैं;—सर्वोपरि वे स्वयं साधन-पथ के विचित्र अनुभव-सम्पन्न चरणशील पथिक हैं। उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह शास्त्रमूलक एवं महाजनगणों के अनुभव और सद्युक्ति द्वारा समर्थित है। सुतरां उनके ग्रन्थ का एक अनन्य-साधारण महत्त्व है।

जपसाधना अध्यात्म-साधनविज्ञान में सुपरिचित साधना होने पर भी उस का निगूढ़ रहस्य जनसाधारण के लिए दुर्भेद्य प्रहेलिका-मात्र है। वैदिक, पौराणिक, स्मार्त्त, तान्त्रिक, बौद्ध, जैन प्रभृति सभी साधनाओं में जप का महत्त्व और आवश्यकता मुक्तकण्ठ से घोषित हुई है। सूफी साधक और फकीरों में एवं ईसाई कैथोलिक सम्प्रदाय के भक्तों में जप की प्रथा अति प्राचीन काल से प्रचलित है। योगियों ने जप की महिमा का कीर्त्तन किया है—वे कहते हैं कि यह क्रियायोग के अन्तर्गत स्वाध्याय का ही प्रकार विशेष मात्र है। सम्यक् भाव से यथाविधि अनुष्ठान होने पर इस के फलस्वरूप परमात्मा का प्रकाश और इष्टदेवता का साक्षात्कार होता है, अन्यान्य बहुत से आनुषङ्गिक फलों का उदय होता है। जिस नादानुसन्धान की महिमा हठयोगी, राजयोगी, मन्त्रयोगी और लययोगी समभाव से घोषित करते हैं, उसे जप की ही एक विशिष्ट अवस्था का नामान्तर कहा जा सकता है। प्राचीन शाब्दिक गण इसे 'वाग्योग' कह कर इसका वर्णन करते थे एवं 'इयं हि मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः' अर्थात् मुमुक्षु मन के लिये यही सरल राजमार्ग होने के कारण वे लोग इस की सर्वोपयोगिता स्वीकार करते थे। मध्ययुग के सन्तगण 'सुरतशब्दयोग' नामक जिस योगपन्थ का अनुसरण करते थे, वह वाग्योग का ही प्रकार-भेद मात्र है। योग की कठिन प्रक्रिया, यज्ञ का जटिल विधान, ज्ञानमार्ग की विचारबहुल गम्भीर भावना एवं भावभक्ति का रसमय उल्लास,—सब साधकों के लिये सुलभ नहीं है। जप सभी के लिए अल्पायास-साध्य है। अथच ठीक भाव से यदि उसे किया जा सके तो उससे कर्म, ज्ञान, भक्ति, योग प्रभृति सभी साधनाओं का फल-लाभ सहज हो जाता है। केवल उतना ही नहीं, सविशेष भाव से पूर्णता एवं समस्त विषयों का उपशम अर्थात् ब्रह्म का महान् और परम रूप नादाश्रय से जपजापक के लिए जितना सुगम होता है, अन्य साधक के लिए उतना नहीं।

ग्रन्थकार को ग्रन्थ में प्रस्तुत विषय के स्पष्टीकरण के लिए आनुषङ्गिक भाव से अनेक तत्त्वों की आलोचना करनी पड़ी है। मन्त्र, यन्त्र एवं तन्त्र किसे कहते हैं, मन्त्र-जपरूपा क्रिया की निष्पत्ति किस प्रकार होनी चाहिये, इस का चरम लक्ष्य क्या है, ध्वनि (नाद), संख्या और भाव का अर्थ क्या है? अर्थात् वाक्, प्राण और मन का अथवा अग्नि, सूर्य और चन्द्र का स्वरूप और प्रकारभेद क्या है? जप का अन्तराय क्या है? अन्तराय निवृत्ति का उपाय क्या है? इस प्रकार के बहुत से प्रश्नों का समाधान ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में मिलता है। द्वितीय और तृतीय खण्ड में सप्त व्याहृति-रहस्य और महामाया-तत्त्व अनेक प्रासङ्गिक विषयों के साथ विस्तार पूर्वक आलोचित हुआ है। इस आलोचना की तुलना नहीं है। चित्‌शक्ति केवल चिन्मात्र या प्रकाश-मात्र नहीं है, वह चित् द्वारा स्वयं का विशेष-भाव से ईक्षण

का सामर्थ्य है। दोनों (चित् और चित्शक्ति) ही स्वरूपतः एक हैं, फिर भी दोनों में वैलक्षण्य है। इस वैलक्षण्य को स्वीकार करके ही दोनों की अद्वयता स्वीकार्य है। विमर्शहीन प्रकाश प्रकाशमान न होने के कारण ही अप्रकाश वा असत्कल्प है, किन्तु प्रकाश तो विमर्शहीन नहीं होता। इसीलिए प्रकाश की स्वप्रकाशता और सद्भाव अक्षुण्ण ही रहता है। सत् और असत् का विरुद्ध-भाव विकल्पमात्र है—निर्विकल्प अद्वय ही तत्त्वातीत परम तत्त्व है। ग्रन्थकार ने आगम और उपनिषदों के सारांश को अपनी अपूर्व युक्ति और विवेचन-सरणि द्वारा ऐसे मनोज्ञ रूप में सुकौशल से स्थापित किया है जो मन्दबुद्धि पाठकों को भी बोधगम्य हुए विना नहीं रह सकता। हाँ, आन्तरिकता और मनोनिवेश आवश्यक है।

और दो एक बातें कह देना उचित लगता है। वर्ण-मातृका के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा न होने पर प्राण के स्पन्दन का तत्त्वनिर्णय नहीं किया जाता। इसीलिए तन्त्रशास्त्र में मातृका का विवेचन किया गया है। प्राचीनकाल के किसी-किसी मूल आगम ग्रन्थ में वर्णमाला का विचार देखने को मिलता है। अभिनवगुप्त, स्वतन्त्रानन्दनाथ प्रभृति ने भी इस विषय में अपने-अपने दृष्टिकोण से आलोचना की है। वर्त्तमान समय में भी किसी-किसी महात्मा ने न्यूनाधिक आलोचना की है। इस विषय में जपसूत्रकार ने असाधारण अन्तर्दृष्टि और समन्वय-शक्ति का परिचय दिया है। आशा है भविष्य में इस ग्रन्थ की विस्तृत समालोचना करते समय कोई मनीषी तुलना-मूलक रीति से प्राचीन भारत के वर्ण-विज्ञान का रहस्य उद्घाटित करने का यत्न करेंगे। शैव, शाक्त वैष्णव, बौद्ध और जैन आगमों में सर्वत्र ही इस विषय में बहुत से तथ्य मिल सकते हैं।

(२)

शास्त्र में कहा है—शब्दब्रह्म में निष्णात होने पर परब्रह्म की उपलब्धि होती है। शब्दातीत परमपद का साक्षात्कार करना हो तो शब्द का आश्रय लेकर ही शब्दराज्य का भेद करना होता है। समग्र विश्व शब्द से उद्भूत एवं शब्द में ही विधृत है। **'शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी''—'वागेव विश्व भुवनानि जज्ञे, वाच इत् सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्'**—इत्यादि शास्त्र-बचनों से ज्ञात होता है कि शब्द ही जगत्-सृष्टि का मूल है। सृष्टि के बाहर जाना हो तो शब्द ही एकमात्र आलम्बन है। इसीलिए जप-साधना में शब्द को पकड़ कर ही शब्दातीत परमब्रह्म पद में जाने का उपदेश है।

वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा भेद से चतुर्धा वाक् की बात शास्त्र में मिलती है। वैखरी वाक् शब्द के निम्नतम स्तर के रूप में प्रसिद्ध है। इसे पकड़ कर क्रमशः परा वाक् तक चढ़ना एवं बाद में उसका भी अतिक्रम करना आवश्यक है। वैखरी इन्द्रियगोचर समग्र स्थूल विश्व में और स्थूल देहों में अनन्त प्रकार से

उस-उस स्थान के अनुसार काम कर रही है। 'वैखरी विश्वविग्रहा'। इसका अतिक्रम न कर सकने पर मनुष्य स्थायी रूप से वहिर्मुख वृत्ति का परिहार करके आन्तर वृत्ति का आश्रय प्राप्त नहीं कर सकता।

आत्मा स्वरूपतः पूर्ण प्रकाशात्मक परमेश्वर-रूप, स्वतन्त्र और भोक्ता होने पर भी, स्वेच्छापूर्वक जीवभाव ग्रहण करने के साथ-साथ ही अपना स्वातन्त्र्य और भोक्तृभाव देता है। आत्मा में अखिल सृष्टि का अभेद से समन्वय है, इसीलिए आत्मा का पूर्ण अहंभाव स्वभावसिद्ध है। 'अ' से 'ह' तक समस्त वर्ण या कला का एक दूसरे के साथ और आत्मा के साथ अभिन्न रूप से, अखण्ड भाव से स्फुरित होना ही आत्मा की पूर्णाहन्ता है। इसी का नामान्तर चैतन्य-विमर्श, स्वातन्त्र्य किंवा ऐश्वर्य है। रूप तो इन सब अकारादि वर्णों के वाच्य अनुत्तरादिविमर्श आत्मा के निज विमर्श के ही स्वरूपभूत है। अखण्ड स्थिति में ये सब एक और अभिन्न से ही प्रकाशित होते हैं, किन्तु आत्मा के स्वेच्छा-पूर्वक सृष्ट्युन्मुख होने पर उसके स्वरूपाश्रित निजामर्श के लेश-रूप में अनुत्तरादि-वाचक पूर्वोक्त अकारादि वर्ण उद्भावित होते हैं। अद्वैत स्थिति में जो कलायें अभिन्न भाव से आन्तरशब्द किंवा स्वभाव के रूप में विद्यमान रहती हैं, वे स्वरूप में अक्षुण्ण रहकर भी सृष्टि की उन्मेष-दशा में मानो अंशतः विभक्त रूप से क्रमशः ब्राह्मी प्रभृति अष्ट वर्ग-शक्तियों और 'अ' 'आ' प्रभृति पंचाशत् रुद्रशक्तियों के रूप में अवतीर्ण होती हैं, बाद में इन शक्तियों से पद-वाक्य-समूह के रूप में असंख्य क्षुद्र शक्तियाँ आविर्भूत होती हैं। अकारादि वर्ण आत्मा के निजविमर्श-स्वरूप और अभिन्न होने पर भी अज्ञान-अवस्था में निज आत्मा से भिन्न रूप में प्रतीत होते हैं, इसीलिए उन्हें कला या अंश नाम दिया जाता है। यही मातृकाशक्ति हैं। इनके द्वारा आत्मा का स्वीय ऐश्वर्य वा विभव (आचार्य शङ्कर ने दक्षिणामूर्त्ति-स्तोत्र में महाविभूति कह कर जिसका उल्लेख किया है) विलुप्तप्राय हो जाता है। कला आत्मस्वरूप से उद्भूत होकर आत्मा के ऐक्यभाव को ढक रखती है। अब शिवरूपी आत्मा जीव किंवा पशुरूप में आविर्भूत होते हैं। यही उनका स्वरूपसङ्कोच या अणुभाव-प्राप्ति है। यह अणुरूपी प्रमाता तब पूर्ववर्णित अष्टवर्गीय ब्राह्मी आदि शक्ति, अकारादि रुद्रशक्ति और तदुत्थ पद-वाक्य-आदि-युक्त असंख्य क्षुद्र शक्तियों का क्रीडनक बन जाता है। मातृकायें अणु-जीव के प्रत्येक संवेदन में ही अन्तःपरामर्शन द्वारा स्थूल-सूक्ष्म शब्दानुवेध करती हैं, और वर्ग-वर्गी प्रभृति देवतागण के अधिष्ठान के द्वारा चित्त में काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि भाव या वृत्तियों को उद्भावित करती हैं। इस प्रकार आत्मा का असंकुचित स्वातन्त्र्यमय चिद्घन रूप आच्छन्न हो जाता है, और देहात्मभाव, पारतन्त्र्य और पाशबन्धन का सूत्रपात होता है। मातृका का लयविक्षेपकारक प्रभाव वैखरी वाक् में अत्यन्त स्फुट है। चिदुन्मेष के अभाव के कारण साधारण मनुष्य वैखरी भूमि में आबद्ध

रहता है। इसका लङ्घन करके मध्यमा में प्रवेश नहीं कर सकता। वैखरी वाक् का कार्यक्षेत्र स्थूल होने पर भी उसका प्रभाव अशुद्ध मनोमय स्तर, सूक्ष्मभूत और लिङ्ग-शरीर में भी लक्षित होता है। काल के आवर्त्तन में पर्यायक्रम से स्थूल और सूक्ष्म-भाव का उदय-अस्त हुआ करता है। एक बार स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति होती है, पुनः सूक्ष्म से स्थूल में प्रत्यागमन होता है, तदनन्तर स्थूल से पुनः सूक्ष्म की ओर गति होती है, पुनः सूक्ष्म से स्थूल में प्रत्यागमन होता है, तदनन्तर स्थूल से पुनः सूक्ष्म की ओर धारा बहने लगती है। इस प्रकार निरन्तर स्थूल और सूक्ष्म का आवर्त्तन हुआ करता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुपुप्ति का आवर्त्तन इस महा-आवर्त्तन का ही एकदेश-मात्र है। गति का यह आवर्त्तन-भाव वैखरी-भूमि का वैशिष्ट्य है। मलिन वासना-वशात् गति की वक्रता सम्पन्न होती है, इसलिये निम्नभूमि में आवर्त्तन स्वाभाविक है। इससे अव्याहृति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है, गुप्तमार्ग का अवलम्बन लेकर सरलगति की सहायता से ऊर्ध्वदिशा में क्रमिक आरोहण। मध्यमा के क्षेत्र से ही इसका प्रारम्भ होता है।

मध्यमा भूमि को मन्त्रमयी भूमि कहा जाता है, क्योंकि मन्त्ररूप में ही मध्यमा वाक् आत्मप्रकाश किया करती है। मन का शोधन और उसके फल से विज्ञान के द्वार के उन्मोचन का सामर्थ्यलाभ क्रमशः इस स्थान में ही हुआ करता है। मनुष्य-कण्ठ से वैखरी वाक् उत्थित होती है—उसके मूल में मानसिक चिन्ता (चेतन और अवचेतन उभय क्षेत्रों में) और मनोगत भाव या अर्थ जड़ित रहता है। योगी-गण जिस, शब्द अर्थ और ज्ञान के साङ्कर्य की बात कहा करते हैं, उसे इस वैखरी भूमि के शब्द को लक्ष्य करके ही समझना होगा। स्मृति परिशुद्धि के द्वारा साङ्कर्य का परिहार वैखरी भूमि से मध्यमा भूमि में प्रवेश का आनुषङ्गिक रूपमात्र है। वाक् के साथ प्राण-शक्ति एवं मन शक्ति अविनाभूत भाव से विद्यमान हैं। प्राणसूत्र से पृथिवी आदि पाँच महाभूतों का भी सम्बन्ध है। उसके अलावा चित् का सम्बन्ध तो है ही, किन्तु वैखरी के स्तर पर यह चिदंश आच्छन्नप्राय रहता है। इसका आभास साधारणतः नहीं मिलता, इसीलिये तब यह (चिदंश) रहकर भी न रहने के समान होता है। इसलिये इस भूमि में मनोमय, और अन्नमय, प्राणमय, इन तीन निम्नवर्ती कोषों की ओर आकर्षित होता रहता है। मन और प्राण के क्रियासमन्वित स्थूलदेह के प्रति आकर्षण इसी का नामान्तर है। इसीलिए इस भूमि में देहात्मबोध प्रबल रहता है। विषय के प्रति आसक्ति की तीव्रता के कारण वैराग्य, विवेक प्रभृति सुकुमार भाव अभिभूत रहते हैं। मध्यमा के क्षेत्र में नादमय चिद्रश्मियाँ नित्य विराजमान हैं। ये रश्मियाँ स्वरूपतः वैखरी भूमि में दृष्टिगोचर नहीं होतीं। वैखरी में जब ये अवतीर्ण होती हैं, तब नाना प्रकार के वर्ण और इन्द्रियगोचर उज्ज्वल आलोक के रूप में प्रतिभासमान होती हैं। उसके साथ चिदनुसन्धान नहीं रहता।

इसलिये सूक्ष्मतम चैतन्य का मिश्र अनुभव वैखरी से उत्तीर्ण होकर मध्यमा में पहुँचे बिना नहीं मिलता।

इसीलिये जिस किसी उपाय से वैखरी से मध्यमा भूमि में उत्थान नितान्त आवश्यक है। इस उत्थान-व्यापार में एक ओर गुरुशक्ति और दूसरी ओर स्वकीय प्रयत्न अपरिहार्य है। इस क्रमिक विकास के कार्य में जप-साधन अत्यन्त सहायक है। ईश्वर-प्रणिधान या भजन, निष्काम कर्मयोग और भौतिक देह और चित्त का संस्कार-मूलक आत्मशोधन इस उत्थान कार्य में यथासम्भव सहायता करता है। साधक की दृष्टि इस भूमि में ही प्रत्यावर्त्तित होकर अन्तर्मुखी होना आरम्भ करती है। वैखरी भूमि में लक्ष्य रहता है बाहर की ओर और नीचे की ओर—अर्थात् मूलाधार की ओर, किन्तु मध्यमा भूमि में यह लक्ष्य परिवर्त्तित हो जाता है—तब लक्ष्य बाहर तक नीचे न जा कर अन्दर या ऊपर की ओर आकृष्ट होता है। मूलाधार के बदले सहस्रार या गुरुधाम की ओर अथवा अखण्ड नित्य सत्ता की ओर लक्ष्य स्थापित होता है। विषयासक्ति-वर्जित चित्त तब शुद्ध होता है। भावना आदि अन्याय उपायों से भी मध्यमा भूमि में उत्थान हो सकता है, किन्तु जप-साधना का सौकर्य अन्याय साधना से अधिक है। 'मध्यमा' शब्द का अर्थ है जो दो प्रान्तों के मध्यवर्त्ती है। एक प्रान्त में दिव्य पश्यन्ती वाक् एवं अपर प्रान्त में पाशव वैखरी वाक्, इन दोनों के बीच संयोजक सेतु-स्वरुप मध्यमा वाक् क्रियाशील है। इसीलिए पशुभाव से दिव्यभान में आने के लिये इस मध्य पथ रूपी सेतु का अवलम्बन लेना आवश्यक है।

पहले ही कहा गया है, वैखरी वाक् या लौकिक शब्द में चैतन्य की रश्मि प्रच्छन्न रहती है, किन्तु मध्यमा वाक् में वह प्रच्छन्न नहीं, अपितु प्रस्फुट है। ये सब रश्मियाँ नादरूपी सूत्र का अवलम्बन लेकर अनन्त आकाश में व्याप्त हैं, इसीलिए मूलतः सब कुछ बीजात्मक है, एवं बीज बिन्दुरूपी केन्द्र में नित्य अवस्थित है। वैखरी वाक् जिस प्रकार व्यक्त है, मध्यमा को उस प्रकार व्यक्त नहीं कहा जा सकता, किन्तु व्यक्तता मध्यमा में है—साथ-साथ अव्यक्तता भी है। इसीलिये अर्थात् मध्यवर्ती होने से मध्यमा को व्यक्त एवं अव्यक्त, उभयात्मक कहा जाता है।

मन्त्र चिद्रश्मिमय है। वैखरी भूमि में चिद्भाव गुप्त होने से एवं वाक् असंस्कृत होने से वैखरी वर्ण को मन्त्रमय नहीं माना जाता, किन्तु स्वरूपतः उसकी मन्त्रात्मिकता न रहने पर भी मन्त्रमय चिद्रश्मि का वाचक होने के कारण वैखरी वर्ण से उद्भूत समस्त स्थूल विद्या को भी 'मन्त्र' आख्या दी जाती है। मीमांसकों का मन्त्रात्मक देवतावाद इस प्रसङ्ग में स्मरणीय है—**'मन्त्राश्चिन्मरीचयः तद्वाचकत्वाद् वैखरीवर्णविलासभूतानां विद्यानां मननात् त्राणता।'**

मध्यमा के उस पार पश्यन्ती या दिव्य वाक् है। यह एक प्रकार से अव्यक्ता है। इस वाक् से निखिल देवता प्रकाशित होते हैं—ये सब देवता सर्वज्ञ हैं एवं समग्र विश्व के कार्य में अपने-अपने अधिकार के अनुसार व्यापृत हैं। केवल देवता का प्रकाश पश्यन्ती वाक् का कार्य नहीं है—विष्णु का परमपद भी पश्यन्ती भूमि से ही दृष्टिगोचर होता है। सूरिगण जिस परमपद का निरन्तर दर्शन करते हैं, उसे यही भूमि ही जानना होगा। वस्तुतः पश्यन्ती वाक् में ही कारणस्थ चैतन्य की स्फूर्ति होती है—यही देवता का स्वरूप है। प्राचीन काल में मन्त्र-साक्षात्कार के फल से जो ऋषित्व-लाभ होता था, वह इस पश्यन्ती भूमि की प्राप्ति का ही फल है। यही आत्मा की 'अमृत कला' है—**"विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्।"** पश्यन्ती का स्वरूपदर्शन होने पर अधिकार-निवृत्ति होती है—**'तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्त्तते।'** एक हिसाब से देखने पर पश्यन्ती के परे वाक् की और कोई उच्चतर अवस्था कल्पनीय नहीं होती। इसीलिये प्राचीन आचार्यों में से बहुतों ने वाक् को त्रिविध (त्रयी वाक्) कह कर ही उसका वर्णन किया है, किन्तु फिर भी पश्यन्ती की भी एक परा अवस्था है, ऐसा स्वीकार करना होगा। इसीलिये कोई-कोई नाम से परावाक् को स्वीकार न करते हुए भी कार्यतः **'त्रय्या वाचः परं पदम्'** कह कर प्रकारान्तर से उसे स्वीकार करने को बाध्य हुए हैं।

यह परावाक् चिन्मय और परम अव्यक्त है। इस भूमि में व्यष्टि देवता का प्रकाश नहीं है। समष्टि देवता या ईश्वर-चैतन्य में समस्त वाक् परिसमाप्त हो जाती है। यह वाक् सृष्टि के ऊर्ध्वतम शिखर से निम्नतम भूमि पर्यन्त समरूप से व्याप्त है। यह ऊर्ध्व सहस्रार की सर्वोच्च अग्रभूमि में उपस्थित होकर मूलाधार पर्यन्त व्याप्त है; जैसे यह कहा जा सकता है, वैसे ही यह भी कहा जा सकता है कि यह मूलाधार के निम्नस्थित महाकारण-समुद्र में प्रकाशमान 'अधःसहस्रार' से उत्थित होकर 'ऊर्ध्व सहस्रार' के द्वादश दल में वाग्भव कूट पर्यन्त व्याप्त है। कोई-कोई ऐसा कहा भी करते हैं। वास्तव में ऊर्ध्व सहस्रार के ही भिन्न-भिन्न स्तरों से इस वाक् का उद्भव है—उनमें से एक का (मध्यमा का) विस्तार नीचे की ओर हृदय-पर्यन्त है, द्वितीय का (पश्यन्ती का) नाभि या उसके किंचित् निम्न देश-पर्यन्त, एवं तृतीय (परा) का मूलाधार-पर्यन्त है। अध-ऊर्ध्व सर्वदेशव्यापी सत् रूप चैतन्य ही परा वाक् का तात्पर्य है। इसी का नाम नित्य अक्षर है।

इस अवस्था के बाद फिर शब्द की गति नहीं है। मध्यमा वाक् से इस अक्षर-ब्रह्म पर्यन्त की योगी की गति शब्दब्रह्म के अन्तर्गत है। अक्षर ब्रह्म का भेद होते ही परब्रह्म का द्वार खुल जाता है। परब्रह्म शब्दातीत हैं। इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा है **'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।'**

जहाँ तक शब्द का विकास है, वहीं तक आकाश कल्पित होता है। जो नित्य, अक्षर अथवा सत् है, उसी का नाम है परमाकाश, जिसे विभिन्न प्रस्थानों में एवं वैदिक मन्त्रादि में भी 'परम व्योम' कहकर निर्दिष्ट किया गया है। जो शब्दातीत अवस्था है, वहाँ आकाश नहीं है, वहाँ शक्ति और शिव दोनों तत्त्व अविभाज्य युग्म के रूप में विराजते हैं। युगलभाव, यामलभाव अथवा युगनद्धभाव शिव-शक्ति के इस अविनाभाव की ही सूचना देते हैं। समना और उन्मना शक्ति दोनों ही ब्रह्मशक्ति हैं। समना शक्ति तत्त्व का आश्रय लेकर परब्रह्म की इच्छा के अनुसार सृष्टि का विस्तार करती है, एवं उन्मना शिवतत्त्व का आश्रय लेकर परब्रह्म के विमर्शहीन विश्वातीत रूप की ओर उन्मुख रहती है। शिव-शक्ति अभिन्न होने के कारण किसी को भी छोड़कर कोई नहीं रह सकता। इसके बाद फिर तत्त्व नहीं है। वहीं पर तत्त्वातीत अद्वैत स्थिति है।

इस अद्वैत के बीच भी दो दिशाओं का सन्धान मिलता है—एक अखण्ड सच्चिदानन्द की दिशा है, जो विश्वातीत होने पर भी सूक्ष्मतम ध्यानगम्य होने से आरोपदृष्टि से कथञ्चित् वर्णनीय है, और दूसरी दिशा सब प्रकार से निर्विकल्प है, एवं ध्यानसमाधि के अगोचर है। प्रथमावस्था में स्व-शक्ति परिस्फुट है, द्वितीयावस्था में वह अस्फुट या अव्यक्त है, किन्तु वह नहीं है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः ये दोनों दिशायें भी अभिन्न हैं। वहाँ निष्कल और सकल में भी भेदकल्पना का अवकाश नहीं रहता। यही परमाद्वैत का रहस्य है। एक ही अखण्ड स्वरूप में विश्व और विश्वातीत, 'अमात्र' और 'अनन्तमात्र' (माण्डूक्य-कारिका १।२९), निष्कल और सकल, 'निष्क्रिय' और 'अनन्तक्रिय' अक्षर और क्षर, स्वयंप्रकाश अद्वय रूप में विराजमान है। वहाँ काल कालातीत के साथ एक होकर प्रकाशित होता है।

(३)

परम पद में प्रविष्ट होकर स्वभाव की धारा प्राप्त करने के लिए जप अन्यतम श्रेष्ठ उपाय है, जप के नाना प्रकारभेद हैं, उनमें से बाह्य और आभ्यन्तर, ये दो प्रधान हैं। जिसे शास्त्र में वैखरी जप कह कर निर्दिष्ट किया गया है, वही बाह्य जप है, यह प्रारम्भिक क्रिया है। आन्तर जप इसकी अपेक्षा श्रेष्ठ और सूक्ष्म है; बाह्य पूजा की अपेक्षा जैसे आन्तर पूजा श्रेष्ठ है, वैसे ही बाह्य जप की अपेक्षा आन्तर जप श्रेष्ठ है। विधिपूर्वक नाना प्रकार के वर्णों का उच्चारण ही बाह्य जप का लक्षण है। इसे आचार्यों ने विकल्पात्मक संजल्प कहकर उल्लिखित किया है। जो परम पथ और परम पद के अभिलाषी हैं, उनके लिए क्रमशः बाह्य जप से विमुख होकर आन्तर जप में निविष्ट होना आवश्यक है।

प्रथम आरम्भ वैखरी से ही हुआ करता है । कर्तृत्वाभिमान लेकर ही संकल्पपूर्वक कर्म में प्रवृत्त होना पड़ता है । कण्ठ जप ही वैखरी जप का स्थूल लक्षण है । वाचिक, उपांशु और मानसिक—ये तीनों प्रकार के जप वैखरी के अनान्तर भेद हैं । इन तीनों भेदों में 'जप करना' यह भाव रहता है । मानस कर्म भी जिस प्रकार कर्म है, उसी प्रकार मानस जप भी वस्तुतः वैखरी जप के सिवाय और कुछ नहीं है । मानस जप के मूल में भी कर्ता के रूप में अहंभाव अक्षुण्ण रहता है । अर्थात् 'मैं जप कर रहा हूँ' यह भाव स्फुट अथवा अस्फुट भाव से विद्यमान रहता है । इसके बाद धीरे-धीरे अवस्थान्तर का उदय होता है । तब कण्ठ-रोध हो जाता है । प्रयत्न द्वारा जप करना फिर नहीं चल सकता । कर्मकारिणी नाड़ियाँ कियदंश में स्तब्ध हो जाती हैं, तब जप अपने-आप भीतर-भीतर चलता रहता है । इसका नाम है 'जप होना' । यह स्वभाव का जप है । इसके तीन भेद हैं । पहले हृदय में जप होता है, उसके बाद द्वितीयावस्था में नाभि से होता है एवं अन्त में मूलाधार में हुआ करता है । हृदय-जप को ही मध्यमामार्ग में प्रवेश समझना होगा । उस अवस्था में नाद अपने-आप चलता है । मध्यमा में प्रवेश न होने तक केवल बाह्य जप में नाद श्रुति नहीं होती । बाह्यजप में मन्त्राक्षरों का पृथक्-पृथक् उच्चारण रहता है, इसलिए वह विकल्पमय है । अतएव वह प्रकृत मन्त्र नहीं है । मध्यमा भूमि में जब नाद के साथ मन्त्र स्वभावतः ध्वनित हो उठता है, तभी उसे आन्तर जप समझना होगा । अपने-अपने विषय में इन्द्रियों का संचार निरुद्ध करके आभ्यन्तर नाद का उच्चारण करना होता है ।

संयम्येन्द्रियग्रामं प्रोच्चरेन्नादमान्तरम् ।
एष एव जपः प्रोक्तो न तु बाह्यजपो जपः ॥

परम भाव की ओर जो पुनः-पुनः भावना है, वही आन्तर जप है—नाद की प्रकटावस्था है ।

हृदयकमल के बीच जो आकाश दिखाई देता है, जिसे उपनिषद् में हृदयाकाश कह कर वर्णन किया है, उसमें अर्थात्—उस अनाहत प्रदेश में सर्वदा ही भगवती का आनन्दमय स्वरूप नादरूप में परिणत होकर चारो ओर संसर्पित होता रहता है । हमारा मन साधारणतः बहिर्मुख रहता है, इसलिए इस नाद का सन्धान नहीं मिलता । किन्तु जब गुरु-कृपा से मन अन्तर्मुख होता है, तब परिस्फुट भाव से इसका परिचय प्राप्त होता है । अब भाव से नेत्रों में अश्रु का उद्गम होता है । समस्त शरीर में पुलक व रोमांच का संचार होता है । अन्याय सात्त्विक भावों का आविर्भाव होता है ।

शुद्ध विद्याभूमि में स्थित विद्येश्वर-रूपी श्रीगुरु के मुख से निःसृत वाणी मध्यमा वाक् के रूप में आत्मप्रकाश करती है । सहस्रदलकमल के दल से हृदय पर्यन्त

इस वाणी का विस्तार अनुभूत हुआ करता है। इस वाणी के प्रभाव से माया का आवरण क्रमशः उन्मुक्त होता रहता है और साधक का अपना स्वरूप सद्विद्यायुक्त होकर पुरुष और प्रकृति को एक अभिन्न ज्ञान के अन्तर्गत समझता है। नव नादों में से इसे प्रथम नाद समझना होगा।

विषय को और भी स्पष्ट करके उसकी आलोचना करने का यत्न करता हूँ। महर्षि पतञ्जलि के निर्देशानुसार मन्त्र जप के साथ मन्त्रार्थ को भावना आवश्यक है। भावना और जप परस्पर अच्छेद्य सम्बन्ध से जड़ित हैं। आगम के रहस्यविद् कहते हैं कि जप के साथ मन्त्र के अवयवसमूह में छः शून्य, पाँच अवस्था और सात विषुव की भावना करनी पड़ती है। छः शून्यों में से पाँच का वर्णवैचित्र्यमय अपना-अपना पृथक् मण्डलाकार रूप है, किन्तु षष्ठ अनुत्तर वा महाशून्य है। प्रथम पाँच शून्यों को ठीक निराकार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मन का स्पन्दन जब तक रहता है, तब तक किसी न किसी प्रकार अतिसूक्ष्म आकार का संभव रह ही जाता है। षष्ठ शून्य मन के अतीत है, इसलिए वास्तव में वह निराकार, महाशून्य है। प्रणव अथवा बीजमन्त्र के प्रथम तीन अवयव जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के द्योतक हैं। उस के बाद जो सूक्ष्मतर अवयव हैं, उनमें से सभी वस्तुतः तुरीय और तुरीयातीत अवस्था के ही अन्तर्गत हैं। उन सब अवयवों के नाम इस प्रकार हैं—'बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना। प्रथम तीन अवयवों के साथ ये नौ सम्मिलित होकर द्वादश अवयव बन जाते हैं। इसमें से हर दूसरे अवयव की शून्य रूप से भावना करनी होती है। इसका बहुत गहरा रहस्य है, किन्तु यहाँ उसकी आलोचना अनावश्यक है। इस प्रकार द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम और द्वादश ये छः अवयव शून्य पद वाच्य हैं; उनमें से प्रथम पाँच अवान्तर शून्य हैं, षष्ठ महाशून्य है। पाँच निम्नवर्ती शून्यों के बीच एक क्रम-विकास और क्रम लय का भाव अनुभव में आता है, जिसे साधनमार्ग में प्रविष्ट व्यक्तिमात्र गुरुकृपा से समझ सकते हैं।

जिस अवस्था में दश इन्द्रियों द्वारा जागतिक व्यापार निष्पन्न होता है, उसे जाग्रत् अवस्था कहते हैं। वस्तुतः प्रकाश इसका कारण है। इसलिये प्रकाश की ही जाग्रत् रूप में भावना करने का विधान है। जिस अवस्था में चतुर्विध अन्तःकरण द्वारा व्यवहार निष्पन्न होता है, उसका नाम है स्वप्नावस्था। स्वप्न में विद्यमान अन्तःकरण वृत्ति का लय होने पर समस्त इन्द्रियों की उपशम रूपा जिस अवस्था का उदय होता है, उस का नाम सुषुप्ति है। सुषुप्ति भावना का स्थान भ्रूमध्य स्थित बिन्दु में है। यह बिन्दु हृल्लेखा का ऊर्ध्व-बिन्दु है, ऐसा समझना होगा। स्वात्मचैतन्य की अभिव्यक्ति के लिए नाद का आविर्भाव ही तुरीय का स्वरूप है। अर्धचन्द्र, रोधिन

ओर नाद—इन तीन मन्त्रावयवों में इसकी भावना करना उचित है। तुरीयातीत अवस्था परमानन्दस्वरूप है। यह मन और वाक् के अतीत है; फिर भी मन और वाक् का आभास देहावस्थान काल में अधिकार के अनुसार किसी-किसी को रह ही जाता है। नादान्त से शक्ति, व्यापिनी, समना, उन्मना-पर्यन्त तुरीयातीत अवस्था व्याप्त है। उन्मना के बाद और कोई अवस्था नहीं है।

मात्राहीन वा अमात्र शिवस्वरूप आत्मा से चित्कला का आभास बिन्दु या विशुद्ध सत्त्वरूप दर्पण में गिरकर उसमें स्थित स्थिरीकृत मात्रा पर आघात करता है। मात्रा के इस आभास को धारण कर पाने पर वह साधक या योगी की योगानुभूति की भूमि के रूप में परिगणित होती है। अर्द्धमात्रा का सन्धिस्थान अत्यन्त गुह्य है। स्थूल विश्व की अनुभूति मन की जिस मात्रा में होती है उसे एकमात्रा माना जाता है। स्थूल लौकिक अनुभूति का आरम्भ इस एकमात्रा में है–मात्रा का आधिक्य जाड्यबुद्धि के कारण है। मन का समस्त क्षेत्र चेतना वा बोधमय नहीं है, उसमें अवचेतन अंश भी है। हमारी स्मृति में जो नाम या शब्दराशि संचित है, वह हमारे अनुभव का ही परिणाम है। यह अनुभव स्थल-विशेष में मन की एकाग्रता (कम से कम आंशिक) के फलस्वरूप उदित होता है। इसलिए इस शब्द का स्मरण करने के साथ-साथ शब्द का अर्थ या रूप चित्तक्षेत्र में जाग उठता है। वाचक के स्मरण से वाच्य की स्फूर्त्ति हुआ करती है। साधक का कर्त्तव्य, साधना का उद्देश्य है—अपने मन को एकाग्र करना, केन्द्र में स्थापित करना अर्थात् एक मात्रा में अवस्थित रखना। समाधि-प्रभृति के अभ्यास का प्रकृत उद्देश्य भी यही है। साधारणतः मन एक मात्रा में नहीं रहता। विक्षिप्त और क्षिप्तावस्था में चञ्चलता के फलस्वरूप मात्रा का बाहुल्य हो जाया करता है। मूढ़ावस्था की आलोचना की यहाँ आवश्यकता नहीं है। मन उत्थित होकर एकमात्रा में स्थित होने पर ऊपर से ही उसमें गुरुकृपा-रूपी चिद्रश्मि का सम्पात होता है। उसके फलस्वरूप स्वस्थान में एकमात्रा के रूप में अक्षूण्ण रहकर भी 'अतीत' बनने में अर्धमात्रा-प्रभृति के रूप में परिणति होती है।

यहाँ से सीमाहीन अनन्त की ओर गति की सूचना होती है—दिव्य अनुभव का आरम्भ होता है। चित्किरण-सम्पात की वृद्धि के अनुसार मात्रा का भग्नांश बढ़ता रहता है, अर्थात् मात्रांश क्रमशः क्षुद्र से क्षुद्रतर होता रहता है, एवं प्रतिफलित चैतन्य क्रमशः अधिकतर उज्ज्वल और परिस्फुट होता रहता है। जिस स्थान पर चिद्रश्मि का सम्पात होता है, उसे एकमात्रा और अर्धमात्रा की सन्धि समझा जाता है—ऊपर से एकमात्रा में इस रश्मि के आने से ऊपर की ओर एकमात्रा टूटना आरम्भ कर देती है, अथच नीचे की ओर एकमात्रा अक्षुण्ण ही रहती है।

यह एकमात्रा ही समग्र स्थूल विश्व का मध्यविन्दु है। लौकिक विशाल जगत् इस एक मात्रा में उपसंहृत होता है, एवं यहाँ से प्रबुद्ध होकर दस दिशाओं के विभिन्न स्तरों में बिखर जाता है। इस मात्रा को एक दृष्टि से सुषुप्ति की समधर्मा कहा जा सकता है। इस दृष्टि से ही अर्धमात्रादि को तुरीय और अतितुरीय अवस्था के आभास का ज्ञापक समझा जाता है।

मन की मात्रा जितनी ही प्रसारित होती है, उतना ही मन का अंश क्षुद्रतर होता है, उतना ही चिदालोक उज्ज्वलतर होता है। अर्धमात्रादि में जो प्रतिफलित चैतन्य है, वही मन्त्र है। जो चित्त उसका आधार है, उसे भी मन्त्र कहते हैं।

पहले जिस बिन्दु की बात कही जा चुकी है वही मात्रा से मात्राहीन में जाने का द्वार है। यहाँ ज्ञातृ, ज्ञेय, और ज्ञान एकाकार हो जाते हैं और निरालम्बभाव आरम्भ होता है। साथ-साथ मात्राभङ्ग के फलस्वरूप अर्धमात्रा का उदय होता है। इस भूमि से ही ईश्वरभाव की पूर्वसूचना होती है, ऐसा कहा जा सकता है। यह ज्योतिर्मय एकाकारता ही शून्य है। यहाँ भेदबोध एकदम से नहीं चला जाता, क्रमशः अपगत होता है। वास्तव में यह द्वितीय शून्य है, फिर भी जागतिक अवस्था के ऊर्ध्व में यही प्रथम शून्य है। बिन्दु से सहस्रार में चढ़ने के पथ में कपालप्रदेश में जो सोमरस दिखाई देता है, वही अर्धचन्द्र है, जिसके भीतर त्रिविध वर्णमाला (सौम्य, सौर और आग्नेय) चिद्बीज के रूप में सहस्रार के विभिन्न दलों में प्रकाश पाती है। कपाल के ऊर्ध्व में, अथच ब्रह्मरन्ध्र के नीचे, त्रिकोण के बीच रोधिनी की अवस्थिति है। यह ब्रह्मादि कारक पञ्चक को, अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव नामक पाँच जगत्पतियों को ऊर्ध्वगति से निवृत्त करती है; इसलिये इसका नाम रोधिनी है। कोई-कोई इसे निरोधिका भी कहते हैं। रोधिनी तक ही बिन्दु का आवरण है। इसे भी शून्य रूप में ही समझना होता है। यहाँ दिक् और काल का पार्थक्य मन में नहीं रहता। इसके अलावा निम्नवर्ती मन और प्राण कणा का अनुभव भी यहाँ नहीं रहता। इसके बाद ब्रह्मरन्ध्र के मुख में नादस्थान है। मन्त्रन्महेश्वररूपी महापुरुष गण के द्वारा यह परिवृत है। नाद के अन्तर्गत भुवनपञ्चक की मध्यवर्ती शक्ति ऊर्ध्वगा के नाम से प्रसिद्ध है। यहीं से शुद्ध चिद्बोध का सूत्रपात होता है। ब्रह्मरन्ध्र में नादान्त है। यह भी शून्यरूप में भावनीय है। नाद या चित् को यहाँ सद्भाव से प्ररूढ़ कहा जा सकता है। ब्रह्मरन्ध्र सुषुम्णा के ऊपर है। ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर शक्ति का स्थान है। यही ऊर्ध्वकुण्डली प्रसुप्त भुजागाकार एवं ऊर्णातन्तु (मकड़ी के जाले) के समान है। अनुन्मिषित समस्त विश्व इन्हीं के गर्भ में अवस्थित है, इसीलिए ये विश्वाधार हैं। जितने भी तत्त्व और भुवन हैं, वे इसी का आश्रय लेकर विद्यमान हैं। इस स्थान पर एक अव्यक्त आनन्द का अनुभव होता है।

इसके बाद व्यापिनी का अधिकार है। वस्तुतः शक्ति की केन्द्रस्थिता कला ही व्यापिनी नाम से परिचित है, किन्तु शक्ति से व्यापिनी पृथक् है। पृथिवी पर्यन्त सब कुछ शक्ति-तत्त्व का ही प्रपञ्च है। एक दृष्टि से देखने पर शक्ति तत्त्व ही अनाश्रित भुवन है, जिसमें व्यापिनी के बीच शिवतत्त्व अवस्थित है। अनाश्रित भुवन के चारों ओर व्यापिनी, व्योमात्मिका, अनन्ता और अनाख्या नामक शक्तियों का अवस्थान है—मध्य में अनाश्रिता शक्ति विराजमान है। व्यापिनी भी शून्यरूप में कल्पनीय है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। किसी-किसी ने व्यापिनी को ही महाशून्य मान लिया है। वस्तुतः यह महाशून्य नहीं है, इसके बाद भी शून्य है। यहाँ साकार और निराकार का भेद तिरोहित हो जाता है। यहाँ की अनुभूति एक अद्वय आत्मानुभूति की अङ्गीभूत है। व्यापिनी के बाद व्यापिनी पदावस्थित अनाश्रितभुवन के ऊपर समना है। यह ब्रह्म बिल के बाहर है और अतीत मन का स्थान है। यहाँ मन नहीं है, अथच मन है। नादान्त से ही इस अतीत मन की सूचना मिलती है। सूक्ष्म समष्टि मन नाद में ही परिसमाप्त होता है। उसके बाद अतिमानस है। समना सब कारणों की कर्तृभूता, महेश्वर की पराशक्ति है। पूर्णब्रह्म की ईक्षणशक्ति अवतरण-क्रम में समना के रूप में उतर कर समष्टि-मन में सञ्चरित होती है। परमेश्वर सृष्टि आदि पाँच प्रकार के कृत्यों का समना में आरूढ़ होकर सम्पादन करते हैं। समना का दूसरा छोर उन्मना है—यह अतीत मन के भी अतीत है। आत्मा के विकल्परहित केवलस्वरूप में अवस्थान का बोध यहीं पर होता है। यह अमेय और अनिर्देश्य है। नव नादों में से यही नवम नाद है। बिन्दु में जिस नादसमूह की सूचना है, उन्मना में उसकी समाप्ति है। यही प्रकृत महाशून्य है। श्रीमाता की महाकरुणा के बिना इसका भेद नहीं किया जा सकता। इसके बाद फिर शब्दब्रह्म नहीं है, अथवा शब्द ब्रह्म ही परब्रह्म वा अद्वैत आत्मस्वरूप में स्वयं प्रकाशित होता है।

जप की आनुषङ्गिक भावना के साथ संसृष्ट छः शून्य और पाँच अवस्थाओं का किंचित् आभास दिया गया। अब सात विषुवों की बात यथासम्भव संक्षेप से लिखने का यत्न करता हूँ। विषुवसप्तक के प्रचलित नाम इस प्रकार हैं—प्राण-विषुव, मन्त्रविषुव, नाड़ी-विषुव, प्रशान्तविषुव, शक्तिविषुव, कालविषुव और तत्त्व-विषुव। प्राण, आत्मा और मन के परस्पर योग को प्राणविषुव कहते हैं। अभिव्यज्यमान नाद को जापक की अपनी आत्मा समझ कर भावना करना मन्त्रविषुव का तात्पर्य है। मूलमन्त्र के द्वारा छः चक्र और द्वादश ग्रन्थियों का क्रमशः भेद होने पर मध्यनाड़ी में नादस्पर्श होता है। मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त बीज शिखरवर्त्ती नाद उच्चारित होने पर नाड़ीविषुव-रूप स्पर्श उद्भूत होता है। नादान्त—

पर्यन्त मन्त्रावयव की शक्ति में लय-भावना प्रशान्त विषुव के नाम से अभिहित है। शक्ति मध्यगत नाद के समना पर्यन्त चिन्तन को शक्ति विषुव कहा जाता है। यहाँ तक काल का खेल है, क्योंकि समना तक ही काल की सीमा है। वस्तुतः काल की सीमा के बाद भी नाद है। कालातीत उन्मना-पर्यन्त नाद के चिन्तन को काल-विषुव कहते हैं। उन्मना में काल नहीं है, किन्तु यह भी परम तत्त्व नहीं है। काल विषुव के बाद तत्त्वविषुव अङ्गीकृत होता है। नाद ही तत्त्व का अभिव्यञ्जक है, किन्तु जब तक नाद का प्रकृत अन्त नहीं होता तब तक तत्त्वबोध नहीं होता। नादान्त तो दूर की बात है, शक्ति में या समना में भी नाद का अन्त नहीं होता। शाक्त योगिगण उन्मना को भी नाद का अन्त नहीं मानते। उन्मना के ऊर्ध्व में (उन्मना भेद करने के साथ-साथ) नाद लीन होता है। तब तत्त्वबोध या आत्मसाक्षात्कार स्वभावतः हो जाता है। इसीलिए तत्त्वविषुव को ही चैतन्य का अभिव्यक्ति-स्थान कहना उचित है।

इसके बाद ही परमपद है। यह छः शून्य, पाँच अवस्था और सात विषुव के कोलाहल के अतीत है, विश्व की परम विश्रान्ति-भूमि और परमानन्द-स्वरूप है। यही परमशिव की अवस्था है। तान्त्रिक योग में निष्णात परम योगिगण कहते हैं कि उन्मना तक सब मन्त्रावयवों के १०८१७ बार उच्चारित होने पर नाद का अन्त और तत्त्वज्ञान का उदय होता है एवं परमपद की प्राप्ति होती है। मन्त्र जप के साथ मन्त्रार्थभावना आवश्यक है, यह बात पहले कही गई है। अर्थज्ञान के बिना अर्थभावना नहीं हो सकती। शास्त्र में बहुत प्रकार के मन्त्रार्थों का विवरण मिलता है, उनमें से भावार्थ, सम्प्रदायार्थ, निगर्भार्थ, कौलिकार्थ, रहस्यार्थ और महातत्त्वार्थ प्रधान हैं। किसी-किमी मत से १६ प्रकार के अर्थों का वर्णन भी दिखाई देता है। मन्त्र के अवयवभूत अक्षरों का अर्थ ही भावार्थ है। सर्वकारण पूर्ण परमेश्वर ही सब मन्त्रों के मूल गुरु हैं। उनके मुख से स्वीय मन्त्रों का उद्भव और उनके अवतरण-क्रम तथा परम्परा का ज्ञान ही मन्त्र का सम्प्रदायार्थ ज्ञान है। परमेश्वर, गुरु और निज आत्मा का ऐक्यानुसन्धान निगर्भार्थ है। परमेश्वर निष्कल, निरवयव हैं—गुरु भी वही हैं। निष्कल परमेश्वर का जो स्वात्मरूप से साक्षात्कार करते हैं, वही गुरु हैं। इसीलिए गुरु और परमेश्वर अभिन्न हैं। चक्र, देवता, विद्या, गुरु और साधक का ऐक्यानुसन्धान ही कौलिकार्थ है। मूलाधारस्थ कुण्डली-रूपा विद्या ही साधक की स्वात्मा है, ऐसी भावना का नाम रहस्यार्थ है। निष्कल, अणु से अणुतर और महान् से महत्तर, निर्लक्ष्य, भावातीत, व्योमातीत, परमतत्त्व के साथ प्रकाश-आनन्द रूप से विश्वातीत और विश्वमय निजगुरु-प्रबोधित निर्मल स्वभाव वाले स्वकीय आत्मा का ऐक्यानुप्रवेश महतत्त्वार्थ है। इन सब अर्थों के विज्ञान के फलस्वरूप पाशात्मक विकल्पजाल सम्यक् प्रकार से निवृत्त होता है।

इस देह-रूप विश्व से अधः ऊर्ध्व भाव से तीन स्तर हैं। प्रथम स्थूल या सकल है, द्वितीय सूक्ष्म या सकल-निष्कल है, एवं तृतीय कारण या निष्कल है। प्रथम स्तर अकुल से आज्ञा-चक्र तक विस्तृत है। सुषुम्णा नाड़ी का मूलस्थ ऊर्ध्व-मुख रक्तवर्ण सहस्रदल कमल ही अकुल पद वाच्य है। सुषुम्णा का शिखरस्थ अधो-मुख श्वेतवर्ण सहस्रदल भी एक प्रकार से वैसा ही है।

उभय के अन्तराल में सुषुम्णा के बीच विभिन्न प्रकार के आधार-कमल ग्रथित हैं। दूसरे स्तर का विस्तार आज्ञाचक्र के ऊपर विन्दु से उन्मना तक है। तृतीय स्तर महाविन्दु है, जो उन्मना से अतीत और देशकाल द्वारा अपरिच्छिन्न है। इस त्रिमूलिक देहरूप विश्व में जो अधिष्ठाता होकर विराजमान हैं, वे पूर्णब्रह्मरूपी आत्मा हैं। वे विश्वात्मक होकर भी विश्वातीत हैं, एवं विश्वातीत होकर भी विश्वात्मक हैं। जपसाधना की परम सिद्धि इस आत्मस्वरूप में स्थितिलाभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

(४)

भूमिका संक्षेप में लिखने की इच्छा थी, फिर भी कुछ दीर्घ हो गई है। जप के सम्बन्ध में शास्त्रोपदेश का मर्म क्या है, इसका यत्किंचित् आभास देना ही भूमिका का उद्देश्य है, मूलग्रन्थ का तात्पर्यविश्लेषण करना इसका उद्देश्य है। भूमिका के क्षुद्र परिसर में वह सुसाध्य भी नहीं है। विद्वान् और बहुदर्शी ग्रन्थकार ने आभ्यन्तरीण प्रेरणा के अनुसार ग्रन्थ की रचना करके अपना कर्त्तव्य समाधान किया है। उनका सुदीर्घकाल का अक्लान्त परिश्रम, गम्भीर चिन्तन, उदार समन्वय दृष्टि एवं सर्वोपरि आत्मानुभव के उल्लास का निदर्शन इस महान् ग्रन्थ की प्रत्येक पंक्ति में देदीप्यमान है। इसीलिये इसकी प्रशंसा किये बिना मैं नहीं रह सका। ग्रन्थकर्त्ता ने ग्रन्थ लिखा है यह सत्य है, किन्तु वे लिपिकार मात्र हैं। उनकी पूत-लेखनी को निमित्तरूप में ग्रहण करके विश्वगुरु ने ही कालोपयोगी आकार में इसमें आत्मप्रकाश किया है। जो परम-पथ में प्रविष्ट हैं, अथवा प्रविष्ट होने के इच्छुक हैं, वे आन्तरिकता के साथ इस ग्रन्थोक्त तत्त्वमाला का यदि मनन कर सकेंगे तो अवश्य उपकृत होंगे, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

मैंने ग्रन्थोक्त किसी पदार्थ की आलोचना करने का यत्न नहीं किया है, क्योंकि आलोचना करने जाएं तो सभी विषयों की आलोचना आवश्यक है। ग्रन्थ की विस्तारित समालोचना पृथक् भाव से कोई कृती लेखक अदूर भविष्य में करेंगे, ऐसी आशा रखता हूँ। स्वानुभूति, सद्युक्ति और वर्त्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्त का ऐसा अपूर्व समन्वय करने का यत्न मैंने और कहीं नहीं देखा है। श्रीभगवान् की कृपा से परम श्रद्धेय स्वामीजी स्वस्थ शरीर से दीर्घजीवी होकर इस आरब्ध महान् कर्म की सम्यक् परिसमाप्ति करके अध्यात्म-साहित्य का पुष्टिवर्धन और जिज्ञासु भक्तों का प्रकृत कल्याण-विधान करें, यही मेरी प्रार्थना है। —श्रीगोपीनाथ कविराज

पूज्यपाद श्री १०८ स्वामी प्रत्यगात्मानन्दजी सरस्वती

एक परिचय

आज गुरुपूर्णिमा है, गुरु-वन्दना का पावन दिवस। गुरु, जिसे भारतीय संस्कृति और विचार-धारा में गोविन्द से भी श्रेष्ठ बताते हुए कहा गया है :

यदुक्तिभानू रजनीमिवार्कः
तमोविनाशी कृपयोपविष्टः।
अगाधबोधं परमं गुरुं तं
नमामि भक्त्या परमात्मरूपम् ॥

(वेदान्तपरिभाषा की 'मणिप्रभा' टीका का मंगलाचरण)

आज से लगभग १५ वर्ष पूर्व ऐसी ही गुरु-पूर्णिमा के दिव्य भोर की प्रथम किरण के साथ ही मैंने परम पूज्यपाद स्वामीजी के दर्शन किये थे। उन दिनों स्वायीजी मेरे तत्कालीन गृहस्वामी श्री गौरीशंकर मुखोपाध्याय के यहाँ ठहरे हुए थे। गौरी बाबू ने बहुत पहले ही पूज्य स्वामीजी की प्रशंसा करते हुए कहा था "वे साक्षात् शिवरूप महायोगी, परम सिद्ध विचारक, गूढ़ दार्शनिक और मर्मी रहस्यवादी है"। तभी से मेरी तीव्र उत्कण्ठा थी कि मैं पूज्यपाद के दर्शन करूँ और एक दिन गुरुपूर्णिमा के प्रातः उनके श्रीचरणों में जा ही बैठा। आज भी वह सहज अलभ्य दिव्य मुस्कान, वह अनुग्रहात्मक वरदहस्त और स्नेह-संवलित आशीः स्मरण है, जिसने एक पथविहीन, विभ्रान्त, संशय-ग्रस्त और वैचारिक ऊहापोह में जकड़े हुए अहं को अपनी मौन, पर अजेय शक्ति और मुस्कान से गति और मति दी थी। उस दिन अनायास गया था, पर सायास लौटा, लगा जैसे किसी अयस्कान्त पर्वत के निकट लौहवत् बैठा हूँ और एक दुर्निवार आकर्षण मुझे बरबस उनकी ओर खींचता ही जा रहा है। कामायनी के मनु की ये पंक्तियाँ स्मरण हो आयीं :

"तम-जलनिधि का बन मधु-मन्थन, ज्योत्स्ना-सरिता का आलिंगन'
वह रजत गौर, उज्ज्वल जीवन, आलोक-पुरुष ! मंगल चेतन !

(कामायनी, दर्शनसर्ग, पृ० २६४)

मेरा मन द्रवीभूत हो रहा था, पर पूज्य स्वामीजी सहज भाव से शान्त और निर्निमेष दृष्टि से मुझे देखते हुए केवल मुस्करा रहे थे। आज भी वह कालजयी

मुस्कान अनेक वार जीवन के तिमिराच्छन्न क्षणों में दिव्य आलोक की पावन दिशारेखा वन मेरा पथ सँजोती रहती है। आज भी अनेक वर्षों के उपरान्त लगता है, जैसे उसी द्रवीभूत मन से मैं उनके श्रीचरणों में वैठा हूँ लौहवत, एक बृहद् अयस्कान्त पाषाण पर्वत के निकट।

पूज्य स्वामीजी का सांसारिक नाम श्री प्रमथनाथ मुखोपाध्याय था। उनका वर्तमान संन्यास नाम श्री प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती उन्हीं का दिया हुआ है। पूज्य स्वामीजी का जीवन प्रारम्भ से ही महत् दैवी शक्ति अनुप्राणित, तप, त्याग और साधना का जीवन रहा। यद्यपि स्वामीजी ने यथावत् संन्यास लगभग ५० वर्ष की आयु में लिया, फिर भी प्रारम्भ से ही वे पूर्ण संन्यासी, अपरिग्रही और साधक ही रहे। श्री पूज्यपाद का जन्म वंगाल के मालदह जिले में जन्माष्टमी के दिन सन् १८८० में हुआ था। आपके पिता श्री मधुसूदन मुखोपाध्याय वर्धमान जिले में उच्च सरकारी पदाधिकारी थे। जन्म के साथ ही आपकी पूज्या मातुश्री का स्वर्गवास हो गया। इसी से आपका लालन पालन अपकी विमाता ने किया। आप के अग्रज श्री मन्मथनाथ मुखोपाध्याय बंगाल में दर्शनशास्त्र के प्रसिद्ध प्राध्यापक थे। स्वामीजी ने भी दर्शन-शास्त्र में ही एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की। विद्यार्थी जीवन में ईडन छात्रावास में भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद भी आपके साथ ही रहते थे। १९ वीं शताब्दी का अंतिम चरण एक ओर हमारी राजनीतिक चेतना का अग्रदूत रहा तो दूसरी ओर हमारे नव्य जातीय आन्दोलन की भूमिका भी। इसी समय वंगाल में नूतन अध्यात्मवाद की जो लहर स्वामी रामकृष्ण परमहंस के द्वारा फैली, उसने राजनैतिक पराधीनता के बीच हमें अपनी सांस्कृतिक और धार्मिक परम्पराओं के प्रति आकृष्ट कर, मिथ्या अन्धविश्वास और संकीर्ण जातिवाद के विरुद्ध उद्‌बुद्ध किया। पूज्य स्वामीजी ने भी अपने प्रारम्भिक जीवन में इन सव आन्दोलनों में भाग लिया था। सन् १९०५ के बंगभंग आन्दोलन के वे सक्रिय कार्यकर्त्ता थे। श्री अरविन्द के साथ आपने स्वदेशी आन्दोलनों में भाग लिया था; यही नहीं, 'नेशनल काउन्सिल ऑफ एजूकेशन' की स्थापना में योगी श्रीअरविन्द के साथ आपका भी प्रमुख हाथ रहा। इसी संस्था का परवर्ती बृहत् रूप आज का यादवपुर विश्वविद्यालय है। श्यामसुन्दर चक्रवर्ती के पश्चात् आप तत्कालीन प्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक "सर्वेण्ट" के सम्पादक भी रहे।

स्वामीजी ने अपना जीवन एक अध्यापक के रूप में प्रारम्भ किया। वे कलकत्ता के प्राचीनतम संस्कृत महाविद्यालय में प्रसिद्ध अंग्रेजी विद्वान् श्री मुरलीधर वन्द्योपाध्याय के संस्कृत शहकारी के रूप में रहे। इसके पूर्व स्थानीय रिपन कालेज में भी दर्शन-शास्त्र के प्राध्यापक के रूप में कार्य किया। रिपन कालेज में पूज्यपाद श्री रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी के आग्रह से गए। उन दिनों श्री अरविन्द

मानकतोला कालेज के प्राचार्य थे। पूज्यपाद ने प्राचीन दर्शन के साथ-साथ आधुनिक विज्ञान का समन्वय करने के लिए भौतिकी और रासायनिकी शास्त्रों का भी गूढ़ अध्ययन किया। योग और तंत्रशास्त्र-सम्बन्धी परवर्ती ग्रन्थों में जो विज्ञानसम्मत दुर्लभ दृष्टि दिखायी पड़ती है, वह इसी अध्ययन का परिणाम है। अध्यापकीय जीवन से निवृत्त होने पर स्वामीजी ने अपना सम्पूर्ण जीवन एक ओर योग साधना में लगाया, तो दूसरी ओर उसकी प्राचीन शास्त्रीय परम्परा के अध्ययन में। पूज्यपाद स्वामीजी की दृष्टि प्रारम्भ से ही ग्रन्थरचना की ओर रही। सन्यास के पूर्व उनके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो गये थे, जिनमें "एप्रोचेज टू ट्रूथ" "भारतवर्ष का वेद-विज्ञान' कलकत्ता विश्वविद्यालय में दिये गये 'वेदान्त की भूमिका' के व्याख्यानों का ग्रन्थबद्ध प्रकाशन, 'पेटेन्ट वन्डर' के अतिरिक्त 'चलार पथे फिरार पथे' उपन्यास और 'मर्मवाणी' शीर्षक कविता-संग्रह मुख्य है। तदनन्तर पूज्यपाद ने नयहट्टी में 'शरदशारदा आश्रम' और खुलना ग्राम में 'आनन्द निकेतन' की स्थापना की। 'आनन्द निकेतन' अनेक वर्षों तक आपका साधनास्थल रहा। देश-विभाजन के समय खुलना में साम्प्रदायिक झगड़ा और रक्तपात हो रहा था, परन्तु द्वेष और कलह, हत्या और पाशविकता के मध्य उस समय मुसलमानों ने ही आश्रम की रक्षा की और स्वामीजी को, अपने ही धर्म और समाज के गुरु जैसा सम्मान दिया। विभाजन के अनन्तर आप भारत चले आये और तब से यहीं वास करते है। अभी कुछ वर्षो से कलकत्ता के निकट 'गरिया' पल्ली ग्राम में आपने 'सारस्वत आश्रम' की स्थापना की है। 'सारस्वत आश्रम' प्राचीन तपोवन की ऋषिकुल-परम्परा का ही वर्तमान रूप है। स्वामीजी ने न तो किसी गुरु से यथावत् दीक्षा ली और न किसी से सन्यास ही। आप स्वसन्यासी और स्वदीक्षित हैं। तन्त्र शास्त्र के प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक सर जॉन उडरफ ने, जिन्होंने आर्थर एवलन के नाम से तंत्र शास्त्र पर अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे, स्वामीजी को अजस्र प्रेरणा-स्रोत के रूप में स्वीकार किया है। 'महामाया' ग्रन्थ के लेखक-द्वय में आपका नाम भी सर जॉन वुडरफ ने दिया। यही नहीं, अनेक स्थलों पर सर जॉन वुडरफ ने स्वामीजी को सखा, स्नेही, सहयोगी और गुरु के रूप में स्मरण किया है।

जिस महत् आगम की रचना पूज्य स्वामीजी ने की और जो बंगला भाषा में ६ खंडों में प्रकाशित हुआ है, वह है 'जपसूत्रम्,' 'जपसूत्रम्' एक परम सिद्ध योगी' की रचना है, जिसकी तत्त्व-दृष्टि का मूल आधार साधना-राज्य के दुर्लभ अनुभव हैं, केवल 'पढ़ी पढ़ायी विद्या' नहीं। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज प्रभृति विद्वानों ने इसे 'आगम' कोटि का ग्रन्थ गिना है। स्वामीजी प्रच-लित अर्थ में 'तान्त्रिक' नहीं हैं, परन्तु उन्हें सभी विद्वानों ने तंत्र शास्त्र का एक मात्र जीवित अधिकारी विद्वान् और योगी गिना है। दाक्षिणात्य भास्करराय की

कृतियों के उपरान्त भारतीय साधना राज्य के क्षेत्र में ऐसा समर्थ ग्रन्थ दूसरा नहीं लिखा गया। 'जपसूत्रम्' के अतिरिक्त अन्य कई ग्रन्थों की रचना पूज्यपाद ने की है, जिनमें 'यंत्रम्' आदि मुख्य है। पूज्य स्वामीजी रहस्यवादी कवि हैं। रहस्यवाद मूलतः एक सिद्धान्त न होकर आध्यात्मिक जीवन-प्रक्रिया का ही दूसरा नाम है। वह महायोगी की परम अनुभूति है, जिसका समस्त वाह्य और आभ्यंतरिक द्वैत नष्ट होकर समरसता और भूमा के विराट् सत्य और स्वरूप-विश्रांतिमूलक आनन्द में परिणत हो, अपने पर-अस्तित्व व अद्वय भाव में व्यक्त होता है। इस अनुभूति की अभिव्यक्ति में व्यष्टि-समष्टि से ज्ञान-विज्ञान के समीकरण के साथ, एकता का बोध कर गति और अगति की पूर्णता द्वारा अन्तर्बाह्य के तादात्म्य में अभेद ओर अद्वय-स्थिति प्राप्त करता है। जीव और ब्रह्म के एकात्म की इस महानुभूति की अभिव्यक्ति ही रहस्यवाद है—"आई मीन यू,' 'मल्ली वीथिका' आदि पूज्यपाद के अनेक काव्य ग्रन्थ इसी कोटि में आते हैं। जिस अर्थ में सिद्ध योगी श्री अरविन्द कवि थे, उसी अर्थ में पूज्यपाद भी हैं। ईशावास्य उपनिषद भी हैं। ईशावास्य उपनिषद के अनुसार "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः"। वैदिक अर्थ में कवि वह है, जो अमर सत्य-लोक का अधिष्ठाता होता है,—सूर्यलोक का द्रष्टा। साधना राज्य की गूढ़तम गुत्थियों को पूज्यपाद स्वामीजी ने अपने काव्य में सुलझाया है, पर उनका मर्म और रहस्य समझने के लिए सन्त कवि तुलसीदास ने बहुत पूर्व कह दिया था,

'जे श्रद्धा सम्बल रहित, नहिं संतन कर साथ।
तिन्ह कहँ मानस अगम अति, जिनहिं न प्रिय रघुनाथ'।

'मानस' ही नहीं, 'मानस! की कोटि में आने वाले समस्त ईश्वर-ग्रन्थों के लिए भी यही सत्य है। पूज्यपाद स्वामीजी का जन्म ही एक रहस्यवादी की भाँति हुआ था। शैशव से ही आपके ललाट क्षेत्र में नाद रूप ज्योतिष्पुंज दीपक सहज भाव से स्वतः मूर्त हो उठता था। रहस्यात्मक प्रतीक, एवं आध्यात्म-ग्रन्थों के गूढ़ अर्थ स्वतः स्पष्ट हो जाते थे। यहाँ तक कि योगाभ्यास भी जैसे प्रस्तुत ही रहता था। युवावस्था में प्रकृति में कुछ सहज अन्तर आ गया और पूज्यपाद, जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है, भौतिकी और दर्शन के गहन अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। तत्पश्चात् साधना-क्षेत्र में पूज्यपाद ने रागानुगा भक्ति संवलित परम प्रेम स्वरूप आत्मसमर्पण का मार्ग अपनाया। शनैः २ साधना का यह अतीन्द्रिय स्वरूप बाह्य रूप में पुनः सुष्ठु और मूर्त्त हो गया—आज पूज्यपाद का यही बाह्य व्यक्ति-रूप हमें प्रतीत है। शान्त, प्रकृत, आत्मलीन, पर दिव्य मुस्कान-युक्त सहज, गंभीर और स्थितप्रज्ञ, जिसके लिए गीता में कहा गया है: **एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ"**: इस प्रकार पूज्यपाद का समस्त जीवन एक ओर वैयक्तिक साधना का तो दूसरी ओर

लोक मंगल का; एक ओर भाव, विचार और चिन्तन का तो दूसरी ओर एक निःस्पृह कर्मयोगी का जीवन रहा है। संन्यास के अनन्तर इस जीवन-क्रम में एक विचित्र परिवर्तन आया—यह परिवर्तन एकान्त, मौन और साधना का परिवर्तन था—आध्यात्मिक प्रयोगशाला के प्रयोक्ता का। 'जपसूत्रम्' इसी प्रयोगशाला का परिणाम है। इसकी रचना अन्य लौकिक ग्रन्थों की भाँति सायास या कल्पना-प्रसूत नहीं हुई, परन्तु हुई आभ्यन्तरिक प्रेरणा और प्रातिभ शक्ति से। अज्ञात दिव्य प्रेरणा सहज भाव से अकृत्रिम रूप में अभिव्यक्त होती गई। आज भी पूज्यपाद अन्य आध्यात्मिक गुरुषों की भांति न तो किसी शिष्य परम्परा में विश्वास रखते हैं और न किसी सम्प्रदाय विशेष में। विशुद्ध आत्मसिद्ध योगी की भाँति पूज्यपाद न प्रचार चाहते हैं और न कोलाहल। दर्शनार्थियों का जमघट भी साधक की प्रकृत अवस्था को नष्ट कर देता है। यह सर्वोच्च आत्मलीनत्व और एकान्त हमें ईसाई धर्म की 'दिव्य शैशवावस्था' का स्मरण कराता है। जैकब को लिखे गये अपने एक पत्र में स्वामीजी ने अपने इस अनभिव्यक्त मौन संलाप और रहस्यात्मक चिन्तन को, जो गुह्य और सांकेतिक होता है, स्पष्ट किया है। वे इसी मौन के व्रती हैं।

पूज्यपाद स्वामीजी भाषा और भाव के अनुपम धनी हैं। जितना अधिकार उनका बंगला और संस्कृत पर है, उतना ही अंग्रेजी पर। यही कारण है कि संस्कृत के साथ-साथ उन्होंने अनेक अंग्रेजी ग्रन्थों की रचना की है। परन्तु एक दिन अंग्रेजी पर जो सहज अधिकार था, वह उन्हें अब रुचिकर नहीं लगता, कारण, वह भाषा नाद शक्ति और उसके दिव्य कलात्मक विन्यास को विघटित कर देती है। वैखरी से 'परा तक का आरोह कट जाता है।

बाहर से जब विदेशी विद्वान् भारत में इस देश के तपःपूत, त्यागी मनीषियों, सिद्धिप्राप्त योगियों और दार्शनिकों से मिलने आते हैं, तब स्वामीजी के दर्शन करना उनके लिए अनिवार्य हो जाता है। कई बार राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् ने स्वयं ऐसे विद्वानों को स्वामीजी के पास भारतीय दर्शन, योग, तंत्रशास्त्र से परिचित होने के लिए भेजा, जिनमें आधुनिक मनोविज्ञान के प्रसिद्ध जर्मन् लेखक श्री जैकब और आस्ट्रेलिया के प्रोफेसर रेनर सी जानसन '(दी इम्प्रिज़ण्ड स्प्लेण्डर' के लेखक) उल्लेखनीय हैं। श्री जैकब ने अपने व्यक्तिगत पत्रों में स्वामीजी के अलौकिक प्रभाव और उनके दिव्य ग्रन्थ का वर्णन करते हुए उन्हीं के चरणों में रहने की अभिलाषा व्यक्त की है। अपने ग्रन्थ '**Western Psycho-therapy & Hindu Sadhana**' में श्री जैकब ने पूज्यपाद के दिव्य प्रभाव को सादर स्वीकार किया है। यही सब कारण थे कि वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के तत्त्वाधान में किये गये अखिल भारतीय तन्त्र सम्मेलन, १९६५ : की अध्यक्षता स्वीकार करने के लिए पूज्य स्वामीजी से अनुरोध

किया गया और आपने अनिच्छापूर्वक ही वह अनुरोध स्वीकार किया। पाल ब्रन्टन ने एक दिन दुर्लभ : गुप्त नहीं : भारत की दुर्लभ खोज प्रारम्भ की थी। ज्ञानपिपासु श्री ब्रन्टन इस देश के गाँव-गाँव में घूमकर इसकी शक्ति का संधान करते गये और कहते गये कि कैसा अद्भुत है आर्यों का यह देश! कैसी दिव्य हैं इसकी महान् विभूतियाँ, और इसकी आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक परम्पराएँ, दिव्य हैं यहाँ के योगिराज, जिन्होंने "**ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्** (श्वेता० उप० १।३)।" पूज्यपाद परम श्रद्धेय स्वामीजी इन सबके शुभ्रतम, धन्यतम, और दिव्यतम प्रतिरूप हैं। यही कारण है कि आज गरिया का 'सारस्वत तपोवन' देश-विदेश के ज्ञान-पिपासु आबाल वृद्ध नर-नारियों का पावन तीर्थ बना हुआ है; उनके आध्यात्मिक अभ्युदय और निःश्रेयस् आत्मोपलब्धि का दिव्योज्ज्वल सूत्रधार!

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

(श्वे० उप० ६।२३)

अशेष वंदनाओं के साथ,

कल्याणमल लोढ़ा

—o—

प्रस्तावना

(मूल प्रथम खण्ड से उद्धृत)

जिस अभिनव ग्रन्थ के प्रकाशन में हम व्रती हुए हैं, उसकी भूमिका का कोई प्रयोजन नहीं है। मूल ग्रन्थ की विस्तारित भूमिका के रूप में जप के सम्बन्ध में पूज्यपाद स्वामीजी के ही कुछ-एक भाषण और निबन्ध एकत्र संकलित करके निविष्ट किये गये है। फिर भी ग्रन्थ अपने अभिनवत्व के कारण पाठकों को दुर्बोध्य रहस्यमय लग सकता है, ऐसा सोचकर ही मूल विषयवस्तु के सम्बन्ध में यहाँ दो-चार वातें कहने का यत्न किया जा रहा है। यहाँ इतने विभिन्न, विचित्र और गम्भीर विषयों का समावेश और अवतारणा की गई है कि मूल चिन्ताधारा का सन्धान न मिलने पर बहुत से लोग शायद लक्ष्य में 'अपारग' बन बैठें। इसीलिये संक्षेप में उस मूल धारा के अनुसरण व अनुसन्धान की चेष्टा की जा रही है।

ग्रन्थ के नामकरण से ही यह सुस्पष्ट है कि इसकी विषय-वस्तु है जप। अध्यात्मसाधना की गति बहुमुखी और विचित्र है, एवं आपात-दृष्टि से इनमें परस्पर विरोधिता है, फिर भी कोई भी धर्म-मत इस जप-रूप महा कर्म का परित्याग या अवहेलना नहीं कर सका है। यह सभी साधनाओं के अपरिहार्य अङ्ग के रूप में चिरदिन गृहीत और समादृत होता आया है। विशेषतः हिन्दू साधना की यही मूलभित्ति है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि यह जो जप-रूप सनातन साधन-धारा है, यह तो चिरकाल से चली आ रही है, अनेक साधक-महाजन इसके अनुशीलन में तत्पर हुए हैं, सिद्धि के शिखर पर चढ़कर कृतार्थता को भी प्राप्त हुए हैं,—तब फिर इस विषय को लेकर ऐसे विशाल ग्रन्थ की अवतारणा का क्या प्रयोजन था? प्रयोजन है—इस चिर प्रसिद्ध और सुप्रसिद्ध जप रूप अनुष्ठान का जो अत्यावश्यक ज्ञातव्य विषय है, इसके सम्बन्ध में हमारी जो घोर अज्ञता है, उसे दूर करना। यह ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा इसीलिए जागी है कि प्रायः सर्वत्र ही देखा जाता है कि इस परम प्रयोजनीय और रहस्यमय कर्म के सम्बन्ध में अपरिसीम अज्ञता विद्यमान है। जप से क्या समझना चाहिये, कैसे जप करना चाहिये, कैसे करने पर जप यथार्थ 'समर्थ' वा फलवान् होता है, क्यों साधारणतः जपादि करके कोई फल समझ में नहीं आता—इन सब विषयों में हम कोई अनुसन्धान नहीं करते; जिज्ञासा का भी उदय नहीं होता। यदि जिज्ञासा जागती भी है तो सदुत्तर नहीं मिलता। केवल यान्त्रिक भाव से (mechanically)

जप करते चलते हैं, माला घुमाते चलते हैं, अन्त में शायद विरक्त या हताश होकर इस अनर्थक कर्म के अर्थहीन आवर्तन से चिरदिन के लिये विदा ले लेते हैं। साधना के सम्बन्ध में यह जिज्ञासा ही मौलिक व मर्मी जिज्ञासा है कि वास्तव में किस पद्धति (**right technique**) के अनुसार जपकर्म करना चाहिये ? इसी का सदुत्तर सर्वप्रथम आवश्यक है। यह आवश्यकता पूरी करने के लिये ही इस ग्रन्थ की अवतारणा है। यहाँ यही दिखाया गया है कि जपकर्म केवल अन्धकार का काम नहीं है, कुसंस्कार का अर्थहीन आचरण नहीं है—यह आलोक का कर्म है, 'तमसा' से 'ज्योतिः' में उत्तरण का कर्म है। इसीलिये उपनिषद् इसका सार्थक नाम देते हैं—'अभ्यारोह जप'। अतः जपकर्म की पृष्ठभूमि में एक परिपूर्ण महाविज्ञान वर्तमान है। इसकी प्रतिष्ठा अज्ञान में नहीं, दिव्यविज्ञान में है। हमारे अध्यात्म शास्त्र समूह में, वेद में, उपनिषद् में, तन्त्र में, सर्वत्र इसी परम विज्ञान का रहस्यमय इङ्गित विवृत है। पूज्यपाद स्वामीजी इस निखिल शास्त्रमहोदधि का मन्थन करके उसी विज्ञानामृत के समुद्धरण में तत्पर हुए हैं एवं उन्होंने अपनी अनुभूति के उज्ज्वल आलोक में, सुनिपुण विचार-विश्लेषण के 'द्रावक' (सोना पिघलाने के कर्म) में उसकी परीक्षा करके सबके सम्मुख उसे उपस्थित किया हैं।

मूल जपसूत्रम् स्वामीजी ने संस्कृत भाषा में लिखा है। प्रसिद्ध वेदान्त सूत्र की भाँति इसके भी चार अध्याय एवं प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। इस खण्ड में प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के कुछ एक सूत्र मात्र दिये गये है। प्रत्येक सूत्र पर फिर संस्कृत श्लोक कारिकाओं में व्याख्या की गई है एवं उन श्लोकों पर फिर वङ्गला में विस्तृत भाष्य भी दिया गया है। कुल मिल कर सूत्रसंख्या ५०० से अधिक एवं श्लोक-संख्या प्रायः २००० से अधिक है। ग्रन्थ सुविशाल है, इसलिये खण्डशः इसके प्रकाशन का आयोजन किया गया है। मूल जपसूत्रम् के उपोद्घात व भूमिका के रूप में स्वामी ने शताधिक संस्कृत श्लोकों की रचना की है एवं उनकी विस्तृत बंगला व्याख्या भी की है। इस खण्ड में उन्हें ही विशेष रूप से स्थान मिला है। इसके अलावा 'उपक्रमणी' नामक अंश में और भी कुछ-एक श्लोक सन्निवेशित हुए हैं।

जपसूत्रम् के इस उपोद्घात और उपक्रमणिका में जो श्लोक एवं उनकी व्याख्या दी गई है, उनका विशेष अवधान-पूर्वक एवं अत्यन्त धीरभाव से अनुधावन करना प्रयोजन है। यहाँ अनेक गूढ़ तत्त्वों की अवतारणा की गई है—जैसे प्रारम्भ में ही ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप का तत्त्व, उसके बाद तीन ऋक् वा ऋक्त्रय का तत्त्व, उसके बाद पञ्चभूत का तत्त्व, उसके बाद पञ्च अवतार-तत्त्व, उसके बाद पञ्च गङ्गा-तत्त्व, पञ्च शुद्धि-तत्त्व, पञ्च रूप-तत्त्व इत्यादि। आरम्भ में ही साधारण पाठकों के मन में शंका जाग सकती है कि जपसूत्रों के बीच इन सब तत्त्वों की

अवतारणा, तो अवान्तर है। जप के सम्बन्ध में आलोचना करते समय जगत् के मूल तत्त्व अथवा उसके सृष्टि-तत्त्व को लेकर माथापच्ची करने की क्या आवश्यकता है? ऐसी आशंका स्वाभाविक है, एवं इसीलिए इसके निरसन के लिए पहले ही यह कहना आवश्यक है कि जप कर्म नितान्त बहिरङ्ग यान्त्रिक कर्म नहीं है, यह केवल मन्त्र की रटना मात्र नहीं है। जप के दो अङ्ग शास्त्र ने सर्वत्र कहे हैं–**'तज्जपस्तदर्थभावनम्'**–व्याहरण और अनुस्मरण। यह अर्थ भावना न होने पर बिलकुल व्यर्थ भले ही न हो, किन्तु 'यथार्थ समर्थ' नहीं होता; क्योंकि मन्त्राक्षरों के केवल उच्चारण या आवृत्ति का भी अवश्य ही कुछ फल है, किन्तु वह आंशिक, गौण है। इसका मुख्य, समग्र फल तभी प्राप्त होता है जब मन्त्राक्षरों में जो अगाध रहस्य निहित है, उसमें डूब सकें। मन्त्र है रत्नाकर-स्थानीय—इसके मूल में यदि डुबकी लगा सकें तो अनन्त रहस्यमय तात्पर्य की मणिमुक्ता का आहरण करके हम ला सकते हैं। केवल एक बार डुबकी लगाकर अपनी मुट्ठी में जो कुछ भरकर ला सके हों, उसी को ऐसा समझने की भूल न करें कि मन्त्र का समग्र तत्त्व छान कर उठा लाये हैं। बारम्बार जितना ही डूबेंगे, उतना ही नित्य नव-नव अर्थ और भाव की अनुभूति हमें आलोक से, पुलक से भर देगी। इसीलिए यहाँ इस अगाध रहस्य-सागर के प्रति दृष्टि आकर्षित करने के लिए ही, मन्त्र के प्रत्येक अक्षर के प्रति एकान्त भाव से अभिनिविष्ट होने का आह्वान देने के लिए ही इन सब तत्त्वों की अवतारणा की गई है, क्योंकि वेद का प्रत्येक मन्त्र, प्रत्येक वर्ण, रहस्य की खान है। इसलिए परम श्रद्धा और एकान्त अभिनिवेश के साथ वाङ्मय-महोदधि में अवगाहन आवश्यक है। वेदवाणी हैं वाग्रूपिणी कामधेनु; इससे हमें अमृत की धारा का दोहन करना होगा—**'दुहाना अमृतस्य धाराम्'**। इस ग्रन्थ में इसीलिये प्रसङ्गक्रम से वेद के किसी-किसी मन्त्र (जैसे सृष्टिसूक्त) के रहस्योद्घाटन का यत्न किया गया है, जिससे सुधी पाठकों में अनुरूप रहस्य उद्भेद की प्रेरणा जागे। अनेक स्थलों पर केवल दिग्दर्शन किया गया है, विशेष विस्तार नहीं किया गया है। तन्त्र, पुराण के रहस्य में भी इसी प्रणाली का अवलम्बन किया गया है।

उपोद्घात के श्लोकों में जिन सब तत्त्वों की अवतारणा की गई है, उनका यथार्थ भाव से अनुधावन करने के लिए एक विषय सदैव स्मरण रखना चाहिए एवं उसकी ओर पाठकों की दृष्टि आकर्षित करता हूँ। पूज्यपाद स्वामीजी ने जहाँ जिन तत्त्वों का विश्लेषण करके दिखाया है, सब सर्वत्र ही विश्वजनीन सार्वभौम तत्त्व या **universal principle** हैं, उन्हें केवल परिच्छिन्न भाव में परिसमाप्त समझने से नहीं चलेगा। जैसे प्रारम्भ में ही श्रीश्रीगुरुपाद वन्दना में जिस श्रीगुरुतत्त्व को उन्होंने स्फुट किया है, वह केवल किसी विशिष्ट व्यक्तिरूप गुरु का तत्त्व नहीं है, किन्तु जो गुरुशक्ति विभिन्न गुरुमूर्तियों में होकर विश्व के आर्त, दीन, दुखी जीवों को सर्वदा ही

समुद्धरण के पथ पर लिये चली जा रही हैं, उसी मौलिक महाकरुणा-शक्ति या उद्धार-शक्ति का ही तत्त्व है। इस प्रकार उन्होंने प्रसंङ्ग-क्रम से जिन पञ्च अवतारों का तत्त्वविशेषण करके दिखाया है, वह केवल उस परिच्छिन्न कूर्म, वराह आदि मूर्ति में ही परिसमाप्त नहीं है, अथवा केवल जप आदि के क्षेत्र में इन सब शक्तियों की क्रिया उपलब्ध होती है, ऐसा भी नहीं है। किन्तु विश्व में सब से पहले यह अवतार-तत्त्व मौलिक शक्ति के रूप में सक्रिय है। जैसे, साधारण स्थूल भौतिक परिणाम में भी हम इन शक्तियों की सक्रियता की उपलब्धि कर सकते हैं। एक वृक्ष का बीज जब अपनी समस्त अन्तर्निहित शक्ति लेकर सोया हुआ है, तब उसमें इस मीनशक्ति की क्रिया है, उसे धारण कर रखा है कूर्मशक्ति ने; इस शक्ति की सहायता से ही वह अपनी सत्ता को अन्यान्य सब कुछ से पृथक् करके धारण किये हुए है। अब वह विकसित होगा—इस विकास की ओर उसे ढकेल रही है यह वाराही शक्ति। उसके बाद, विकास के पथ में उसकी जितनी बाधा हैं, उनका अपनयन करके, उन्हें विदीर्ण करके चलती है यह नृसिंहशक्ति। पुनः उस 'उरुक्रम' के प्रभाव से बीजादि सभी-कुछ अपनी प्राकृतिक सीमा का अतिक्रम करके उद्वर्त्तन (evolution) को प्राप्त होता है, वह हुई वामन शक्ति। सुतरा इस प्रकार एक स्थूल बीज भी इन शक्तियों के आश्रय में ही क्रमशः विकास को प्राप्त हो रहा है। इसीलिए इस प्रकार एक स्थूल बीज भी इन शक्तियों के आश्रय में ही क्रमशः अङ्कुरादि रूप में विकास पाता है। सृष्टि में सर्वत्र इसी प्रकार से है। दृष्टि विकसित होने पर एक क्षुद्र बीज के जीवन इतिहास में भी हम इस पञ्च अवतार तत्त्व की प्रकट लीला देख सकते हैं। प्रणव के अकार-आदि पञ्च अवयव भी इसी प्रकार एक बीज के जीवन में उदाहृत होते हैं। पूज्यपाद स्वामीजी ने इसी ओर हमारी दृष्टि को घुमाना चाहा है। श्रीगणेश आदि देवताओं के तत्त्व के सम्बन्ध में भी यही एक ही बात है।

यहाँ और भी एक बात स्मरण रखना आवश्यक है, क्योंकि ये तत्त्व सर्वत्र ही सार्वजनीन वा **universal** हैं, इसीलिए जिस किसी आधार में से उनकी उपलब्धि हो सकती है। पाठक के मन में शायद यह बात खटक जाय कि श्रीगुरु का जैसा तत्त्व विश्लेषण किया गया, श्रीगणेश के समय भी तो मूलतः तदनुरूप ही दिखाई देता है। यह क्या पुनरुक्ति है? किन्तु वास्तव में यह पुनरुक्ति नहीं है। स्मरण रखना होगा कि सर्वत्र एक ही परम तत्त्व या परम देवता की महिमा का कीर्त्तन किया गया है 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'। किन्तु आधार एवं आधेय का भेद तो है—श्रीगुरु की मूर्ति एवं श्रीगणेश की मूर्ति एक नहीं है। ग्रहण और ग्रहीता के भेद से ग्राह्य भी विभिन्न हो जाता है। इसलिए अनुभूति या आस्वादन का तारतम्य है ही, यद्यपि लक्ष्य या गम्यस्थल एक ही हैं। श्रीगुरु

के दिव्य अङ्गगन्ध आदि जिसका इङ्गित दे रहे हैं, श्रीगणेश के रक्तवर्ण, गजमुण्डादि भी शायद प्रकारान्तर से उसी तत्त्व का सन्धान दे रहे हैं—इसीलिये **'नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव'**। अन्याय देवता तत्त्व के सम्बन्ध में भी यही बात स्मरण रखनी होगी, अन्यथा विभ्रम की सम्भावना है। विभिन्न देवतादि तत्त्व आर्ष दृष्टि में इसी प्रकार तो प्रतिभात हुए हैं! एक ही सब है, एक में ही सब है। एक ही 'बहुधा' भावित और कीर्त्तित होते हैं। अथच ब्रह्म की इस प्रकार से बहुधा 'कल्पना' उनका अपना ही 'एकोऽहं बहु स्याम्' इत्यादि है।

मर्मी दृष्टि विकसित होने पर इसी प्रकार देवता की मूर्ति साधक को प्रतिभात होती है। इसीलिए पूज्यपाद स्वामीजी के तत्त्व विश्लेषण में गणेश का वाहन क्षुद्र मूषिक वा धूमावती का रथस्थ काक भी छूटा नहीं है। देवता का प्रत्येक अवयव ही मानो नित्य नूतन-नूतन तत्त्व का सन्धान देता चलता है। इसीलिए नाना प्रकार से इस तत्त्व का परिचय पाकर भी वर्णन करके भी, साधक का मानो जी नहीं भरता। श्रीश्रीकालीतत्त्व के वर्णन में पूज्यपाद स्वामीजी मानो महारहस्य वारिधि की असीमता के साथ उच्छ्वसित हो उठे हैं। श्रीश्रीकालिका का कृष्णवर्ण, एलायित केश, विस्तीर्ण जिह्वा, कण्ठस्थ मुण्डमाला, करस्थ एक व्यस्त मुण्ड इत्यादि सभी रहस्यों का उन्होंने तार-तार विश्लेषण किया है। तारा की मूर्ति में मन्त्रोद्धार, मन्त्रचैतन्य इत्यादि का रहस्य, छिन्नमस्ता में महावाक्य-चतुष्टय एवं नादानुसन्धान का रहस्य; धूमावती में महाव्याहृति का रहस्य—इत्यादि को भी स्वामीजी ने हमारी दृष्टि के सामने खोलकर रख दिया है। इन सबको पढ़ते समय अत्यन्त सावधान और स्थिर चित्त से तत्त्वों का अनुशीलन करना होगा। जो इस प्रकार एक-एक तत्त्व के ध्यान में डूब सकेंगे, वही इस ग्रन्थ में दिये गये सब तत्त्वों के इङ्गित की सार्थकता की उपलब्धि कर सकेंगे। नहीं तो शायद यह सब कवि की कल्पना या उच्छ्वास ही प्रतीत होगा, जैसा कि शास्त्र में देवता आदि के ध्यान, रहस्य, स्तोत्र इत्यादि के सम्बन्ध में बहुतों को लगा करता है। इसीलिए सब के अन्त में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि वे सभी तत्त्व खिल उठेंगे, किन्तु जप के आश्रय से। इसीलिये यह साधना का धन है, कल्पना का जाल नहीं। उस साधना एक युक्तियुक्त, निर्भर-योग्य आधार इस ग्रन्थ में विश्लेषण-समन्वय के रूप में दिया गया है। इसलिए साधकमात्र के लिए ही इस ग्रन्थ की प्रयोजनीयता अपरिहार्य है। इस ग्रन्थ (१।१।१, २, ३) में जप का जो लक्षण दिया गया है उससे जप को मानव के अध्यात्मयोग की **एक** गौणी शाखा या अववाहिका नहीं समझा जा सकता; यही मुख्य धारा है, ध्यान-धारणा, मनन विचार, भाव-भक्ति—सभी कुछ इसमें क्रोड़ीकृत है। इसीलिए **जप** का जो अनुबन्ध चतुष्टय है, अर्थात् विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन, अधिकार—उसकी

सम्यक् आलोचना के लिये एक पूर्णाङ्ग दार्शनिक, वैज्ञानिक एवं क्रिया तान्त्रिक (**practical**) आधार की प्रस्तुति अपेक्षित है। वर्तमान ग्रन्थ में वैसा आधार ही लक्ष्य बना है।

इसके बाद पूजनीय ग्रन्थकर्त्ता स्वामीजी का परिचय ? एक ओर से यह विशाल अनुपम ग्रन्थ ही उनका सर्वापेक्षा सुष्ठु परिचायक है। पूर्वाश्रम में आपका नाम था अध्यापक श्रीप्रमथनाथ मुखोपाध्याय। आप उस युग में शिक्षाक्षेत्र में श्री रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी और श्री अरविन्द प्रभृति के सहकर्मी थे। तन्त्रानुशीलन में एवं तन्त्र-तत्त्व की व्याख्या में सर जॉन वुडरफ के साथ आप की सहयोगिता सुधी-समाज में प्रायः सर्व-जन-विदित है। वेद, तन्त्र, दर्शनादि के विषय में आपके अनेक प्रबन्ध निबन्ध एवं मौलिक ग्रन्थ भी पहले प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु ऐसे ग्रन्थ की आपने इससे पूर्व रचना नहीं की है। इसके विरचन-कर्म में भी कुछ असाधारणत्व रहा है। जीवन के प्रान्तभाग में आकर आप ने मानो इस ग्रन्थ में अपनी सुदीर्घ जीवनव्यापिनी साधना की परिपक्व अभिज्ञता लुटा डाली है। आशा है साधक मण्डली एवं सुधी समाज में यह ग्रन्थ समुचित समादर प्राप्त करेगा।

अन्त में, उपद्घात के श्लोकों का एक संक्षिप्त विश्लेषण सूत्र दिया जा रहा है—

सर्वप्रथम श्री गुरुरहस्य-प्रकाशिका श्लोकावली—'श्री श्रीगुरुपादाब्जदलपञ्चकम्' है। उसके बाद—

१—स्वरूप तीन वा Triune है—'सत्, चित्, आनन्द।

२—साधन तीन हैं—

(i) हंसवती ऋक् (ii) गायत्री ऋक् (iii) मधुमती ऋक्

अथवा

कर्म ज्ञान भक्ति

३—प्राण के रूप में **Triune** अभिव्यक्त है—यह प्रकाश और आकाश का मिलनकेन्द्र या मिथुनभाव, आविः और नाद का मिलित रूप, ज्ञान और गति की संधि है।

४—इसमें प्राण, काल, वायु, अग्नि, सलिल, धरित्री—ये तीन-तीन विभाग हैं।

५—तीन से पाँच— 'हं', 'यं' आदि प्राण की धारा व **हंस की संचरमाणता** है।

६—छन्द वा गायत्री की धारा—**मीनशक्ति, कूर्मशक्ति, वाराही शक्ति, नारसिंही शक्ति है।**

उसके बाद **पञ्चशुद्धि** वा **पञ्चगङ्गा** है--ॐकार में इन पांचों **का** मिलन है।

७--**पञ्चशुद्धि और त्रिमल**--अणु, तनु और पृथु। यह त्रिमल **शुद्ध होता** है, प्रणवजप से। इस प्रणव में ही **पञ्चगङ्गा और पञ्चगव्य हैं**-- एक के द्वारा वाक्शुद्धि और दूसरी के द्वारा तनुशुद्धि होती है। **स्वच्छन्दता और स्वाभाविकता**।

८--छन्द दो प्रकार के हैं--**अरिच्छन्द, मित्रच्छन्द**। इस मित्र या **मधुच्छन्द** की सहायता से विरूपता का निवारण और एकरूपता की स्थापना होती है।

९--घनीभूत, केन्द्रीभूत छन्द ही है **प्रणव, प्रणव** के आश्रय से ही साधन होता है।

१०--प्रणवरूप ईश्वर के आश्रय में वेदोज्ज्वला बुद्धि का विकास करके उनकी शंख-चक्र-गदा-पद्म-धारी मूर्त्ति का दर्शन करना होगा।

११--उसी प्रकार उनकी प्रसन्ना, वरदा शक्ति की मूर्त्ति जो काली, तारा आदि हैं, उनका भी दर्शन करना होगा एवं उनके **महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती**--इस रूपत्रय के साथ भी परिचय करना होगा।

१२--वे फिर एक ओर **मृत्युरूपिणी**, दूसरी ओर **अमृतस्वरूपिणी** हैं।

१३--ऋतच्छन्द में सत्यबोध या **प्रमाज्ञान** और मधुच्छन्द में **आनन्दबोध** होता है। बोधरूप में सत्य-अनृत आदि सभी बोध एक-रूप हैं, फिर भी उनमें सत्यत्व और आनन्दत्व भरता है, यह छन्द।

१४--उभय छन्दों के मिलन से **भूमाबोध** होता है--अन्वय और व्यतिरेक भाव से।

१५--समावृत्ति है गायत्री ऋक् मधुमती ऋक् और हंसवती ऋक् का सम्मिलित रूप--इसलिए **समावृत्ति का मन्त्र है 'ह्रौंसः'**।

१६--**अभ्यारोह** समावृत्ति के बिना नहीं होता।

१७--समावृत्ति में ही **जानना व देखना और प्रविष्ट होना**--ये तीन वृत्तियाँ रहती हैं। इसके बाद समावृत्ति के लक्ष्य और अङ्ग को भी जानना आवश्यक है।

१८--शुद्ध प्रणव में, अनाहत ध्वनि में या नाद में **जप का लय वा शान्त-भाव** होता है। यह सत्त्वोद्रेक का ही फल है। समावृत्ति ही निरुपद्रव समता है। प्राण, मन के संयम द्वारा व्यास विषमता परिहारपूर्वक समास-समता में, ॐकार की शान्त समता में स्थिति होती है--इसी को **समावृत्ति** समझना चाहिए।

१९—इसके साथ समावृत्ति की मूर्ति के रूप में श्रीगणेश और उनके मूषिक-रूप वाहन, आयुध आदि तत्त्व को भी समझना आवश्यक है।

२१—इस समावृत्ति के अलावा प्रत्यावृत्ति और परावृत्ति को भी समझना वश्यक है। वृत्ति के पाँच विभागों पर भी ध्यान देना चाहिए। तब समावृत्ति को से समझा जा सकेगा। अनुवृत्ति से आरम्भ करके इस चरम परावृत्ति तक व्यापार का जिसके द्वारा निर्वाह होता है, वही है समावृत्ति।

२१—ॐकार के द्वारा समावृत्ति का विचार—ॐकार की किस मात्रा से र होता है, उनसे क्रमशः मीन, वाराही और कूर्मशक्ति का विकास, और नसे नाद और बिन्दु के आकार में नृसिंह और वामन का उदय होता है।

—अम्भः या जल है अज्ञान या अविद्या, और उर्वी है तत्त्वसमूह का ही त्रयी—नादबिन्दुकलात्मिका, सोम-सूर्य-अग्नि-रूपा है।

सृष्टिकल्पना—नासदीय सूक्त और सृष्टिसूक्त। आविः और रात्रि, वायु और व्योम, गति और ज्ञान, आकाश और प्रकाश—इनके या प्रणव से सृष्टि है। उसी प्रकार समुद्र और अर्णव हैं।

बाद काल और संवत्सर, सूर्य और चन्द्र, दिन और रात्रि, सके इस सूर्य को, इस तेजोरूप भर्ग को केन्द्र बनाकर आये। यह काल और कलनवृत्ति ही है ईक्षण—इसके पहले तक यही समुद्र और अर्णव में भेद है।

ल की rhythmic गति, cyclic गति, शुक्ल कृष्ण गति,

ी नाभि में हैं सविता और पूषा—इसकी नाभि नेमि-

।

वर्तगति और axis of ascent (आरोह

यण, कृष्ण और राम।

र में शिवतत्त्व, अघोर आदि पञ्चमूर्ति का

र।

ेर श्रीश्रीकालिकातत्त्व। ताराप्रणवादि

नादानुसन्धान एवं महावाक्यभावना

खिलतत्त्व के व्याकलन, सङ्कलन एवं

उपोद्घात के बाद उपक्रमणी है। इस अंश की भी जप की तत्त्वात्मक एवं 'क्रियात्मक दोनों दिशाओं में उपयोगिता है।

क्रान्त एवं शान्त इन दो 'दृष्टियों' से सूचना मिलती है। आवरक-आवरणीय, प्रकाशक-प्रकाश्य, संकोचक-संकोच्य, नियामक-नियन्तव्य, ह्लादक-ह्लाद्य इत्यादि विश्व में वहमान धाराओं का अनुसरण करते हुए परम तत्त्व में पहुँचने के लिए जिन-जिन सूत्रों और सङ्केतों का विशेष रूप से अनुधावन करना होता है, उनका इस उपक्रमणी में विश्लेषण किया गया है। जैसे जपादिसाधन में सन्धि, सेतु एवं मेरु इस त्रिसूत्री का। विभिन्न विचित्र धाराओं में पतित जीव की 'समावृत्ति' के लिये बुद्धियोग एवं एकान्त शरणागति-योग की आवश्यकता दिखा कर इस अंश का उपसंहार किया गया है।

इसके बाद मूल-सूत्रांश एवं उनकी कारिकायें है। जप का लक्षण, ऋतु एवं सत्य का लक्षण; छन्द का लक्षण, व्याज एवं विघ्न का लक्षण, छन्द के मान्द्यस्थान एवं उन मांद्यस्थानों का मुख्य प्राणाग्नि में हवन—यहाँ तक वर्तमान खण्ड में सन्निवेशित हुआ है, अर्थात् प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के कतिपय सूत्रमात्र।

इस ग्रन्थ के अनुशीलन से यदि हमारी भ्रान्त और श्रान्त दृष्टि, क्रान्त एवं शान्त दृष्टि बनने का भरोसा पा सके तभी हमारा श्रम सार्थक होगा।

इति—

श्रीगोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय

निवेदन

(मूल द्वितीय खण्ड से उद्धृत)

श्रीभगवान् की असीम कृपा से जपसूत्रम् ग्रन्थ का द्वितीय खण्ड प्रकाशित हो रहा है। इस अभिनव ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के मुद्रण के फलस्वरूप सुधी और साधक समाज में जो प्रतिस्पन्दन जगा है, जो विस्मय-विमिश्र कौतूहल उद्दीप्त हुआ है, उससे हम लोग परम आशान्वित हुए हैं, यह सोचकर कि भारतवर्ष इस संशय-समाकुल युग में भी अपने प्राचीन ऐतिह्य के प्रति, साधनराज्य की गहन सम्पद् के प्रति बिल्कुल उदासीन नहीं हुआ है। श्रद्धालु पाठकवर्ग द्वितीय खण्ड के लिए दीर्घकाल से साग्रह प्रतीक्षा कर रहा है—यह भी हम लोग जानते हैं एवं हमारी आन्तरिक तत्परता रहते हुए भी इस खण्ड के प्रकाश में कुछ विलम्ब हो गया, इसके लिए हमें आन्तरिक दुःख है। पूज्यपाद स्वामीजी की दृष्टि-क्षीणता के कारण ही विशेषरूप से ग्रन्थ की प्रगति व्याहत हुई है, फिर भी उनकी अद्भुत दिव्य प्रतिभा इन सब बाधा-विघ्नों का आवरण विदीर्ण करके भी अपनी भास्वर छटा विकीर्ण करती रही है, यही परम सौभाग्य है। इस द्वितीय खण्ड में मूल ग्रन्थ के बहुत कम सूत्रों को ही स्थान मिला है। इस कारण बहुत से लोग निराश भी हो सकते हैं, किन्तु बहुत-सी महत्त्वपूर्ण कारिकायें और उनकी विस्तृत व्याख्या इसमें दी गई है। इस खण्ड को प्रधानतः 'व्याहृति खण्ड' ही कहा जा सकता है। क्योंकि व्याहृति के सम्बन्ध में ही विशद आलोचना में इसका प्रायः सम्पूर्ण कलेवर नियोजित हुआ है। विश्व वीणा इन सप्तग्रामों में सप्त सुरों में ही मिली हुई है; अपनी जीवन वीणा के तारों में जप रूप महासाधन के द्वारा इस सप्त धाम की प्रज्ञाविशाल और भक्तिरसाल भूमियों का क्रम-उन्मीलन ही साधक का लक्ष्य होता है। इसलिए व्याहृति का स्थान जपसाधना में इतना विशिष्ट और व्यापक है। आशा है प्रथम और द्वितीय खण्ड के अध्ययन से जप की प्रकृति और साधन के सम्बन्ध में एक सुस्पष्ट छवि पाठकों के मन में प्रस्फुटित हो उठेगी। पूज्यपाद स्वामीजी के लेखन में विज्ञान की दुरूह आलोचना के गुरु-गम्भीर परिवेश के बीच एक श्रेणी के पाठकवर्ग कभी-कभी कथञ्चित् श्रान्ति का अनुभव कर सकते हैं; फिर भी वे प्रायः ही भाव-मधुर एवं रस,निविड़ स्निग्धश्यामल छायाकुञ्ज में शीतल होने का स्थान भी पाएँगे—यह आश्वासन हम दे सकते हैं।

द्वितीय खण्ड के उदय के बीच एक सज्जन के अस्त ने हमें आज गम्भीर-वेदनातुर बना डाला है। इस ग्रन्थ की मूल प्रेरणा उन्होंने ही पूज्यपाद स्वामीजी के

अन्तर में सर्वप्रथम सञ्चारित की थी। एक ध्यान-मौन-निबिड़ सन्ध्या के सान्द्र लग्न में श्री बालानन्द आश्रम के पुण्य-परिवेश में अपने निभृत साधन-कक्ष में बैठ कर पुण्यश्लोक शुक्ल-सन्यासी श्री प्राणगोपाल मुखोपाध्याय पूज्यपाद स्वामीजी के साथ मानस जप के अगाध रहस्य के सम्बन्ध में चर्चा में मग्न हुए थे। उस दिन महेन्द्र क्षण में जो शुभ प्रेरणा रूप बीज स्वामीजी के प्रतिभादीप्त हृदय में सङ्कल्प रूप में आत्मसंवित् को प्राप्त हुआ, वह कुछ समय बाद ही 'जपसूत्रम्' रूपी महावनस्पति की अद्भुत अभिव्यक्ति से सबको विस्मित और पुलकित बना गया। आज इस द्वितीय खण्ड के प्रकाशन के पूर्व ही वे तनु त्याग करके अप्रकट हो गये—यह खेद पूज्यपाद स्वामीजी के हृदय में गम्भीर भाव से ध्वनित हो रहा है। वे कितने आग्रह से और कितनी साक्षात् अनुभूति के साथ इस 'जपसूत्रम्' का आलोचन और आस्वादन करते थे, वह जिन्होंने देखा और सुना है, वे ही प्रत्यक्ष जानते हैं। इसलिए मन में केवल यही खेद उठ रहा है—और किसके लिए रस का यह पसार सजा कर परिवेशन का आयोजन हो! वह आस्वादयिता आज कहाँ हैं? इस ग्रन्थ को अन्तिम कुछ श्लोकों तक वे अन्तिम रोगशय्या में साग्रह सुन गये हैं। स्वामीजी के साथ जब उनकी अन्तिम भेंट हुई तब उन्होंने कहा था—'भगवान् ने एक बड़े काम का भार (तुम पर) न्यस्त किया है, उनसे प्रार्थना करता हूँ कि यह निर्विघ्न परिसमाप्त हो'। उनकी यह अमोघ शुभेच्छा हमारे ग्रन्थ समाप्ति के पथ का अक्षय पाथेय बनी रहेगी।

प्रथम खण्ड के आत्मप्रकाश के बाद बङ्गाल में बहुत से सुधी और मनीषी सज्जनों ने इसके सम्बन्ध में नाना गम्भीर तथ्यपूर्ण समालोचना में प्रवृत्त होकर हमें उत्साहित किया है। इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम उल्लेख करना चाहिए विबुधाग्रगण्य पूजनीय आचार्य महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज के सम्बन्ध में। वे प्रथम खण्ड पढ़ कर इतने उल्लसित हुए हैं कि केवल एक नातिदीर्घ सुचिन्तित समालोचना करने का आश्वासन दिया है। हम लोग उसके लिए उद्ग्रीव रहेंगे। संस्कृत भाषा के एकनिष्ठ सेवक, सुरसिक शास्त्रमर्मज्ञ अध्यापक श्री शिवप्रसाद भट्टाचार्य की सुनिपुण विश्लेषणपूर्ण आलोचना ने हमें मुग्ध किया है। उन्होंने प्रकाशकों के जिन कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में ध्यान रखने के लिए हमें कहा है, भविष्य में हम उन सबके विषय में तत्पर रहेंगे। सुप्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० महेन्द्रनाथ सरकार की संक्षिप्त सारगर्भा आलोचना ने भी हमें अनुप्रमाणित किया है। इन सभी के प्रति हम आन्तरिक कृतज्ञता निवेदित करते हैं।

इस खण्ड के (ख) परिशिष्ट में प्रकाशित 'हंस' शीर्षक सुचिन्तित सार-गर्भ निबन्ध हमें भेज कर नीरव ज्ञानसाधक श्री मन्मथनाथ मुखोपाध्याय महाशय ने हमें अनुगृहीत किया है। इसलिए उन्हें आन्तरिक धन्यवाद विवेदित करता हूँ।

सब के अन्त में भूल-भ्रान्ति की व्याख्या के प्रसङ्ग से श्री श्रीचण्डी के प्रसिद्ध नारायणी-स्तव में 'भ्रान्तिरूपेण संस्थिता'—देवी के इस भ्रान्ति-रूप का स्वामीजी ने कुछ-एक कारिकाओं में जिस प्रकार ध्यान किया है, उसे सुधी पाठकगण के समक्ष उपस्थित करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।

त्वद्भ्रान्तिर्मम मूढस्य मातुर्मद्भ्रान्तिरीदृशी।
प्रत्यक्तया जगद्भ्रान्तिः पाशभ्रान्तिः स्मितेक्षणात्॥
रूपभ्रान्तिर्ध्वनिस्फोटे ज्योतिषि भ्रान्तिरस्य च।
ज्योतिर्भ्रान्ती रसैकस्मिन् द्वैतभ्रान्तौ रसे समे॥
भ्रान्तिभ्रान्तिर्महाश्चर्ये तूष्णीम्भावे परे स्थिता।
नवधा भ्रान्तिरूपा या नमस्तस्यै नमो नमः॥

हे माँ! मैं तुम्हारी मूढ़ सन्तान हूँ, इसीलिए मैं तुम्हें इस प्रकार भूला हुआ हूँ, किन्तु तुमने भी क्यों मुझे इस प्रकार भुला रखा है, (त्वद्भ्रान्तिः) यह भी तो मेरी समझ में नहीं आता (मद्भ्रान्तिरीदृशी)। यदि सौभाग्योदयवशतः मेरा यह बहिर्मुख चित्त अन्तर्मुखीन हो जाय, तब मुझे इस जगत् की भी भ्रान्ति हुआ करती है; और हे माँ! यदि तुम एक बार सहास्य नयन से मेरे प्रति दृष्टिपात कर दो तो मेरे सर्वविध बन्धन एवं तज्जनित महाभय की भी भ्रान्ति हो जाती है (जगद्भ्रान्तिः, पाशभ्रान्तिः)। उसके बाद जप करते-करते नाद का सन्धान मिलने पर (ध्वनिस्फोटे) जप की भ्रान्ति हो जाती है (जप भ्रान्तिः)। उसके बाद नाद के भीतर से ज्योतिः प्रकट होने पर नाद की भी भ्रान्ति हो जाती हैं (नादभ्रान्तिः)। ज्योतिः फिर रस-रूप में अपने को जब घनीभूत कर लेती हैं तब ज्योतिः की भी भ्रान्ति हो जाती है (ज्योति-र्भ्रान्तिः)। पुनश्च वह रस जब श्रुति-प्रसिद्ध 'एकरस' एवं 'समरस' हो जाता है, तब होती है द्वैतभ्रान्ति। और अन्त में जो महा अद्भुत परम तूष्णीम्भाव है—वहाँ पहुँचने पर भ्रान्ति की भी भ्रान्ति हो जाती है, परम उपरम हो जाता है (भ्रान्ति-भ्रान्तिः)। हे माँ! एवं विध नवधा भ्रान्ति के रूप में तुम संस्थिता हो; अतएव मैं पुनः-पुनः अपनी उस नवधा भ्रान्तिरूपिणी जननी को प्रणाम **करता हूँ।**

इति—

—श्रीगोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय

निवेदन

(मूल तृतीय खण्ड से उद्धृत)

'जपसूत्रम्' का तृतीय खण्ड इतने शीघ्र ही आत्मप्रकाश करेगा ऐसी आशा नहीं की थी। इसका कृतित्व हमारा प्राप्य नहीं है। यह सम्भव हुआ है केवल उस महाशक्ति के अनुग्रह से जो पूज्यपाद स्वामीजी के माध्यम से भारतीय आर्ष-विज्ञान को मानो पुनः संजीवित कर के आज के नाना मत विभ्रान्त आर्त्त मानव के लिये प्रवाहित करती रही है।* इसकी पावनी धारा में जो अवगाहन करने आते हैं, उनमें से बहुत से ऐसा अनुयोग करते सुने जाते है : जल बड़ा गम्भीर हैं—प्रवेश करके थाह नहीं मिलती, थोड़े से में ही हाँफ उठता हूँ, इसीलिए उतरने का साहस नहीं होता।' अथच जो लोग थोड़ा-सा साहस संचय करके, धैर्य का सहारा लेकर इस अक्षय सरोवर में उतरे हैं, वे लोग एक अद्भुत और अभिनव अमृत के आस्वादन से आप्यायित हुए हैं, यह भी उन्हीं की उच्छ्वसित उक्ति में सुनने को मिलता है। बहुतों की साधना में नीरस यान्त्रिक चक्रगति के स्थान पर इसने एक सरस और सोल्लास अग्रगति ला दी है, यह भी ज्ञात हुआ है। इसी में ग्रन्थ के प्रकाशन की सार्थकता है। फिर भी दुःख यह है कि गहन के प्यासे सर्वत्र ही स्वल्प होते हैं; सरल और सहज का हठ पकड़ कर हम उसी की आड़ में तरल और लघु रस के ही कंगाल बने फिरते हैं। उच्छ्वास की मादकता में कुछ देर मन भले ही भूल जाये, किन्तु अभय का आश्वास वहाँ नहीं मिलता। इसलिए अपनी सत्ता के गहन तल में गभीर रस के आस्वादन की भी योग्यता का अर्जन

---

* इस ग्रन्थ की रचना के सम्बन्ध में स्वामीजी की अपनी श्लोकमय कथा है :—

चतस्रो हि गिरो गावो दोग्धा गोपाल-गीष्पतिः।
प्रत्यग्वत्सः प्रधीः श्रेष्ठं दुग्धं जपरसायनम्॥
वैखरी प्रभृति कामदुघा, चारि वाक् चारि पयस्विनी,
साक्षात् गोपाल गीष्पति तुम, बाँधि छन्दे दुहिले आपनि।
छन्दे बाँधि मातार चरणे, प्रत्यक् पियासि वत्स-टिरे,
प्रधीजने दिले प्रियात्प्रिय, जपरसायन (कवोष्ण) दुग्धधारे।

वैखरी आदि चार वाक् चार धेनुरूपा हैं। स्वयं गोपाल गीष्पति दुहने वाले हैं। प्रधी प्रत्यक् प्यासा वत्स है और जप-रसायन श्रेष्ठ दुग्ध है। (मूल)

करना होता है, इसलिए भी प्राथमिक प्रयास अपनी ओर से आना चाहिये। इसी को गुरु-शास्त्र-महाजनों ने 'आत्मकृपा' कहा है। पूज्यपाद स्वामीजी ने भी अनेक स्थलों पर इसका इङ्गित किया है। 'पहले प्रयास, फिर प्रसाद, पहले race, फिर grace' इत्यादि। अमृत कहीं भी सुलभ नहीं है। अपने अन्तःसमुद्र के मन्थन से ही उसका उद्धार करना होता है। मन्थन के प्रयास और क्लेश से पहले सब कुछ 'विषमेव' लगता है, बहुत कड़ुआ और विरस। अन्त में रस निर्झर का उत्समुख उन्मुक्त हो जाने पर अमृत के अभिषिञ्चन से सब कुछ शीतल हो जाता है। महाजन के ग्रन्थ का भी इसी प्रकार एकान्त अभिनिवेश और अपार धैर्य धरकर मन्थन करते रहना पड़ता है, उसके अन्त में उनकी मर्मवाणी मानो अपने को स्वयं उद्घाटित करती है। एकान्त में कान में सुनाई देती है। उपनिषद् की रहस्य-भाषा में वाक् अपने अमृत का उसके लिये दोहन करके उसे पिलाती है। इसीलिए इस ग्रन्थ की आपात दुरूहता से आतङ्कित होकर शङ्कित चित्त से दूर न लौट कर इसके निकट आकर इसकी गभीर भाव तरङ्गों की महा कल्लोल ध्वनि को कान लगा कर सुनने का यत्न करने में लाभ ही है, क्षति नहीं।

और वह कल्लोल कैसी विचित्र है। महा ओङ्कार की भाँति अद्भुत और मधुर इसकी ध्वनि है। कितने ही विचित्र रागों का आलापन, कितने ही सुरों का अपरूप अनुरणन इसमें ध्वनित-प्रतिध्वनित होता चलता है! यद्यपि एक ही मूल सुर पूरे ग्रन्थ में बजता चला है, तथापि कहीं भी तनिक पुनरावृत्ति या एक-स्वरता जनित अरुचि मन को पीड़ा नहीं देती, यही विचित्र है। कहीं तो कोमल परदों पर स्निग्ध सुमिष्ट रस का उल्लासमय रूपायन है, और कहीं रूक्ष और तीक्ष्ण नव्य विज्ञान या नव्य न्याय की अवच्छेदादि दुर्धर्ष परिभाषाओं की कठोर श्रृंखला झंकार है। दोनों में ही उनका समान अधिकार है, सहज सावलील विहार है। यदि पूरे-पूरे ढंग से इस महासंगीत के सब सुरों के पर्दे न भी पहचानूं या कान से न पकड़ पाऊँ, तब भी इस परम गुणी के आश्चर्य आलापन को विमुग्ध होकर सुन जाने पर भी हृदय और मन की अनेक कालिमा धुल जाती है, कान भी जुड़ा जाते हैं, प्राण भी शीतल, स्निग्ध हो जाता है।

हमारा परम सौभाग्य है कि इस बार ग्रन्थ के प्रारम्भ में भारतीय साधन-विज्ञान के वाणीमूर्ति पूजनीय आचार्य महामहोपाध्याय डॉ० श्री गोपीनाथ कविराज महोदय का एक अमूल्य निवन्ध भूमिका के रूप में हम सन्निविष्ट कर सके हैं। पूर्वखण्ड की भूमिका में मैंने उल्लेख किया था कि वे जपसूत्रम् को हाथ में पाकर पुलकित और उच्छ्वसित हुए हैं, उन्होंने अपने आप ही इसकी एक विस्तृत आलोचना करने का वचन दिया है। यद्यपि इस बार उन्हें मूल ग्रन्थ

का सूत्र पकड़ कर विस्तृत विश्लेषण करने का समय और सुयोग नहीं मिला है, फिर भी संक्षेप में मूल ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का तन्त्रादि शास्त्रों से समर्थन और परिपोषण करके उन्होंने साधारण पाठकों के लिए इसमें प्रवेश का पथ सुगम कर दिया है।* इसके लिये हम उनके प्रति आन्तरिक कृतज्ञता निवेदन करते हैं।

ग्रन्थ का कलेवर इस बार कुछ दीर्घ हो गया है। प्रथम अध्याय के सभी पाद इस खण्ड में समाप्त हो गए हैं, एवं द्वितीय अध्याय का प्रथम पाद भी समाप्त-प्राय है। विभिन्न विशिष्ट विषयों का एक संक्षिप्त सूचीपत्र आरम्भ में दिया गया हैं। इस बार भी ग्रन्थकलेवर में थोड़े-बहुत भ्रम प्रमाद अनेक अनिवार्य कारणों से रह गए हैं, किन्तु वे अर्थ के बोधक नहीं, तो बाधक भी नहीं होंगे ऐसी आशा करता हूँ।

---

* यथा, केवल एक दृष्टान्त के रूप में शास्त्ररसिक सुधी पाठक वैखरी प्रभृति के सम्बन्ध में (जो मूल ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर आलोचित और विख्यात हैं), निम्नलिखित श्लोकों की भावना करें—

त्रयी वाक्प्राणचित्तानां निर्वाहयति याऽध्वरम्।
वाङ्मुख्या वैखरी तत्र प्राणमुख्या च मध्यमा॥
सत्त्वविशालधीमुख्या पश्यन्ती च पराऽपरा।
क्रियादिभ्यः स्वतन्त्रा या जपर्षिश्च परो यतः॥
कल्पेक्षणतपः काम ऋषिच्छन्दाध्वदेवताः॥

भावानुवाद—अध्वर (जपयाग) की निर्वाहयित्री त्रयी है—वाक् प्राण एवं चित्त। इस त्रयी का सम्पूर्ण सहयोग चाहिए। उनमें से (व्यक्त) वाक् की मुख्यता से वैखरी (वाचिक, उपांशु, मानस); (मुख्य) प्राण की प्रधानता से मध्यमा; और सत्त्वविशाल बुद्धि की प्रधानता से पश्यन्ती हैं। ये तीन क्रिया-कारक-फल-निष्पाद्या हैं। स्थूल, सूक्ष्म, अपर कारण भूमि के प्रान्त पर्यन्त इन तीनों की गति हैं, किन्तु अव्यक्त समता, समग्रता की कारणभूमि इन तीनों के भी परे है। उस भूमि पर परा है। यह परकारणता का स्थल है। इस स्थल में परा वाक् के सम्बन्ध में (विमर्श में) परतत्त्व स्वयं ही जपकर्त्ता एवं ऋषि है, जैसे प्रणव के सम्बन्ध में, एवं परतत्त्व का अनिर्वाच्य ईक्षण यहाँ ऋषि है, काम देवता है, संकल्प छन्दः है और तपः विनियोग है। अतः इस दृष्टि से परा वाक् परतत्त्व की साक्षात् विमर्शरूपा है, वाङ्मयी पर-कारणभूमि है। अपर, पर, एवं परम में भेद है। एक प्रकार से पश्यन्ती की गति इन तीनों में ही सम्भावित होती है। (मूल)

अन्त में पूज्यपाद स्वामीजी के मानसमुकुर में जिस चैतन्य-चन्द्रिका के अद्भुत उद्भासन से इस नित्य नव ज्ञान का विकिरण होता आ रहा है, उन्हीं की रचित एक वन्दनागीति के सुर मिला कर हम उस चन्द्रिका का वरण करते है :

आगमाक्षरनक्षत्रलाजमङ्गलरोचिषम् ।
चिन्नभः-कौमुदी-चेतः–सरः–कुमुदिनीमुदम् ।
वृण्वे सत्स्मितसारं मे वल्लभास्यसुधाकरम् ।।

तारका वीथिर छले, आगमेर मन्त्र-वर्ण-राजि,
जा'र रुचिरोचिषेरे, डाले लाज मङ्गल अञ्जलि ।
चिदाकाशे विकिरण, चिर जार कनक-कौमुदी,
चित-सरसी ते मोर, कुमुदिनी आनन्द-दीपाली ।
चिदानन्दे सम्प्रसाद, सत्य स्मित अमृतेर सार,
वरि मम वल्लभेर, (सेई) मुखशशि-रुचि बारम्बार ।।

[भावानुवाद—मैं अपने वल्लभ के मुखचन्द्र का वरण करता हूँ । उनके मुख की कान्ति को आगमों के मन्त्रवर्ण नक्षणों के व्याज से लावे की मङ्गल अञ्जलि डालते हैं । चिदाकाश में उनकी कौमुदी का नित्य विकिरण होता है । मेरे चित्त-रूपी सरोवर में वह कौमुदी कुमुदिनी को आनन्द देती है । सत्यस्मित-रूपी अमृत सार से वह मुखचन्द्र पूर्ण है ।]

श्री गोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय

———

निवेदन

(मूल चतुर्थ खण्ड से उद्धृत)

बिन्दु से ही सिन्धु की सृष्टि होती है। जपसूत्रम् ने जब एक दिन सूत्राकार में क्षीण और सूक्ष्म कलेवर लेकर आत्मप्रकाश किया था, तब उसी सूत्र के ही ताने और बाने में लम्बाई और चौड़ाई में यह सुविपुल महाग्रन्थ अध्यात्म शिल्प के एक विचित्र निदर्शन के रूप में अपने को फैलायेगा, ऐसी कल्पना किसी ने नहीं की थी। देखते-देखते श्रीभगवान् की असीम कृपा से इसका चतुर्थ खण्ड इस बार प्रकाशित हुआ। कहाँ, कब इसका उपसंहार होगा इसका निर्देश, विज्ञप्ति देना भी हमारे लिए सम्भव नहीं है, क्योंकि साधारण आत्मसचेतन रचना में जिस प्रकार परिसमाप्ति की एक सुनिर्दिष्ट परिकल्पना लेकर सब लोग अग्रसर होते हैं, इस क्षेत्र में उसका व्यतिक्रम और अभाव है। पूज्यपाद स्वामीजी सर्वदा ही यह अनुभव करते हैं कि यह रचना उनकी कृति नहीं है; जो निखिल के 'दृष्टिमतिरतिप्रदः' हैं यह उन्हीं का अपना विचित्र विलास है, इस क्षेत्र में एवं द्विसहस्राधिक कारिकाश्लोकों में पहले से ही प्रस्तुत रहने पर भी सूत्रों के व्याख्यान-विवृति-विस्तार में एवं प्रसङ्गतः नव-नव छन्दो-भाव-वैभवमयी श्लोकसृष्टि में, ग्रन्थ कलेवर अचिन्तित रूप से विपुल से विपुलतर हो चला है, अतएव जपसूत्रम् की प्रतिपाद्य मूलवस्तु-संस्था सुनिर्दिष्ट रहने पर भी उस सम्बन्ध में ध्यान, मनन आदि की जो धारा क्रम वर्धमाना हो चली है, वह कब परिपूर्णता में पहुँचेगी, यह एक मात्र वे सर्वपरिपूर्णताधार ही जानें।

बहुत लोगों को इस प्रकार परिसमाप्ति के विषय में परिकल्पना हीन रचना, कहीं-कहीं असम्बद्ध, दुर्बोध भावयुक्त और भाषा विलास मात्र प्रतीत हो सकती है, किन्तु शास्त्र रसिक मात्र ही जानते हैं कि स्थूलतः नाना परस्पर विरोधी विच्छिन्न वाक्यराशि के बीच समन्वय का स्वर्णसूत्र खोज निकालना ही विशारदी बुद्धि का यथार्थ काम है। जो लोग इतने से परिश्रम से पराङ्मुख हैं, उन्हें वेद उपनिषद् गीतादि सभी अध्यात्म-शास्त्र अनेक स्थलों में विविध व्यामिश्र वाक्यों की जटिलता के रूप में ही प्रतीत होंगे। वे लोग सोचते हैं कि स्तूपीकृत काचखण्डों के बीच दो चार मणिखण्ड भी शायद बिखरे हुए हैं। इसीलिए वेदान्त दर्शन 'शास्त्रयोनित्वात्, इस सूत्र में ब्रह्म वा आत्मा का प्रमाण एकमात्र शास्त्र को कहकर ही क्षान्त नहीं हुआ है, परवर्त्ती सूत्र में ही 'तत्तु समन्वयात्' कहकर उसने इस अमूल्य समन्वय-तत्त्व की प्रयोजनीयता समझाई है।

जपसूत्रम् में भी सर्वप्रथम वह मूल रागिणी पहचान लेना आवश्यक है। जपसूत्रम् मुख्यतः मन्त्रशास्त्र है, इसीलिए इसकी नाना सुर लहरी घूम-फिर कर सर्वमन्त्र मूल उस परम ओङ्कार को ही स्पर्श करके आवर्त्तित होती रही है। ॐकार का द्विविध प्रकाश है—एक उसकी पाद की दिशा है, दूसरी मात्रा की दिशा है। चेतना के विभिन्न पर्वों में व्याप्त जो प्रकाश है, वह पाद की अभिव्यक्ति है, तदनुरूप स्पन्दन का उन्मेष मात्रा का निर्देश करता है। एक ओर ज्ञान की धारा है, दूसरी ओर क्रिया की धारा है। स्पन्दन के आश्रय से चेतना का उन्मेष ही जपादि-साधन का लक्ष्य है। जपसूत्रम् में भी इन दोनों दिशाओं की आलोचना सर्वत्र फैली हुई है; एक दुरूह तत्त्वालोचना की धारा है, दूसरी मन्त्रादि स्पन्दन के नियामक वर्ण-रसायन का निपुण विश्लेषण है। जैसे इस खण्ड में 'अक्षर' प्रभृति को दार्शनिक तत्त्वालोचना में स्थान मिला है, वैसे ही ॐकार के विभिन्न विवर्तनों में किस प्रकार साधारण लोगों के लिए सुगम 'राम' या 'माँ' नाम प्रकट हुआ है, इसका भी विचित्र विवरण दिया गया है। हमारे देश के अध्यात्म शास्त्र ने सर्वत्र ही इन दो क्रमों का अनुसरण किया है। पातञ्चल योगदर्शन में समाधि लाभ की उपयोगी क्रिया का वर्णन किया गया है। गीता में पहले ही द्वितीय अध्याय में दुरूह सांख्ययोग में आत्मतत्त्व की दुरधिगम्य आलोचना की अवतारणा है, एवं वाद में कर्मयोगादि के प्रसङ्ग में उसी की साधन सरणी विभिन्न पर्वों में अष्टादशः अध्याय तक सुविन्यस्त है। योगवासिष्ठ ने भी **'द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य'** कहकर इस युग्म पक्ष का इङ्गित दिया है। एक **'सम्यगवेक्षणम्'** या ज्ञानधारा है, दूसरी **'प्राणस्पन्द-निरोधनम्'** या क्रिया की धारा है। इस उभयधारा के वीच से गुप्त सरस्वती की भाँति भक्ति की फल्गु धारा बहती है। इस त्रिधारा के सार्थक समन्वय रूप महात्रिवेणी सङ्गम में जो अपने को निमज्जित कर सकते हैं, उन्हीं की साधना सिद्धि की सफलता और पूर्णता की महिमा से मण्डित होती है।

दुःख की वात है कि आधुनिक युग के प्रयास विमुख जनसाधारण में किसी भी धारा को निष्ठा के साथ पकड़ने या समझने का धैर्य नहीं है, अनुष्ठान तो दूर की वात है। किसी महापुरुष का निश्चिन्त पदाश्रय लाभ करके आयास के बिना भवसिन्धु उत्तरण के लिये ही सभी व्याकुल हैं। किन्तु यथार्थ 'आश्रय' लाभ होने पर निरुद्वेग और निरापद अवस्था का जो वोध जीवन को अनाविल प्रशान्ति से भर डालता है, उसका कोई लक्षण किसी के भी चित्त में प्रस्फुटित होते देखा नहीं जाता। हम लोग सभी भूल बैठे हैं कि संसार में वासना का धन तथा साधना का धन जो कुछ भी खरीदना चाहें, वह यथार्थ मूल्य के बिना नहीं मिलता। **कृष्ण-भक्ति-रस-भाविता-मतिः'** अति उपादेय और आकांक्षणीय वस्तु है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु इसीलिये क्या केवल गद्गद् उच्छ्वास से दो बिन्दु अश्रुपात से ही वह मिल

जायेगी ? इसीलिये भक्त महाजन साथ-साथ मूल्य भी तय कर देना भूले नहीं हैं— '**तत्र लौल्यमपि मूल्यमेकलम्**' वह भी फिर '**जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते**'। 'जप-सूत्रम्' की आलोचना से लोगों को प्रबुद्ध करने में आशानुरूप प्रतिस्पन्दन जो नहीं मिलता, उसका कारण यही है कि इस युग का मनुष्य मूल्यदान में असम्मत हैं, तपस्या से विमुख है, परिश्रम में कातर है। मेरे पूजनीय चरण आचार्यदेव महा-महोपाध्याय श्रीगोपीनाथ कविराज महाशय इसीलिये दुःख व्यक्त कर रहे थे कि वे सभी को इस अपूर्व ग्रन्थ के पठन और आलोचन में प्रोत्साहित करते हैं, किन्तु सभी इसकी दुरूहता के कारण अग्रसर नहीं होना चाहते। दुरूह को बोधगम्य करने के लिए बुद्धि का जितना प्रयास और सुस्थिर विनियोग अपेक्षित है, उतना वे करने को राजी नहीं हैं। किन्तु काल भी अनन्त है, देश भी असीम है; अतः यह महाग्रन्थ जिस किसी देश वा काल में किसी निष्ठावान् साधक के हाथ में पड़ कर उसे अवश्य ही उत्फुल्ल और उल्लसित कर देगा। उसकी साधना में नूतन प्रेरणा और रस का संचार करेगा, इस उद्देश्य से हमारा ग्रन्थ प्रकाशन है।

'जपसूत्रम्' के और एक वैशिष्ट्य की ओर सभी की दृष्टि आकृष्ट हुई होगी, वह है एक-एक शब्द को पकड़ कर उसके प्रत्येक वर्ण का विश्लेषण करते हुए उसका निगूढ़ मर्मार्थ पकड़ने का प्रयास। यहाँ भी कई लोगों के मन में धारणा हो सकती है कि यह केवल यादृच्छिक कष्टकल्पना है, किन्तु यह हमारी सुप्राचीन पद्धति का ही पुनरुज्जीवन है। वेदमन्त्रों की व्याख्या में भी निरुक्त-कार यास्क एवं उनके भी पूर्ववर्ती और्णनाभ, स्थौलष्ठीवि, शाकपूणि प्रभृति आचार्यों ने इसी रीति का अनुसरण करके वेद के रहस्यार्थ के उद्घाटन की चेष्टा की है। यहाँ तक की कि उन लोगों से भी पहले स्वयं ऋषिवृन्द ने उपनिषद् में विविध विद्याओं के प्रसङ्ग में, जैसे उद्गीथ-विद्या में 'उत्+गी+थ' प्रत्येक अक्षर की व्यञ्जना का इस प्रकार विश्लेषण किया है। हमारे आधुनिक मार्जित (?) भाषाविज्ञानी की बुद्धि को यह सब अब हास्यकर प्रयास प्रतीत हो सकते हैं, किन्तु साधनराज्य के गहन लोक में जो भी प्रवेश करना चाहते हैं, वही इनका निगूढ़ संकेत मूल्य समझ कर धन्य होते हैं। जैसे निगम में, वैसे ही आगम में भी इस वर्ण विश्लेषण ने एक विशिष्ट स्थान पर अधिकार कर रखा है, बीज-मन्त्रादि सब कुछ ही इन स्वर-व्यंजनों के नानाविध संश्लेष-समन्वय के रहस्य पर प्रतिष्ठित हैं। यहाँ तक कि समस्त सृष्टि का विकास रहस्य भी इस वर्णमाला के बीच ही संगोपन में सुरक्षित है। महामहेश्वर अभिनव गुप्ताचार्य ने अपने सुप्रसिद्ध तन्त्रालोक नामक महाग्रन्थ में तीन मूल स्वर 'अ इ उ' के आश्रय से ही विश्व सृष्टि की व्याख्या की है—

'योऽनुत्तरः परः स्पन्दो यश्चानन्दः समुच्छलन् ।
ताविच्छोन्मेषसंघट्टाद् गच्छतोऽतिविचित्रताम् ॥'

सबके मूल में 'अनुत्तर' रूप में परम परिसीमा में पड़ा हुआ है 'अ'कार; उसके वाद अपने को कुछ दीर्घ, विस्तृत करके 'आ'कार में उच्छल 'आनन्द' का समुल्लास है; उस आनन्द से ही 'इ' कार में सृष्टि की 'इच्छा' या काम वीज की उत्पत्ति, बाद में 'उ' कार में उस वीज का ही उन्मेष या अङ्कुरोद्गम है। 'अ आ इ उ' इन कुछ एक स्वरों के संघट्ट वा परस्पर सम्मिलन से ही इस अतिविचित्र विश्व का विकास हुआ है। साधक के लिये इस संकेत का मूल्य अपरिसीम है, क्योंकि यही उसे ध्यान की निविड़ता में समाधि के गभीर गहन में डुबा देता है। 'जपसूत्रम्' में भी इसी प्रकार इतने स्तोत्र मन्त्रों पर अभिनव प्रकाश डाला गया है कि सोचकर विस्मित होना पड़ता है। पूज्यपाद स्वामीजी ने इन सब क्षेत्रों में आर्ष ऋषियों की सनातन धारा का ही पूनरुज्जीवन किया है। उस ऋषि जुष्ट पथ से ही नाना विलुप्त मणि-मणिक्यों का समुद्धार करके ला दिया है। यह सब उनकी कष्ट कल्पना का व्यर्थ प्रयास नहीं है—यह वताने के लिए ही ऊपर कुछ-एक बातों की अवतारणा की गई।

'जपसूत्रम्' का तृतीय खण्ड पूजनीय आचार्यदेव महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज महाशय की अमूल्य भूमिका से समृद्ध हुआ था। उसमें विशेषतः तन्त्रशास्त्र की ओर से जपसाधना के अनेक गूढ़ तात्पर्य और अज्ञात तथ्य सब के लिये उद्घाटित हुए हैं। इस बार हमारे विशेष सौभाग्यवशतः और एक विशिष्ट साधक और मनीषी श्रीमद् अनिर्वाण वेद की दृष्टि से जप-रहस्य के उद्घाटन में अग्रसर हुए हैं। उन्होंने एक बहुमूल्य संक्षिप्त निबन्ध में वेद में जपादि साधन का जो मूल सुगोपन में संरक्षित है, उसका कुछ परिचय अपनी साधनलब्ध प्रज्ञा के भास्वर आलोक से प्रकाशित किया है। स्वप्न देखता हूँ कि कब इन सब महामनीषी और साधकों के समवेत सार्थक प्रयास से पुनः आर्ष साधन विज्ञान पूर्ण गौरव से आत्मप्रकाश करेगा! शायद हमारा यह विच्छिन्न प्रयास उसी की सूचना या पूर्वाभास मात्र है।

जप के सम्बन्ध में नाना तथ्य और तत्त्वों के भार से पीड़ित होकर बहुतों का मन शायद इसकी वास्तव कार्यकारिता के सम्बन्ध में आस्था खो बैठे, यह केवल सार्थकता विधूत वाक्य विलास एवं भावविलास प्रतीत होने लगे, किन्तु निष्ठा के साथ साधना में आत्म नियोग करने पर श्रीगुरु दत्त नाम या महामन्त्र अब भी साधक पर किस प्रकार कृपा करते हैं इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति का सामान्य विवरण इस बार परिशिष्ट के रूप में सब से अन्त में ग्रन्थ के उपसंहार में दिया गया है। यह

सब साधक की एकान्त गुह्यातिगुह्य अनुभूति का परम गोप्य विवरण है, इसीलिए साधारण के सामने प्रकाशित करने में स्वभावतः ही कुण्ठा होती है। किन्तु यह महासाधक अब लोकलोचन अगोचर दिव्य धाम में चले गये हैं, अतएव इस विवरण के प्रकाश से उनकी महिमा के प्रचार से, किसी क्षति की सम्भावना नहीं है, वरं नाम की महिमा के उद्घोषण से लाभ ही है, यह सोचकर ही इसके प्रकाशन का हमने साहस किया है। 'जपसूत्रम्' के प्रकाशन में इन महापुरुष की प्रेरणा ही प्रथम और प्रधान थी, वही थे इसके प्राण। 'जपसूत्रम्' की प्रत्येक बात उनकी दिव्यानुभूति की वीणा में जो झङ्कार जगाती थी, उसी का उल्लास नित्य नवीन रचना में ग्रन्थ-कार को उद्‌बुद्ध करता था। वह आश्चर्यमय आदान-प्रदान भाव विनिमय केवल अन्तर का ही आस्वाद्य था। उस दिव्य आस्वादन की स्मृति आज भी हृदय को अमृत से भरे हुए हैं। यह अपूर्व विवरणी पढ़ते समय दो बातें ध्यान में रखने की हैं, प्रथमतः यह कि साधक में नाम मानो अपने आप क्रिया करता हुआ चलता रहा है, वे स्वयं केवल नीरव साक्षी या द्रष्टा के रूप में देह के विभिन्न अवयवों से नाम के उत्थान और गतिभङ्गी को ध्यान में लेते चले हैं। द्वितीयतः केवल ध्वनि के स्पन्दन गुञ्जन का अनुसरण करने पर वह यान्त्रिक क्रिया मात्र ही रह जाती है। किन्तु नाम जो चैतन्यशक्ति है, उसका परिचय तभी मिलता है, जब संकीर्ण जैव चेतना प्रसारित होते-होते दिव्य चेतना में स्थिति लाभ करती है। क्रिया की सार्थकता बोध के उन्मेष और व्याप्ति में ही है, विवरणी के शेषांश में इसी का इङ्गित दिया गया है। **सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'** यह जपरूप कर्म में विशेष भाव से प्रयोज-नीय और सर्वदा स्मरणीय है।

प्रत्येक बार परिशिष्ट में जिनकी एक ज्ञानगर्भ रचना सन्निविष्ट करके हम ग्रन्थ का गौरव बढ़ाते थे, अत्यन्त दुर्भाग्य की बात है कि मेरे उन परम पूजनीय अध्यापक श्रीमन्मथमाथ मुखोपाध्याय को इस बीच हम खो बैठे हैं। वे पूज्यपाद स्वामीजी के अग्रज थे। इसीलिए अपने प्रतिभावान्, सर्वत्यागी अनुज की इस रचना के प्रति उनका केवल गम्भीर ममताबोध था इतना ही नहीं, अन्तर के अनुभव से वे इसका आस्वादन करते थे। सद्‌गुरु से नाद-साधना में दीक्षित होकर पूरा जीवन गम्भीर महानिशा की स्तब्ध मौनता में वे विश्वसंगीत के छन्द और सुर में अपनी वीणा मिलाने का नियमित प्रयास करके कृतकृत्य हुए थे। कर्म जीवन में वे सरकारी शिक्षा विभाग में दर्शन के अध्यापक थे, एवं कृष्णनगर कॉलेज के उपाध्यक्ष के रूप में प्रायः बीस वर्ष पहले उन्होंने अवकाश ग्रहण किया था, उसके बाद वर्धमान के अन्त-र्गत अपने ग्राम चाण्डुली में प्राकृतिक परिवेश के बीच उन्होंने सबसे अलक्षित रहकर नाम-साधनों में एवं ज्ञानानुशीलन में अपने को डुबाये रखा था। दर्शन उनके अवसर-

विनोदन का विलास नहीं था, जीवन का नियामक था। 'ज्ञान एवं रस दोनों से ही उनका जीवन सुसमृद्ध था। उनका पठन का विषय इतना विस्तृत था कि वह दर्शन की सीमा का अतिक्रम करके साहित्य, विज्ञान, ललित कला प्रभृति सभी क्षेत्रों में समान रस और प्रेरणा प्राप्त करता था। अपनी गम्भीर चिन्ताराशि को वे प्रतिदिन ही लिपिबद्ध करके रखते थे। इन दिनों वेद के अनेक तत्त्व, विशेषतः 'सोम' उन के एकान्त ध्यान का विषय बना हुआ था। उनकी रचनावली के अंश विशेष भविष्य में प्रकाशित कर सकूंगा, ऐसी आशा है। 'जपसूत्रम्' के विरल बोद्धाओं में से और भी एक चले गये हैं। यह शून्यता फिर से पूर्ण होने की नहीं है।

श्री गोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय

निवेदन

(मूल पञ्चम खण्ड से उद्‌धृत)

'जपसूत्रम्' के पञ्चम खण्ड ने आत्मप्रकाश किया है। गत चार खण्डों में विविध कला वितान में जप का प्रसङ्ग जिस प्रकार विस्तृत भाव से आलोचित होता आया है, उसमें मूल ग्रन्थ का केवल प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्याय का प्रथम पाद मात्र अतिक्रान्त हुआ है। अथच मूल ग्रन्थ चार अध्याय और सोलह पादों में सम्पूर्ण होता है। इस क्षेत्र में ग्रन्थ की परिसमाप्ति विलम्बित है, कलेवर भी क्रमशः दीर्घायित होगा ऐसी सम्भावना ही थी; किन्तु जो सर्वभूतान्तरात्मा कर्माध्यक्ष हैं, वे ही पूज्यपाद स्वामीजी को अब की बार इस महाग्रन्थ के समापन की ओर खींच ले चले हैं। इसीलिए इस पञ्चम खण्ड में द्वितीय अध्याय के बाकी तीन पाद एवं तृतीय अध्याय के भी दो पाद गृहीत और आलोचित हुए हैं। अन्तिम और एक खण्ड में वे इस महाग्रन्थ का उपसंहार कर सकेंगे, ऐसी उनकी अन्तः-प्रेरणा है।

इसीलिए यह खण्ड पूर्व-पूर्व खण्डों से कुछ विलक्षण है। यहाँ प्रधानतः लक्षण अथवा संज्ञा के निर्देश के संक्षिप्त परिसर में तत्वों को ध्यानगम्य बनाया गया है। हमारे सभी शास्त्र संज्ञा-निर्देश की सुसंयत महिमा से समुज्ज्वल हैं। कोई भी तत्व बुद्धि को तब तक ग्रहणीय नहीं होता, जब तक सुस्पष्ट संज्ञा और लक्षण से वह निर्दिष्ट नहीं होता। लक्षण का काम है **'इतरयोगव्यवच्छेद'**। अर्थात् अन्य सब कुछ के योग से व्यवच्छिन्न या पृथक् करके शुद्ध रूप से एकान्त भाव से अपने निजस्व रूप को स्फुट करना। यहाँ अव्याप्ति-अतिव्याप्ति अर्थात् लक्षण की नितान्त सङ्कीर्णता या व्यापकता इत्यादि दोषों का यत्नसहित परिहार करके विशेष निपुणता के साथ लक्षण निर्देश करना होता है। यहीं पर न्याय की परिभाषा की सार्थकता है। अवच्छेदक, अवच्छिन्न, प्रतियोगित्व इत्यादि दुरूह पारिभाषिक शब्दों से हमारा आधुनिक शिक्षित मन विव्रत और विपर्यस्त होता है, फिर भी इनकी उपयोगिता अस्वीकार नहीं की जा सकती। पूज्यपाद स्वामीजी ने भी लक्षण-निर्देश में प्रधानतः इस प्राचीन शैली का ही अनुसरण किया है।

विशद बङ्गला व्याख्या में उन्होंने इन पारिभाषिक शब्दों को यथा-सम्भव खोलकर उनका अन्तर्निहित तात्पर्य प्राञ्जल भाव से समझाया है।

फिर भी हमारा दुरूह, पराङ्मुख मन सहज और सरल का हठ करके बैठा है, इसलिए उन सब को अग्राह्य करके या आलस्यवश उनकी उपेक्षा करके ही चलना चाहता है। किन्तु चाहे जो साधन हो, उसके सिद्धान्त या तत्त्व के सम्बन्ध में सुस्पष्ट धारणा न रहने पर अधिक दूर अग्रसर नहीं हुआ जाता एवं इस सुस्पष्ट धारणा के लिए ही, लक्षणादि को इतना रगड़ना और माँजना पड़ता है। इसीलिए हमारे देश में भक्तिशास्त्र ने भी केवल लीलाचिन्ता में विभोर होकर अपनी सार्थकता का प्रतिपादन नहीं किया है, अन्तरङ्गा, बहिरङ्गा, तटस्था आदि शक्ति प्रभृति की परिभाषा से अपने सिद्धान्त के संस्थापन में उसने प्राण-पण से प्रयास किया है। चैतन्यचरितामृत के पूजनीय ग्रन्थकार श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी ने श्रीश्रीगौरलीला का वर्णन करते हुए भी इन सब वैष्णव-सिद्धान्तों का प्रसङ्ग आरम्भ में ही उठाया है। कहीं लीला के सरस वर्णन के श्रवण में उत्सुक और अधीर पाठकवर्ग इस अंश को नीरस और दुर्बोध्य, गौण अप्रयोजनीय मान कर इसकी उपेक्षा न कर बैठें, इसलिये वे सावधान वाणी का उच्चारण करना भी भूले नहीं हैं। उनकी वह अमूल्य वाणी प्रत्येक साधक का कण्ठहार होने योग्य है—

'सिद्धान्त बलिया चित्ते ना करो आलस।
इहा हइते कृष्णे हय सुदृढ़ मानस ॥

अतः भक्ति भी केवल तरल उच्छ्वास ही रह जाती है, यदि वह सुचिन्तित सिद्धान्त पर सुप्रतिष्ठित न हो। जो लोग समझते हैं कि ज्ञान के प्रखर ताप से भक्ति की निर्झरिणी विशुष्क हो जाती है, वे लोग श्रीभगवान् के निज मुख की उक्ति **'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिविशिष्यते'** को ही भूल जाते हैं श्रीमद्भागवत के भी ध्यान के विषय **'जन्माद्यस्य यतः'** वे **'सत्यं परं'** हैं, जो **'न खलु गोपिकानन्दनः'** किन्तु **'अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्'** हैं।

यहाँ यह प्रसङ्ग अवान्तर लग सकता है, किन्तु इसकी अवतारणा केवल यही दिखाने के लिए है कि हमारी बुद्धि को स्वाभाविक अलसता और तामसिकता से उद्बुद्ध करने के लिये महाजनों के अनलस निरवच्छिन्न प्रयास के स्वाक्षर भारत के विविध अध्यात्म-शास्त्रों में उत्कीर्ण हैं। 'जपसूत्रम्' में भी उसका व्यतिक्रम नहीं हुआ है। पूज्यपाद स्वामीजी ने एक ओर जैसे आधार, अधिष्ठान, निधान, आश्रय, इत्यादि वेदान्त के तत्त्वों का लक्षण-निर्देश करने में कार्पण्य नहीं किया है, वैसे ही वराह, नृसिंह, वामन आदि पौराणिक तत्त्वों के रहस्योद्घाटन में भी वे तत्पर हुए हैं, साथ-साथ तत्त्व की दृष्टि से अकार, इकार, उकार आदि वर्णों एवं अन्तर्निहित तात्पर्य के विश्लेषण में भी उनका समान आग्रह है। उनकी समन्वयी दृष्टि के

स्वच्छ आलोक में वेदान्त, पुराण, तन्त्र आदि प्राचीन अध्यात्मशास्त्र, यहाँ तक कि आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान के तत्त्व भी एक अखण्ड तात्पर्य से समुद्भासित हैं। इसीलिये जपसूत्र का जो निष्ठा के साथ पाठ करेंगे, उनकी आर्यसाधना की विभिन्न शाखाओं की परिक्रमा भी साथ-साथ हो जायेगी। नव्य विज्ञान के आलोक में सनातन सत्य मिथ्या या म्लान नहीं हो गये हैं, और भी प्रोज्ज्वल और परिपुष्ट हो गये हैं, इस प्रत्ययलाभ से वे धन्य होंगे।

उपसंहार में और एक विषय के प्रति पाठकवर्ग की दृष्टि आकर्षित करके शान्त हो जाऊँगा। पूज्यपाद स्वामीजी ने इस महाग्रन्थ में वेदान्त, तन्त्र, पुराण या विज्ञान के जो भी प्रसङ्ग उठाये हैं, उन सभी का मूल लक्ष्य एक ही है—जपविज्ञान को ही नाना-भाव से समझने का प्रयास। नहीं तो केवल कुछ तत्त्व या लक्षण जान लिए या सीख लिये या उनके द्वारा अपने पाण्डित्य का ख्यापन किया, यह यहाँ का लक्ष्य नहीं है। जैसे 'निरपेक्षाक्षरत्वमाधारत्वम्' (मूल पंचम खण्ड पृ० १) इस लक्षण में 'निरपेक्ष' इत्यादि शब्दों के सूक्ष्म विश्लेषण को समझ लेने से ही नहीं हो जायेगा, ओङ्कारादिजप में आधार क्या है, एवं कैसे उस आधार में जप को मिलाना होता है, यह जानने पर ही आधार को ठीक से जानना तथा समझना हुआ—ऐसा मानना होगा। वैसे ही आधार को सामान्यतः वस्तु दृष्टि से 'वज्रसत्त्व' या क्षयहीन तल के रूप में, शाक्ती दृष्टि से 'मूलाधार' के रूप में, मान्त्री दृष्टि से ओङ्कार और गायत्री के रूप में एवं यान्त्री दृष्टि से 'हृल्लेखा' के रूप में विभिन्न दृष्टिकोणों से जानने या पहचानने पर ही बोध पूर्णाङ्ग होता है। जपसूत्रकार ने बार-बार स्मरण करा दिया है कि आर्ष दृष्टि से बोध तभी पूर्णाङ्ग एवं फल-पर्यवसायी होता है जब 'विद्यया-श्रद्धया-उपनिषदा' उसका अनुशीलन होता है। हम भी अपनी-अपनी जप-क्रिया में यदि इन तीनों का सम्मिलन साध कर जप का 'आधार' या 'अधिष्ठान' क्या है, जप के बीच ही 'वामन' या 'नृसिंह' आदि कहाँ कैसे छिपे हुए हैं, जप के अक्षरों में से अकारादि किसकी व्यञ्जना या इङ्गित वहन कर के ला रहे हैं, इत्यादि—इस प्रकार 'ध्यान लगायें' अर्थात् गम्भीर-गहन में प्रवेश का प्रयास करें तभी ग्रंथ की सार्थकता, ग्रन्थकार के सुविपुल आत्मनियोग की चरितार्थता एवं हमारे अपने अपने जीवनसाधन की भी कृतार्थता होगी।

श्रीगोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय

निवेदन

(मूल षष्ठ खण्ड से उद्धृत)

'जपसूत्रम्' इस बार उपसंहार के पर्व में आ पहुँचा है। नदी अब नदीनाथ में मिल गई है। जिस दिन दो-चार पंक्तियों के क्षीण स्रोत से होकर इस निर्झ-रिणी का निर्गमन हुआ था, उसी दिन से इसका पूर्ण सिन्धु में निमज्जन भी मानो सुनिर्दिष्ट था। बृहदारण्यक उपनिषद् की भाषा में तभी यह मालूम था—'*समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः'। ६ विस्तृत खण्डों में आज इसने एक विपुल महोदधि का आकार धारण कर लिया है। इसका तल दुरवगाह है, कल्लोल विचित्र हैं, इसके अतल में न जाने कितने मणि-माणिक्यों की झिलमिल है ! प्राण की प्रेरणा से प्रत्य-गात्मा के हृत्कन्दर से यह उत्सारित हुआ है, इसीलिये इसका कभी विनाश नहीं, कहीं अवसान नहीं। 'श्रीगुरुपादाब्जदलपञ्चकम्' में श्रीगुरुपादपद्म का स्मरण करके गोविन्द को लक्ष्य करके 'जपसूत्रम्' की यात्रा शुरू हुई। इसके उपसंहार में भी वही एक ही बात है। इसकी अन्तिम पंक्ति में भी वही एक ही सुर है। त्रिवेणी की तीन धाराओं में "मुख्यतमा हैं भगवान् की अनुग्रहाख्या शक्ति के परम-धन-विग्रह रूप श्रीगुरु की कृपा" (मूल षष्ठ खण्ड पृ० ३८४)। इसीलिये इस महायात्रा के प्रारम्भ में भी जैसे श्रीगुरु हैं, इसकी निर्विघ्न परिसमाप्ति के मूल में भी वही हैं; सब कुछ उस गुरुशक्ति की ही अपार महिमा है।

'जपसूत्रम्' इस नाम से ही स्पष्ट है कि इसका मुख्य विषय या आलोच्य विषय 'जप' है। जप मुख्यतः मन्त्रात्मक है। इसीलिये मन्त्र का स्वरूप निर्णय इसका एक प्रधान अंग है, इसे त्रिवेणी की मुख्य धारा कहा गया है। इस प्रसंग में कितने असंख्य बीजमन्त्र, नाम इत्यादि का रहस्य-विश्लेषण करके दिखलाया गया है। यह मुख्य धारा जब अपने गति-पथ पर यथायथ भाव से कुछ दूर अग्रसर हुई तब मुख्यतरा एक अन्य धारा आकर उसमें मिलित हुई। यह है इष्ट या आराध्य या मन्त्रेश्वर की धारा। मन्त्र के हृद्देश में, केन्द्र-कोरक में वे अधिष्ठित हैं जो मन्त्र के देवता हैं, जो मन्त्र के 'मधु' हैं, जो मन्त्र के प्राण या चैतन्य हैं। तन्त्र की रहस्य-परिभाषा में यही बिन्दु हैं। इस बिन्दु की ही विगलित धारा है नाद। यही मधु निष्यन्द वा मधु प्रवाह है। मन्त्र में जब तक इस 'मधु' का संस्पर्श नहीं मिलता तब तक लगता है सभी कुछ 'श्रम एव हि केवलम्'।

साधकों की इच्छा का विषय या 'इष्ट' है यही मधु। इसीलिये इस धारा को मुख्यतरा कहा गया। इस इष्ट की आलोचना के प्रसंग में 'जपसूत्रम्' में

श्रीगणेश से शुरू करके कालिकादि तक प्रधान पञ्चदेवता या दश महाविद्या की नाना आपातभीषणा छिन्नमस्ता, धूमावती इत्यादि कितनी ही विचित्र मूर्त्तियों का अगाध रहस्य उद्घाटित हुआ है, जिसके फल से तिक्त-कषाय भी मधुर होकर परम आस्वाद्य बन गया है। अन्त में जिस मुख्य अनुग्रहशक्ति की प्रेरणा से या कृपा-दीक्षा के फल से मन्त्र एक शलाका के रूप में स्थूल अन्नमय कोश में या वैखरी भूमि में साधक के 'कानेर भीतर दिया मरमे' में प्रविष्ट हुआ था, उन्हीं श्रीगुरु की परिपूर्ण महिमा की उपलब्धि में मुख्यतमा धारा का सन्धान मिलता है। यात्रा के अन्त में तभी यह जिज्ञासा जागती है : **'मामकस्तावकस्तावदुच्छ्वासो वेति जल्पना'**। यह जो असीम आकूति, उच्छ्वास मन्त्र के स्पदन में गुञ्जरित होकर आज महा-ओङ्कार में जाकर निस्पन्द, निश्चल, मौन हो गया, यह उच्छ्वास क्या तुम्हारे ही दिये हुये प्राण में तुम्हारा ही अनुभव है'? मेरा फिर क्या रहा? तब **'ना सो रमण न हाम रमणी'**—मिलन की यह परिपूर्ण रागिणी ही ध्वनित हो उठती है।

इस अन्तिम खण्ड में जप की अवसान भूमिकायें ही विशेष रूप से आलोचित हुई हैं। (यह नदी) सागर के जितनी निकटवर्ती हुई है उतना ही इसका कल्लोल गम्भीरतर हुआ है, इसीलिए सावधान, सजग होकर इस कल्लोल के प्रति कान लगा कर रहना होगा। हमने देखा है कि जप तो मन्त्र अथवा नाम के आश्रित है। मन्त्र या नाम स्पन्दनात्मक है। यह स्पन्दन सुषम स्पन्दन है, किन्तु हमारे यन्त्र, देह, प्राण, मन आदि—सभी साधारणतः विषम स्पन्दन से प्रतिकूल बने हुए हैं। इस प्रतिकूल को अनुकूल बनाने, विषम स्पन्दन को सम स्पन्दन में लाने का साधन ही जप-साधन है। **'सम कायशिरोग्रीवं'** से शुरू करके **'प्राणापानौ समौ कृत्वा'** **'सुखदुःख समे कृत्वा'** इत्यादि क्रम से **'निर्दोषं हि समं'** ब्रह्म में पहुँचने के लिए ही गीतादि शास्त्रों के उपदेश एवं साधन के प्रयास हैं। इसीलिए आरम्भ में यह बहुत आयास साध्य, कृति साध्य लगता है। किन्तु यह कृति-जप ही एक दिन रुचिजप में परिणत होता है (मूल षष्ठ खण्ड पृष्ठ १९६), तब इसका रूप बदलता रहता है। कृत्रिम प्रयास के स्थान पर तब सहज स्वाभाविक प्राणधारा में जप पतित होता है।

'जपसूत्रम्' की परिभाषा में तब स्थूल वाक् का पतन हो जाता है, मध्यमा वाक् माला क्रम पकड़ती है। इस प्रकार जप अजपा में परिणित होता है। 'शिवसूत्र विमर्शिनी' की भाषा में तब **'आसनस्थः सुखं ह्रदे निमज्जति'** अर्थात् आसन पर बैठते ही अनायास हृदय का अमृत ह्रद में निमज्जन हो जाता है, एवं **कथा जपः** अर्थात् शब्दमात्र ही जप में परिणत हो जाता है, किन्तु इस अजपा में ही धारा का अन्त नहीं है। अजपा की इस स्वच्छन्द धारा की सीमा कहाँ तक है? यह क्या लक्ष्यहीन अभिसार है? नहीं, इसकी भी सीमा है 'आजप' (मूल षष्ठ खण्ड पृ०

२४८)। अर्थात् 'अजप' तक (आ + अजप) इस की गति है। जप जब तक अजप में, जपशून्यता में अर्थात् कृत्रिम-अकृत्रिम सब क्रियाओं के ऊर्ध्व में, अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं होता—'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरुपे विहाय'—जब तक नहीं होता, तब तक इस यात्रा की छुट्टी नहीं, स्पन्दन का विराम नहीं। इसीलिये इस अन्तिम खण्ड में जप अजपा के द्वार में से अजप में पहुँच गया है। जप के बहु-विचित्र रूप भी प्रसङ्ग-क्रम से इस में उद्घाटित हुए हैं। इसीलिए जप अजपा, अजप—इस क्रम या परिणति को प्रत्येक साधक को अपने अनुभव के साथ मिला लेना होगा।

किन्तु इस गति या परिणित का सब कुछ ही श्रीगुरु रूपी उस मुख्य अनुग्रह शक्ति द्वारा नियन्त्रित है, जिसकी अनुकम्पा ही '**निखिल-शमन-मूलम्**' है। इस श्रीगुरु तत्त्व के सम्बन्ध में आजकल नाना प्रकार की भ्रान्तिमूलक धारणायें प्रवर्त्तित और प्रचलित हैं। कोई अपने गुरु को सब अवतारों में श्रेष्ठ, त्रिभुवन में अतुलनीय, कह कर उनके ही गुण-गान या उनके ही वर्णन के विज्ञापन में मुखर हैं—ये लोग गीता की भाषा में '**नान्यदस्तीतिवादिनः**'। दूसरे कोई लोग एक गुरु के आश्रय में कुछ दिन काट कर बिना क्लेश के अन्य एक गुरु का आश्रय ग्रहण करने में किसी द्विधा का अनुभव नहीं करते, मानो गुरु-शिष्य का सम्बन्ध इतना ही भङ्गुर और कोमल है कि इच्छा-मात्र से ही उसका स्थापन, नियोजन किया जा सकता है! इन सब विभ्रान्तियों के निरास के लिए जपसूत्रकार ने इस तत्त्व को यथायथ भाव से साधक के सम्मुख उद्घाटित किया है। उनकी भाषा में भगवान् की सर्वव्यापिनी जो अनुग्रहशक्ति है, उस शक्ति की अनन्य-साधारण मूर्त्त व्यक्तिरूपता विशेष-विशेष गुरुशक्ति है (मूल षष्ठ खण्ड पृ० ३०४)। इसीलिये यह गुरुशक्ति निखिलव्यापिनी है, 'सब साधु महापुरुषों में ही विद्यमान है'। यह बात ध्यान में रखकर चित्त की सङ्कीर्णता का परिहार करके महाजनों के चरणों में अपने को लुटा देना होगा।

साथ-साथ यह भी स्मरण रखना होगा—'मेरे गुरु में वह अनुग्रह शक्ति मेरे लिये असाधारणी, अतुलनीया, अनुत्तमा है'। मेरे मन के मर्म में जिनके स्पर्श ने युग-युगान्तर की नींद से नयन उन्मीलित कर दिये हैं '**तस्मै श्रीगुरवेः नमः**' बारम्बार उन्हीं के चरणों में मेरी प्राण-न्योछावर सहित प्रणति है। उनके साथ मेरा सम्बन्ध चातक और वारिद के सम्बन्ध की भाँति ही अच्छेद्य जो है। मेरे हृदय की ज्वाला, प्राण की पिपासा मिटाने के लिये उस 'जलधरश्याममनोहर' के बिना और तो कोई नहीं, 'दूसरो न कोई'। तब क्या दूसरे किसी को नहीं मानूंगा? अन्य किसी साधु-महापुरुष के चरण में प्रणत नहीं होऊँगा? अथवा उस प्रकार अन्य के चरणों में प्रणत होना क्या अपने गुरु को छोटा करना नहीं होगा? या उस प्रकार के आचरण से अपने सद्गुरु के प्रति श्रद्धा का शैथिल्य प्रकाश नहीं पायेगा? इस

प्रकार के विषम शङ्काकुल साधक को जपसूत्रकार अपनी ऋषि-दृष्टि से अभ्रान्त निर्देश देना भूले नहीं हैं : "अन्यान्य साधु महापुरुषों का सङ्गादि भी तुम्हारा साधनाङ्ग है अवश्य, किन्तु इस प्रकार के सङ्ग में एकमात्र आकूति या प्रार्थना रहेगी 'मुझे मेरे गुरु, इष्ट-साधन में पूर्णा मति-रति एवं एकान्त निर्भरा अचला निष्ठा दो।' तुम्हारा अपना भाण्डार नित्य पूर्ण है; किसी साधु से वर माँगना—'जिस से मैं अपने भाण्डार के द्वार पर ही सर्वक्षण निश्चिन्त होकर लौट सकूँ (मूल षष्ठ खण्ड पृ० ३०५)।" तुलसीदास ने केवल श्रीरामचन्द्र का ही गुणगान नहीं किया, अन्यान्य नाना देव-देवियों की वन्दना गाई है, किन्तु सबके पास उनकी केवल एक ही प्रार्थना है :—

रघुपति पद परम प्रेम, तुलसी यह अचल नेम देहु हे प्रसन्न ।।'

अर्थात् सब की प्रसन्नता माँग कर उन्होंने केवल यही वर चाहा है कि रघुपति के चरणों में मुझे अचल प्रेम का लाभ हो। भारत की आर्ष साधना की इस विशाल समन्वयी दृष्टि को आज हम दुर्भाग्य क्रम से खो बैठे हैं। गुरु-शिष्य के निगूढ़ सम्बन्ध को भी हम भूल चले हैं। पूज्यपाद स्वामीजी ने अपने भास्वर प्रज्ञादीप से हमारी वह दृष्टि फिर से लौटाने का यत्न किया है।

जपसूत्र के इन ६ विस्तृत खण्डों में पूज्यपाद स्वामीजी का जो विपुलायतन प्रयास है, वह इस प्रकार त्रिभूमिक है। गुरु-इष्ट-साधन, इन तीन तत्त्वों का महा-त्रिकोण यन्त्र ही इस महायन्त्र का अधिष्ठान है। जो लोग साधना में सचमुच एकान्त-भाव से व्रती हैं, एवं परमतत्त्व के अन्वेषण और अनुशीलन में यथार्थ भाव से तत्पर हैं, यह ग्रन्थ उनके यात्रा-पथ का अक्षय और अभ्रान्त मार्गदर्शक बनकर नित्यकाल पथ दिखायेगा।

हमारा इस ग्रन्थ के प्रकाशन का प्रयास भी उस 'आवृत्तचक्षुः कश्चिद् धीरः' के लिये ही है। और काल जब निरवधि है पृथ्वी भी विपुला हैं तब इस ग्रन्थ के मर्मज्ञ और रसग्राही कहीं, कभी, कोई निश्चिय ही आविर्भूत होंगे—इस विश्वास की बाती हमारे चित्त में चिरकाल प्रज्वलित रहेगी।

पृथक् ६ खण्डों में विभिन्न विषयवस्तु कहाँ, किस प्रकार बिखरी हुई है, उसका एक संकलन यदि संभव हो तो प्राचीन योग-तन्त्र-वेदान्तादि विभिन्न शास्त्रों में इन सब के मूल किस प्रकार मिलते हैं, अर्थात् जपसूत्र के साथ प्राचीन आर्ष शास्त्रादि का सङ्गतिनिर्धारण करके एक पृथक खण्ड में इन्हें देने की हमारी इच्छा है। किन्तु वह इच्छा किस प्रकार कब पूर्ण होगी, यह वे सर्वनियन्ता ही जानें!

—श्री गोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय

भूमिका

स्वाभाविक शब्द अथवा मन्त्र (Natural name) (प्रथम अंश)

इस शीर्षक से दो वक्तृता श्रोताओं के लिये वर्षों पूर्व दी गयी थी। आज यह प्रतीत हो रहा है कि वे दोनों पूर्वकालिक होने पर भी वर्त्तमान ग्रंथ के मुख्य प्रयोजन के साधनार्थ सहायक हो सकेगीं। अतः उभय वक्तृताओं को इस ग्रंथ की भूमिका के रूप में अन्तर्निविष्ट किया जा रहा है। वे अपने मूल रूप में ही यहाँ अंकित की जा रही हैं। यह भी प्रतीत हो रहा है कि व्याख्यान की प्रांजलता के साथ-साथ सरसता भी इसमें सन्निविष्ट है। फिर भी यह अवश्य है कि पुरातन वस्तु को नव परिवेश में देने की चेष्टा करने पर सम्यक् रूप से सामञ्जस्य प्रतीत नहीं होता। यद्यपि परिभाषा तथा विवृत भंगी के दृष्टिकोण से उस पुरातन और इस नवीन के मध्य किंचित् पार्थक्य अवश्य है, तथापि मूलतः और मुख्यतः इसमें कुछ भी असामंजस्य पूर्ण नहीं है। जपविज्ञान का मूल सम्बन्ध मंत्र से ही रहा है। यह वक्तृता मंत्र वस्तु के स्वरूप ज्ञान के लिये सहायक हो सकेगी।

यहाँ पर भी और प्रयोजन के अनुसार अन्यत्र भी, इस आलोचन उपक्रम में आधुनिक-प्राकृतिक विज्ञान (Natural Science) का सहयोग लिया जा रहा है। यह सहयोग कितना और कैसे लिया गया, यह तो आलोचना काल में ही स्पष्ट हो सकेगा। जप विज्ञान ही अध्यात्म विज्ञान है। यह कहा जाता है कि वाक्-प्राण तथा मन जपकर्म के निर्वाहक हैं। जपकर्म कभी भी स्थूल शारीर यंत्र तथा इसकी अवस्थिति एवं परिस्थिति की उपेक्षा करके सम्पन्न नहीं हो सकता। अतः जिसको हम स्थूल मान बैठते हैं, उसी में जप का मूल पाद न्यस्त है। यहाँ के नियम-परिनियम जप के इस मूल पाद के सन्दर्भ में अप्रयोज्य अथवा अप्रासगिक हो ही नहीं सकते। इन्हीं कतिपय विन्दुओं का स्पष्टीकरण भूमिका में तथा मूल ग्रंथ में प्रस्तुत किया गया है। जपकर्म प्राण के विशेष प्रयत्नों से साधित होता है। इस प्रयत्न में सौष्ठव (Symmetry-Harmony) की स्थिति अनिवार्य सी है। जैसे संगीत के स्वर विन्यास में यह सौष्ठव विद्यमान रहता है। सौष्ठव के अभाव में जपकर्म सम्यक् रीति से हो ही नहीं सकेगा, परिणामतः कर्म में समर्थता नहीं आ सकती। अतः कर्मसिद्धि नहीं मिलती। उदाहरणार्थ कोई-कोई 'कृष्ण' का उच्चारण क्रु स् न् (षकार का उच्चारण दन्त्य स के समान) की तरह करते हैं। इसमें वस्तुतः जो अपराध होता है, उसकी विवेचना द्वारा यह विदित होता है कि इस प्रकार के

त्रुटिपूर्ण उच्चारण से प्राण प्रयत्न-विशेष का सौष्ठव भग्न हो जाता है। Harmonic-Function के स्थान पर Discordant Function की सृष्टि हो जाती है। जिह्वा-मूल ही क वर्ण का उच्चारण स्थल है। ऋ ष ण का उच्चारण स्थल है मूर्धा। अतएव मूल से मूर्धा पर्यन्त सुषम, सजातीय त्रिधारा की उपलब्धि हो जाती है। इसमें विषम वक्रगति का पूर्ण अभाव रहता है। इसमें 'स् को युक्त कराने से एक विषम-विजातीय 'स्वरशेल' प्रविष्ट होता सा प्रतीत होने लगता है। जैसे गान में विवादी स्वर ! मूर्धा और दन्त में स्थानिक पार्थक्य के साथ-साथ व्यावहारिक (Functional) भेद भी रहता है। जो स्वरवृत्ति दन्ताभिघात वृत्तिवशात् (Phonetic Function or movement) उत्पन्न होती है, उसे (यत्र-तत्र) अविचार पूर्वक अन्य जातीय स्वरवृत्ति के साथ, मित्रच्छन्द के साथ सम्पृक्त नहीं किया जा सकता। अन्यथा स्वरसंकरता (Incompatible Confusion of Sounds) होने की संभावना उत्पन्न हो जाती हैं। समजातीय ध्वनियाँ पारस्परिक रूप से आकांक्षा (affinity) युक्त रहती हैं। व्याकरण शास्त्र में सन्धि तथा षत्व-णत्व विधान के मूल में यही युक्ति स्थल-स्थल पर परिलक्षित होती है।

तत्वत: स्वरशंकर होना चाहिये, स्वर-संकर होना अविहित है। पूर्वोक्त स्थल में सत्-चित्-आनन्द को 'क' माना। यह अद्वैत तत्व स्वरूप शक्ति के कारण त्रिधा अभिव्यक्त होता रहता है। यह हृल्लेखा 'कृष्ण' नाम में और क्लीं बीज में परिलक्षित होती है। यह हृल्लेखा षण् के स्थान पर सन् करते ही अलक्ष्य हो जाती है। (अर्थात् कृष्ण के स्थान पर कृसन् करने पर) इसी प्रकार से शिवाय के स्थान पर सिवाय का प्रयोग करना अविहित है। विषम-विजातीय वर्गों का वर्णन करने से ही उद्देश्य साधित हो जाता हो, ऐसा नहीं है। प्रत्युत् ध्वनिगत् (Intonation गत्) अरि मित्र भेद भी स्थित रहते हैं। उदाहरणार्थ वेदोक्त इन्द्रशत्रु। यह विचार अवश्य प्रासंगिक है कि कौन सा उदात्त है और कौन सा अनुदात्त ? उदाहरणार्थ 'हरिबोल' में 'बोल' का उच्चारण प्लुत भाव में करना चाहिये। 'गोविन्द' के आद्य (प्रथम) अक्षर के सम्बन्ध में भी यही नियम प्रभावी है। प्रथम में नाद में (ऊकार में) पर्यवसान होता है और द्वितीय में नादोत्थान अभीप्सित है। इस सबके अतिरिक्त नामग्रहण और जपसंख्या का विचार पुरश्चरण तथा अन्य नियमादि भी है। इन सबके मूल में जो युक्ति प्रभावी है, वह अवैज्ञानिक नहीं है और अवैज्ञानिक हो भी नहीं सकती।

जप अथवा किसी भी साधन कर्म में सामर्थ्य सिद्धि के लिये इन तीन विन्दुओं की अपेक्षा होती है, यथा विद्या (Correct technique), श्रद्धा (working belief and Interest से जिसका प्रारम्भण होता है तथा उपनिषत् रहस्य ज्ञान grasp of basic Principles) विद्यार्थ विज्ञान से अनुमोदित अभिज्ञ

व्यक्ति अथवा शास्त्रोपदेश प्राप्त होना चाहिये। यह विज्ञान आधुनिक विज्ञान (जड़-प्राण-मन विषयक विज्ञान) का मुखापेक्षी नहीं है। इस विज्ञान का यही दृढ़ निश्चय है कि जड़ विज्ञान की कोई भी अपेक्षा न करें।

बास्तव में रहस्य यह है कि विज्ञान में वैजात्य का सर्वथा अभाव है। कोई भी विज्ञान अन्त्यज, अव्यवहार्य किंवा अस्पृश्य नहीं है। यह भी सत्य है कि अध्यात्म-विज्ञान ही पूर्ण विज्ञान है। वह स्थूल आयाम तथा क्षेत्र में समन्वय तथा सामञ्जस्य के द्वारा पूर्णत्व प्राप्त करता है। वह स्थूल के तत्वों तथा तथ्यों को अंगीकृत करते हुये, (उन तत्वों तथा तथ्यों को) समाधान समन्वय के द्वारा अपना पूर्णांग बना लेता है। इस प्रक्रिया से जड़ तथा अध्यात्म, उभय विज्ञान लाभान्वित हो जाते हैं। भूत विज्ञान (भौतिक विज्ञान) के तथ्य एवं तत्व समूह ध्रुव-निश्चित नहीं हैं, तथापि उनकी गति एवं पद्धति अग्रगा, अग्रगामी होती है। इसका प्रयोग कहीं पर भद्र, तो कहीं पर भीषणतम है। अध्यात्म विज्ञान का लक्ष्य है जो अध्रुव है उसे ध्रुव का संदेश देना, अग्रगा को ऋताध्वगा गति प्रदान करना, जो कभी भयावह है और कभी कृपालु है, उसे सर्वतोभावेन प्राप्त करना। जप अध्यात्म विज्ञान के क्षे॰ का एक साधन है, तथापि ध्वनि, विचार, प्राण प्रयत्न, प्रवाह के सम्बन्ध में, आनुषंगिक तथा पारिपार्श्विक क्षेत्रों में जप को भी भूतविज्ञान के नियमों में कियदंश में स्वीकार करना ही पड़ता है। यद्यपि जपकर्त्ता प्रयोगशाला के यंत्रादि के उपयोग द्वारा परीक्षण में साक्षात् रूप से प्रवृत्त नहीं होता (जैसे स्वरसाधक अथवा वर्णसाधक को भी इस प्रक्रिया से परीक्षण नहीं करना पड़ता), तथापि वह परीक्षालब्ध तथ्यों और तत्वों पर निर्भरशील ही रहता है। यह अवश्य है कि अध्यात्मसाधना के क्षेत्र में आत्मा की गभीरतम भूमि से उत्थित शक्ति प्रवाह ही मुख्य है। बाहर का सब कुछ बाह्य है, तथापि त्याज्य नहीं है। जीवसत्ता के सभी स्वरविन्यास में एक मन्थन की आवश्यकता है।

वेदों के अनुसार सृष्टि शब्दपूर्विका है। जगत् शब्द प्रभव है। यह कौन सा शब्द है ? जो शब्द कान से सुना जाता है क्या यह वही शब्द है ? कर्ण से श्रुतिगोचर होने वाला शब्द सापेक्ष है, अनेक निमित्त तथा उपादानों पर आधारित है। सर्वाग्र में वायुमण्डल के किसी विन्दु से उत्तेजना की सृष्टि अपेक्षित रहती है। जैसे सुस्थित जलराशि में एक उपलखण्ड निक्षिप्त करने पर एक उत्तेजना प्रत्यक्षगोचर होती है, वैसी ही उत्तेजना यहाँ भी सृष्ट होना चाहिये। यदि यह उत्तेजना तरंगाकृति में चतुर्दिक विखरते हुये हमारे कानों में, स्नायु तथा मस्तिष्क के सम्बन्धित केन्द्र में एक आघात न दे, उस स्थिति में हमारी चेतना में कोई प्रतिक्रिया (Response) ही नहीं हो सकती। फल यह होता है कि शब्द श्रुतिगोचर नहीं होता। यहाँ तक कि यदि यह उत्तेजना अत्यन्त मृदु अथवा अतितीव्र होती है, तब भी ध्वनि श्रुतिगोचर नहीं

होती। स्पन्दन के वेग की (Rate of Vibration) एक निम्न तथा एक उर्ध्व संख्या होती है (Lower Limit and upper Limit)। इन दोनों सीमाओं के मध्य की किसी अवस्था के अभाव में वायु की तरंगें हम में शब्दज्ञान की उत्पत्ति नहीं करती। जिस प्रकार से नेत्रों से दृष्ट वर्ण समूह (वर्ण ग्राम) की अधः (Infra) तथा उर्ध्व भूमि में आलोक तरंगों के नाना ग्राम का अस्तित्व स्वीकृत है, उसी प्रकार कर्णों द्वारा श्रुत ध्वनिग्राम की अतीत भूमि से अभिनिःश्रित शब्दतरंगों का नाना ग्राम में अस्तित्व भी सिद्ध है। विज्ञान का Supersonics किंवा Ultra-sonics भाग इन समस्त अतीन्द्रिय ध्वनि तरंगों की गवेषणा में व्यापृत सा है। इन ध्वनियों का अघटन-घटन-पाटव भी परिलक्षित होता है। सूक्ष्मग्राम की इन ध्वनि तरंगों का प्रभाव यौगिक पदार्थो के संयोग वियोग में, आणविक केन्द्र अथवा व्यूह विदारण में तथा शारीरिक और मानसिक सूक्ष्म क्रिया समूह के नियंत्रण में क्रमशः स्वीकृत होता जा रहा है। इन सब का प्रमाण परीक्षण द्वारा मिल सकता है। जैसे एक बृहद् काँच के पात्र के अन्दर वैद्युतिक घन्टा बज रहा है। हम इसे सुन रहे हैं। जेसे-जैसे यंत्र के माध्यम से इस पात्र की वायु को पात्र से बाहर निकाला जाता रहेगा, हम उसी अनुपात में शब्द को कम सुनते जायेंगें। वायु शून्यता सम्पूर्ण हो जाने पर उस घन्टे की ध्वनि तिरोहित सी हो जाती है, तथापि उस पात्र के अन्दर घन्टा बजता रहा है। तदनन्तर वायु से उस घट को आपूरित करते ही हम उस घन्टे की ध्वनि पूर्ववत् सुनने लगते हैं।

अतः यह सुसिद्ध हो जाता है कि वायु शब्द का वाहन है। हमने अन्वय-व्यतिरेक द्वारा यह ज्ञात किया कि जब तक घन्टा संचालन से संजात स्पन्दनों को वायु हमारी श्रवणेन्द्रियों के द्वार तक नहीं पहुचा देता, तबतक हम घन्टा ध्वनि को नहीं सुन सकते। इतने से ही वायु का श्रवण कार्य पूर्ण नहीं हो जाता। यदि वायु श्रवणयंत्र, स्नायु सूत्र समूह तथा मस्तिष्क के अनुभूति केन्द्रगुच्छ को अपेक्षानुसार प्रत्याघात नहीं पहुचाता, उस स्थिति में हम शब्दज्ञान से वँचित रह जाते हैं। यह परीक्षण के द्वारा प्रतिपन्न हो चुका है। इन समस्त उपादानों तथा निमित्त समूह के अतिरिक्त और भी कुछ अपेक्षित है। यह 'कुछ' है न्यूनाधिक मनः संयोग। एक बजे के साईरन के साथ जब हमें अपनी घड़ी मिलानी होती है, उस दिन हमे सचेष्ट तथा उदग्रीव रहना पड़ता है। इसे इच्छाकृत मनः संयोग कहते हैं। रात्रि के अन्धकार में कुटीर के गवाक्ष में बैठा श्रावण की वर्षा के सुरों की मूर्च्छना तथा लय को सुन रहा हूँ और प्रथा के अनुरूप 'वातायनिक' के सम्बन्ध में सोच रहा हूँ। हठात् धनीभूत अन्धकार राशि को 'शकलानि' (खण्ड-खण्ड) करते हुये आकाश में चपला चमकी ओर कुछ ही समय के अनन्तर गुरु गंभीर मेघ मल्हार का एक छन्द विपुल उच्छ्वास के साथ वर्षा के कोमल सुरों को मग्न करने लगा! मुझे अपनी

भावनाओं के क्रोड़ से जाग्रत होकर यह शब्द सुनना ही पड़ा ! यह है अनिच्छाकृत मनः संयोग। यहाँ ध्वनि का आघात इतना प्रबल है कि उस मेघमल्हार को न चाहते हुये भी सुनना पड़ा। इसी बीच लक्ष्य करता हूँ कि इस अमावस्या के "घनघोर बादल" की छाया में आगत जो अतिथि मेरी कुटीर में विश्रान्त है उसका (सुषुप्ति जनित्) नासागर्जन यथापूर्व चलता रहा है। यह ध्वनिजनित आघात उसे चैतन्य कर सकने में असमर्थ रहा है। अतः मात्र वाह्यवायु जनित स्पन्दन ही यथेष्ठ नहीं है। अन्य अनेक निमित्त तथा उपादान समूह भी प्रयोज्य हैं।

एक धातु पात्र में ठोकर मारते ही वह झंकृत हो उठा, परन्तु क्रमशः शब्द मृदु से मृदुतर होता जाता है। अन्त में हम कुछ भी नहीं सुन पाते। तब भी धातु पात्र की कणिकायें उस आघात वेदना को विस्मरित नहीं कर सकी हैं। वे उस समय भी कांपती रहती हैं। काँपनें से क्या होगा? यह अतिमृदु कम्पन हमारी अनुभूतियों को जाग्रत कर सकने में असमर्थ सा रह जाता है। समस्त कम्पन वेग की एक निम्न संख्या है। उससे नीचे हम कुछ भी नहीं सुन सकते। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि न सुन सकने पर भी कम्पन अथवा स्पन्दन तिरोहित नहीं हो जाता। जब किसी एक स्पन्दन का वेग पूर्वोक्त अधः सीमा (Lower Limit) को पार कर जाता है, तभी उस ध्वनि को सुनने की सम्भावना होती है। साथ ही कर्ण तथा मस्तिष्क में भी नियमानुकूल उत्तेजना होना आवश्यक है। न्यूनाधिक मन संयोग भी अपेक्षित है। इस अधः सीमा के ही समान एक उर्ध्व सीमा भी है। उस उर्ध्व सीमा से अधिक की ध्वनि को सुना नहीं जा सकता। इन सीमाद्वय के मध्य भी अनेक स्तर हैं। शब्द के त्रिविध पर्दे हैं और विविध वैचित्र्य भी है। इन दो सीमाओं के मध्य के किसी एक विशिष्ट वायु स्पन्दन का परिणाम है एक विशिष्ट शब्द ज्ञान। जैसे कोकिल की काकली और काक का कर्णभेदी रव भी एक-एक प्रकार के वायुजनित स्पन्दन हैं।

शब्दज्ञान की स्थूल विवृत्ति का यही प्रकार है। इससे अधिक गहराई में जाकर अन्वेषण करने का क्या प्रयोजन? इस विवरण से यह ज्ञात हो जाता है कि इस प्रकार का शब्द सृष्टि का मूल अथवा जगत् का आदि नहीं है। इस प्रकार के शब्द के लिये वायु स्पन्दन आवश्यक है, परन्तु सृष्टि के मूल में वायु कहाँ है? इस शब्द के लिये श्रवणेन्द्रिय तथा मस्तिष्क की आवश्यकता है, परन्तु सृष्टि के मूल में इन्द्रियाँ तथा मस्तिष्क कहाँ है? इस शब्द के लिये मनः संयोग, शब्द संस्कार प्रभृति का प्रयोजन रहता है, परन्तु सृष्टि की आदि अवस्था में इन सबका अस्तित्व कहाँ रहता है? हम जिन शब्दों से परिचित हैं, वे सब सृष्टि के मूल में नहीं मिलते, पश्चात् काल में ही अनुभूत होते हैं। इन सबका विकास विभिन्न कारणों से और विभिन्न अवस्थाओं द्वारा संघटित हुआ है। जिस शब्द से सृष्टि का

प्रथम उपक्रम हुआ है, उसे प्राथमिक स्पन्द (**Primordial causal movement**) कहा जाये, उस स्थिति में हमारा परिचित जागतिक शब्द समूह प्राथमिक स्पन्द तो कदापि नहीं है। उस प्राथमिक स्पन्द के मूल उत्स से सभी दिशाओं में, विभिन्न भाव से अभिव्यक्ति के साथ समग्र सृष्टि का प्रवाह चल रहा है। इन प्रवाह धाराओं को कार्याभिव्यक्ति धारा (**Streams of effectual manifestation**) कहा जाता है। हम जिन रूपों को देखते हैं, जिन शब्दों को सुनते हैं, रस, गन्ध स्पर्श का अनुभव तथा सुख-दुःख का संवेदन ग्रहण करते हैं, इन सब को अभिव्यक्ति की एक एक धारा ही जानना चाहिये। मूल में जिस सत्ता की स्थिति है, वह रूप, शब्द, रस, गन्ध से व्यतिरिक्त है। उसमें कर्ण, चक्षु प्रभृति का सर्वथा अभाव रहता है। उसमें ग्रहीता मन तथा बुद्धि भी नहीं है। उसे प्राथमिक स्पन्द मात्र ही कहा जा सकता है।

सृष्टि के आदि तथा अन्त की विवेचना हम नहीं कर सकते। उसका आदि अन्त है, किंवा नहीं है? अथवा वह आदि एवं अनन्त है? इसका समाधान करने का प्रयत्न अभी नहीं किया जा रहा है। प्रतीत होता है कि इस महासमस्या का कोई समाधान है ही नहीं। यदि सृष्टि-लय की विवेचना को त्याग दें, उस स्थिति में प्राथमिक स्पन्द तो केवल स्पन्द ही है। अब यह भी कहने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता कि यह जागतिक जागरण किसी सुषुप्ति (जागतिक सुषुप्ति) के पश्चात् की अवस्था है, अथवा यह एक महामौन के पश्चात् गुंजित होने वाला विश्व कलरव है! किंवा यह किसी साम्यावस्था के पश्चात् होने वाले विचित्रतर वैषम्य का उन्मेष है! साधारणतः यही कह सकते हैं कि समस्त ज्ञान (**Experience**) के मूल में व्याप्त व्यापार को स्पन्द की संज्ञा दी जा सकती है। समस्त रूप ज्ञान, शब्द ज्ञान प्रभृति ज्ञान व्यापार के मूल का तथ्य है स्पन्द (चांचल्य **stressing**)। ईथर के किसी एक क्षेत्र में चाँचल्य होता है। इस चाँचल्य ने तरंग के समान चतुर्दिक प्रसरित होकर चक्षु और मस्तिष्क में चाँचल्य का उन्मेष कर दिया! हमारी चेतना में इस चाँचल्य का जो प्रकाश अथवा अभिव्यक्ति (**Resultant Manifestation**) होती है, वही हमारे लिये वस्तु का रूप ज्ञान है। समस्त अभिव्यक्तिओं, जैसे आलोक, ताप, शब्द प्रभृति के सम्वन्ध में यही विवरण प्रभावी होता है।

किसी एक द्रव्य के अणु-प्रत्यणु अस्थिर होकर कम्पायमान हैं। किसी एक अतीन्द्रिय सूक्ष्म वाहन (**medium** जैसे ईथर आदि) ने उस कम्पन को ढ़ोकर हमारे स्नायु समूह को उत्तेजित कर दिया। यह उत्तेजना चेतना में जिस प्रतिक्रिया को जन्म देती है, वही ताप का अनुभव है। कलकत्ते के बागबाजार का रसगुल्ला मुख में रक्खा। मुख में रखने से मुखामृत का संयोग होता है। इस

रासायनिक प्रक्रिया को लक्ष्य करने से विदित हुआ कि इसमें शक्ति का आदान-प्रदान निहित है। यह तो सामान्य दृष्टि की उपलब्धि है। विशेष दृष्टि से लक्ष्य करने पर विदित होता है कि यह स्पन्द की ही क्रीड़ा है ! उस शक्ति क्रीड़ा ने रसना की स्नायु को चँचल किया। इसके वाहन के सम्बन्ध में विवाद करना उचित नहीं है, क्योंकि वह ईथर, वायु अथवा कुछ और भी हो सकता है। समस्त अनुभूतियों का उत्पत्ति स्थल है चाँचल्य (stir, agitation)। यह निसंदिग्ध तथ्य है।

अनुभूति अथवा प्रत्यय के सम्बन्ध में विचार करने पर जो सिद्धान्त स्थिर होता है, उसी सिद्धान्त को अर्थ अथवा विषय द्वारा भी प्राप्त करते हैं। इसे कैसे जानते हैं ? कैसे सुनते हैं ? अथवा वास्तव में विषय है क्या ? यदि उदाहरण के लिये बागबाजार का रसगुल्ला न मिले, तब नीरस खड़िया के टुकड़े का परीक्षण करो। उसे हिलाओ-डुलाओ। देखने में वह जमी हुई ठोस वस्तु है, परन्तु मैं अभी इसे खण्डित करके चूर्ण-विचूर्ण कर सकता हूँ। धूलिसात् कर सकता हूँ। यह चूर्ण पुनः और भी सूक्ष्म बनाया जा सकता है। जिसे रासायनिक परमाणु कहते हैं, वहाँ इस प्रकार के विभाजन का अन्त हो जाता है। फिर भी यह सामयिक अन्त अथवा विराम है, वास्तविक विराम नहीं है। रासायनिक अणु-परमाणु तो यौगिक द्रव्य हैं। उनकी गठन प्रणाली जटिल है। वे जिस सूक्ष्मतम उपादान से गठित हैं, विज्ञान की भाषा में उसे (Elctron) इलेक्ट्रान कहा जाता है। ये तड़ित अणु हैं। इनका भी माप तथा परिमाण है, तथापि रासायनिक अणुओं की तुलना में इलेक्ट्रान का माप अत्यन्त न्यून रहता है। एक अणु की गठन व्यवस्था कितनी जटिल तथा अद्भुत है। एक-एक अणु एक-एक बालखिल्य जगत्वत् है।

जिस प्रकार से सौर जगत् में उपग्रहगण अपने निश्चित पथ पर एक केन्द्र के चतुर्दिक् घूर्णित होते रहते हैं, आणविक जगत् (Atomic world) में उसी प्रकार घूर्णन होता है। हमने अणु तक पहुँच कर आशा किया था कि हो सकता है यही गति का विश्रान्ति स्थल हो, यहीं भाग-दौड़ का अवसान हो और यह सोचा कि अणु चाहे कितना चँचल हो परन्तु आभ्यन्तर में सुस्थिर ही होता है। इस खड़िया के छोटे से छोटे अंश नियत रूप से कंपित होते, हिलते-डुलते और स्पन्दित होते रहते हैं। हम यह सब अपने इन नेत्रों के द्वारा नहीं देख सकते, फिर भी यह सब होता रहता है। यह अवश्य है कि अणुओं तक पहुँचकर यह निश्चय किया गया था कि ये अपने पारस्परिक सम्पर्क में चाहे कितने भी चँचल प्रतीत होते हों, अपने आप में इनमें एक सुस्थिरता होती है। यह निश्चय इलेक्ट्रान की उपलब्धि के साथ-साथ ढह गया ! एक-एक अणु तो एक-एक क्षुद्र ब्रह्माण्ड एक-एक जगत् जैसे हैं। अणु के भीतरी जगत् में भी उसी प्रकार का संन्चलन, आवर्त्तन, कम्पन तथा स्पन्दन चलता रहता है, जैसा स्थूल जगत् में है। इस हलचल में विश्रान्ति

कैसी ? क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर में उतर जाने पर क्या वहाँ एक ध्रुवलोक जैसा अचलायतन मिलता है ? क्या यह इलेक्ट्रान में मिलेगा ? इलेक्ट्रान बाह्यतः अपने पारस्परिक सम्पर्क में अत्यन्त चन्चल तथा अशान्त से घूमते भागते रहते हैं। कभी-कभी तो इनकी भीषण गति आलोक की गति को भी मात कर देती है। अर्थात् प्रति सेकेण्ड करीब दो लाख मील ! यह है उनका वाह्य व्यापार।

इलेक्ट्रान के भीतर कैसा चलता है ? कुछ समय पूर्व तक विज्ञान को उसके भीतर ताक-झांक करने का साहस ही नहीं था। जब ब्रह्म की 'अणोरणीयान' मूर्त्ति का परिचय हमें तड़ित अणु में मिला था, तब हमारी कल्पनाशक्ति भी मुग्ध एवं स्तम्भित सी हो चली थी। हम इससे भी सूक्ष्म और छोटे को सोच सकने की स्थिति में ही नहीं थे। अब प्रश्न यह है कि क्या वस्तुतः इलेक्ट्रान ही अणुत्व की पराकाष्ठा है ? **Absolute limit** है ? उर्मि विज्ञान (**wave mechanics**) ने इलेक्ट्रान की भी हृल्लेखा (**Inner Pattern**) देखने का प्रयत्न किया है। यह भी तो एक सावयव द्रव्य है और उसका एक माप भी है। अतः अपेक्षाकृत् छोटा हो सकना भी संभव है। उसकी भी एक प्रकार की कला अथवा माप हो सकता है। **Partial Element** की संभावना वहाँ है। उसकी भी एक कला अथवा वर्ण हो सकना संभव है। यह संभावना यदि है, उस स्थिति में क्या वे भी स्थिर एवं चंचल नहीं है ? क्या प्रत्येक इलेक्ट्रान ईथर का ही एक-एक आवर्त्त है ? यदि है, तब ईथर के सूक्ष्मतम अवययों को भी घूर्णित मानना होगा। ईथर क्या है, उसके सूक्ष्म अवयव क्या हैं, इस समस्या के हल में गणित ने पराभव स्वीकार नहीं किया है, तब भी हमारी कल्पना इस समस्या की सीमा रेखा को छूते हुये भयभीत सी लौट आती है। किंवा हम 'अवास्तविक ईथर' की कल्पना को त्यागते हुये विज्ञान की आपेक्षिकतावाद आदि नवीन मान्यताओं पर विचार करें, उस स्थिति में भले ही नाप आदि का परिणाम सुदूरवर्त्ती होता प्रतीत हो रहा हो; तथापि उससे जगत् का कोई एक सरलीभूत चित्र मिल ही नहीं सकता।

अतः 'सम्भाव्यता उर्मि गुच्छ' के द्वारा समझने की चेष्टा करने पर नाप-जोख की चाहे जितनी सुविधा क्यों न मिले, परन्तु कल्पना की दिशा में कोई भी सुविधा मिलती सी प्रतीत नहीं होती। जगत् की हृल्लेखा में (मूल ढाचे में) किसी कल्पना योग्य चित्र होने की संभावना की धारणा को विज्ञान ने प्रायः छोड़ सा दिया है। यह अणु तथा विपुल, उभय क्षेत्रों में हुआ है। इस विज्ञान की रूढ़ धारणा यह है कि सब कुछ परिमित परिमाण में (हिसाब से) रहे। इस 'हिसाब' को सटीक रखना होगा, तथापि मूल में तो 'हिसाब' का भी लंघन करके आना पड़ता है। वहाँ अनिश्चित सम्भावनाओं को स्वीकार करना ही पड़ता है !

वस्तुतन्त्रता के जटिल नागपाश में गणित की कल्पना आबद्ध नहीं है। गणित

ने ईथर के भी सूक्ष्मावयवों को (Elements को) प्राप्त कर लिया है। जिस ईथर की सहायता लेकर जगत की चलनशीलता के व्यापार की एक व्याख्या दी जा रही थी, उसे गणित की परिभाषा (Mathematical Concepts) में ही आबद्ध रखना है अथवा उसे हृदयंगम करना है, इस क्षेत्र में वाग्वितण्डा से क्या लाभ ? आपाततः सूक्ष्म का अन्वेषण करने के लिये उद्यत होने पर हमारी सीमा रेखा अथवा चलनशीलता उसी के इर्द-गिर्द ही घूमती रह जाती है। वहाँ प्राप्त होता है स्पन्द, चान्चल्य ! जगत् के सूक्ष्मतम में भी एक अविराम भागदौड़ चलती रहती है। जो चलता है वह जगत् है। अतः अणु चलता है; वह भी जगत् है और इलेक्ट्रान भी चलनशील है, इसलिये वह भी जगत् है। व्योमांश (Ether Elements) भी चलनशील होने के कारण जगत ही हैं। अतः ब्रह्माण्ड मूल का मर्म यही 'चलना-फिरना' ही है। यह चलनशीलता ही स्पन्द है। इसे संचलन (Translation) अथवा आवर्त्तन (Rotation) किंवा इन सबका सम्मिश्रण भी कहा जा सकता है। वसुन्धरा चंचला है, सविता चंचल हैं, ध्रुवलोक भी अचल नहीं है। कहीं अधिक चलन है, तो कहीं कम है। जिसे हम स्थिर अनुभव करते हैं, वह केवल स्थूलतः स्थिर है, वास्तव में स्थिर नहीं है। कहीं भी एकान्तिक, सर्वथा विश्रान्ति नहीं है। कहीं भी निरतिशय सुस्थिरता (Absolute Rest) नहीं मिलती। ब्रह्म की 'महतोमहीयान मूर्त्ति' में भी महानटराजत्व सन्निहित रहता है। वह शान्त समाहित तो है ही नहीं। ऐसा सुनता हूँ कि जगत् के संहारक को भी विजया की तरंग में उद्दाम तांण्डव करने का पागलपन है ! जो देवता आधार कमल में संस्थित होकर इस निखिल सृष्टि का वेद और वेद्य निःश्वसित करते रहते हैं, उनके 'ज्ञानमयं तपः' की, विश्वात्मा की समाधि की शान्त मग्नता को सृष्टि का आरम्भ समझा जा रहा था, परन्तु अब यह उपलब्धि हो रही है कि वह बाहर से प्रत्याहृत होकर भी अन्तर्निमीलन समाधि नहीं है। वह तो भीतर के सब कुछ को बाहर बिखेरने का, विकिरित कर देने का महान् प्रयास है। यह विराट आयोजन एक द्वारा बहुः होने के लिये, एक प्रकार का विराट प्रसव चान्चल्य है।

इसलिये सृष्टिकर्त्ता का अक्षसूत्र, कमण्डलु आदि तपस्या का उपक्रम देखकर सृष्टि के प्रारंभण को भूल जाना उचित नहीं है। जो देवता इस विचित्र वृत्तान्त को चरितार्थ करने वाला कारखाना खोल बैठे हैं, उनके हाथों में स्थित सतत् चलिष्णु चक्र को देख लेने पर हम यह समझने में त्रुटि नहीं करेंगे कि कैसे और किसके बल से यह महाविराट कारखाना चल रहा है। अतः सिद्धान्त यह है कि चलन तो जगत् के आरंभ, मध्य तथा अन्त पर्यन्त विद्यमान रहता है।

जब जगत का सब कुछ चलनशील है, तब क्या कुछ भी अचल नहीं है ? क्या अचल का साथ लिये बिना चल को समझ सकोगे ? यह समझने के लिये कि मैं

चल रहा हूँ, हमे किसी एक अचलायतन को मान लेना पड़ता है। जो स्वयं समस्त सचल को अपने वक्ष पर धारण कर ले, क्या ऐसी कोई अचल भूमि अथवा आयतन (Absolute Frame of Reference) है ? यदि है तो वह क्या है ? क्या वह वेदोक्त अक्षर परम' है ? अथवा इससे इतर कुछ है ? यहाँ इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जा रहा है। यहाँ यह ज्ञातव्य अवश्य है कि श्रुति (आर्ष विज्ञान) ने इस चन्चल एवं विपुल जगत् की प्रतिष्ठा एक शाश्वत सुस्थिर भूमि पर ही किया है। फलतः अनुभूति की अचल (Quiescent) तथा सचल (Stressing) रूपी दिशा-द्वय का संवाद मिलता है। इन दोनों दिशाओं को अपने में आत्मसात करते हुये तत्व (Fact) की स्थिति रहती है। यदि हम एक दिशा को त्याग कर केवल एक ही दिशा का वरण करते हैं, उस स्थिति में हम तत्व का भग्न अंश (Fact-Section) ही पाते हैं। अभी इस तथ्य की चर्चा यहीं तक होगी। स्पन्द का तात्पर्य केवलमात्र जड़ की हलचल ही नहीं है। यहाँ जड़ का तात्पर्यार्थ है इन्द्रियग्राह्य मूर्त्त द्रव्य (Matter)। ग्रह नक्षत्रादि सतत् धावमान हैं। ईथर किंवा आकाश में अणु तथा इलेक्ट्रान दौड़ते रहते हैं। यह समस्त गति (Motion) जड़ की ही है।

बागबाजार का रसगुल्ला खाया। अब जल पीने की इच्छा हो रही है। मन भी एक के पश्चात् दूसरी अवस्था में परिणत होने लगता है। मन की यह परिणति (Becoming) उतनी सरल स्थिति नहीं है, जैसे रसगुल्ला हाथ से मुँह में चला जाता है। (अर्थात् रसगुल्ला हाथ रूपी देश से मुख रूपी देश में चला गया)। मन वस्तुतः एक से अन्य देश में नहीं जाता है। इसका परिवर्त्तन दैशिक अथवा स्थानिक परिवर्त्तन (Change of Configuration) नहीं होता। बालक का मन पाठ्य-पुस्तक के अध्याय को छोड़ कर सड़क पर घूमते लट्टू की ओर अथवा आकाश में उड़ रही पतंग की ओर जा रहा है। यह हो रहा है गुरु महाशय के वेत्रदण्ड (छड़ी) के सन्निकट में ही ! यहाँ इस आलोचना से कोई लाभ नहीं है कि जड़ द्रव्य के समान मन का भी संचालन हो रहा है, अथवा नहीं। भाव का बहिसंस्कार (Thought Transference) यथार्थ हो भी सकता है, तथापि यहाँ जिस पार्थक्य का उल्लेख किया गया है, उसे प्रसंग क्रम में याद रखना उचित होगा।

यहाँ यह विवेच्य है कि यदि जड़ का अर्थ दृश्य अथवा पदार्थ ही है, तब यह भ्रान्त धारणा हो सकती है कि स्पन्द (चान्चल्य) तो जड़ का ही धर्म है, यह चैतन्य का धर्म नहीं हो सकता। जगत् के मूल में जो स्पन्द है, वह केवल जड़ का ही स्पन्द नहीं है। जगत् के मूल में एक विराट नीहार समुद्र (Nebulae) की कणिकायें कंपित हो रहीं थीं। वहाँ उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था, हम यह भी नहीं कह सकते क्योंकि हम जड़वादी नहीं है।

यह स्मरण रखना होगा कि स्पन्द, चान्चल्य अथवा विक्षोभ ही शब्द है। इसी शब्द से जगत चला है। जिसे शब्द कहा जाता है, वह इसी मौलिक और विश्वप्रसु वाक् की ही एक विशेष अभिव्यक्ति है। **One Stream of effectual Manifestation.** इस विशिष्ट अभिव्यक्ति के लिये जिन उपादान तथा निमित्त समूह की अतेक्षा रहती है, हम उनका वर्णन कर चुके हैं। अब विषय को सुबोध्य बनाने के लिये मौलिक स्पन्दात्मक शब्द को पर शब्द की संज्ञा दे दी जाती हैं। जिस शब्द को इन्द्रिय युक्त जीवगण सुनते हैं, उसकी संज्ञा है अपर शब्द अथवा शब्द। परशब्द हेतु है, अपर शब्द कार्यरूप कहा जाता है। परशब्द अथवा चान्चल्य के ही कारण हम शब्द को सुनते हैं। ट्राम की घन्टी के रेणुओं में कम्पन होता है, फलतः वायु में कम्पन होने लगता है। इससे हमारे स्तायु मण्डल में कम्पन होने लगता है और वह घन्टी श्रुतिगोचर हो जाती है। अपर शब्द को अभिव्यक्ति युक्त शब्द कहा जाता है। अनेक सहकारी कारणों और अवस्थाओं का योगायोग होने पर ही परशब्द की अभिव्यक्ति अपर शब्द के रूप में होती है। परशब्द भले ही अपर शब्द के रूप में अभिव्यक्त हो अथवा न हो, उससे परशब्द का परशब्दत्व व्याहत ही नहीं होता। एक जलप्रपात ने हिमालय के किसी जनसम्पर्क विहीन स्थान में एक शिलाखण्ड के उपर गिरते हुये उस ध्वनि-प्रतिध्वनि के द्वारा पर्वतमाला से आवृत स्थान को चिरसजग बना दिया है। यद्यपि इस क्षेत्र में जलकणिकाओं का कम्पन, वायु का कम्पन आदि एक सचलता और स्पन्दन के प्रचुर समारोह का आयोजन कर रहा है, तथापि सुनने वाले कानों के अभाव में वहाँ का विपुल चान्चल्य एक महा-भैरव गर्जन के रूप में स्वयं को अभिव्यक्त नहीं कर सकता!

अतएव यहाँ पर शब्द तो है तथापि अपर किंवा श्राव्य शब्द नहीं है। वायु, श्रवणेन्द्रिय, मनःसंयोग आदि के अभाव में, निमित्त एवं सहकारी कारणों के अभाव में परशब्द भी केवल अपने चन्चल रूप में ही अवस्थित रह जाता है। वह श्रवण ग्राह्य रूप में आत्मप्रकाश नहीं कर सकता। कहते हैं कि चन्द्रमण्डल में वायु नहीं है। मानों अग्नि के उत्पात् के कारण चन्द्रमण्डल का कोई अंग भीषणतः फट गया। हमारी पृथ्वी अथवा मंगल ग्रह का कोई वैज्ञानिक उर्ध्व कर्ण होकर बैठा है, तथापि कुछ भी सुन सकने में समर्थ नहीं है। इसका कारण यह है कि शब्द एक अभिजात्य व्यक्ति जैसा है। वह बिना वाहन एक पैर भी आगे नहीं बढ़ता। इस स्थान पर जहाँ वायु का अभाव है, वहाँ पर शब्द तो है, तथापि अपर शब्द का अभाव है। इसलिये पर एवं अपर शब्द को परस्परतः मिला कर विवेचना नहीं करनी चाहिये।

जहाँ अपर शब्द है, वहाँ पर मूल में परशब्द रूपी चान्चल्य का अवस्थान है, परन्तु जहाँ मात्र परशब्द है—वहाँ उस ध्वनि को कोई व्यक्ति सुने, यह संभव नहीं है। जहाँ भी ध्वनि श्रुतिगोचर होती है, वहाँ सहकारी कारण की विद्यमानता

रहती है। जहाँ शब्द श्रुतिगोचर नहीं हो रहा है, वहाँ स्पन्द भले ही विद्यमान हो, परन्तु सहकारी कारणों की रीति के अनुसार वर्त्तमानता नहीं रहती। केवलमात्र सहकारी कारणों की उपस्थिति से ही कार्य साधित नहीं हो सकता, उन्हें रीतिमतानुसार सम्बद्ध रहना चाहिये। हमारी भाषा में कारण तथा हेतु समूह की रीतिमतानुसार विद्यमानता को ही योग्यता कहते हैं। अतः हेतु एवं निमित्त की सम्बद्धता रीतिमत के अनुसार न होने के कारण स्पन्द श्रुतिगोचर नहीं होता। यद्यपि परशब्द तो अश्राव्य कहा जाता है, तथापि यहाँ शब्द के श्राव्य-अश्राव्य रूप द्वैविध्य की चर्चा को छोड़कर केवल परशब्द-अपर शब्द के ही द्वैविध्य का वरण किया जा रहा है। स्पन्द एवं चान्चल्य चाहे कितना भी अव्यवस्थित क्यों न हो, वह किसी प्रकार से भी हमारे कानों में शब्द रूप से गृहीत नहीं होता। हम अणु-परमाणुओं की संचालन ध्वनि नहीं सुन सकते। चीनी को जल में फेका। वह घुल रही है। शर्करा-खण्डों-कणों का जल में बिखरना हम नहीं सुनते। उस शर्करामिश्रित जल का सम्पर्क हमारी वाचाल सरस इन्द्रिय (रसना) से होते ही पिपासा मिटने के साथ-साथ प्राण भी मधुर हो जाते हैं, परन्तु यह सब प्रक्रिया जिस छन्दः में हो रही है, वह हम नहीं सुन सकते।

अणुओं में इलेक्ट्रान का चन्चल जगत् है। हम उस जगत् की भाषा जानते ही नहीं। जीव के जीवकोषों में, Cell में, जैव पदार्थ (प्रोटोप्लाज्म) चक्कर काट रहे हैं ((Rotation of Protoplasm)। जब निदाघ काल में वनस्थली नीरव हो जाती है, उस समय वृक्षों के पर्णों में भी जैव पदार्थ का नृत्य एक महामुखर संगीत की रचना कर देता है, तथापि हमारे पास इसे सुनने वाले कान हैं कहाँ? बहुत दिनों पहले से विद्वान एल्डुअस हक्सले ने हमे उस महामुखर विपुल जीवन संगीत को सुनने का निमंत्रण दे रक्खा है। हम उस निमंत्रण से वंचित रह जाते हैं क्योंकि वह संगीत सुन सकना इन कानों द्वारा संभव ही नहीं है। यहाँ तक कि अभ्युदय वाद (Evolution) की कृपा से हमारे कानों की शक्ति तथा दैर्घ्य वर्धित हो जाने पर भी कोई विशेष सुविधा नहीं हो सकेगी। हाँ, श्रवणशक्ति का विस्तार हो जाने पर ही हम अपने बन्धु-बान्धवों के साथ हक्सले महाशय के निमंत्रण का रक्षण कर सकेंगें! मैक्सवेल (Maxwell) के भूत ने तापविज्ञान के समीकरण का एक कठिन गणित उपस्थित कर दिया है, और वह भूत चन्चल जगत के अणुओं को अपने हिसाब से दो कक्षों में बाँट रहा है। सतर्क दृष्टिवाले आचार्य रामेन्द्रसुन्दर ने जीवित रहते-रहते उस वैज्ञानिक भूत से हमारी वार्त्ता करा दी हैं। यह विश्वास करता हूँ कि जिस दिन वैजयन्तधाम से रथ उतर कर आचार्य को विश्वोत्तीर्ण सत्यलोक में ले गया, उसी दिन उनकी आतमा ने अपनी अव्याहत-अनाविल दृष्टि से उस भूत का हिसाब खाता भलीभाँति देख लिया होगा और उसके क्षेत्रान्तर्गत्

आनेवाले चन्चल जगत् को शब्दमय जगत् के रूप में पहचान लिया होगा। हमारे लिये तो अणु का जगत् केवल चन्चल जगत् है। उसके लिये हमारे पास कोई भाषा नहीं है।

अधिक दृष्टान्त की क्या आवश्यकता! निष्कर्ष यह है कि मन, जड़, इलेक्ट्रान, ग्रह-उपग्रह, चेतना, जीवकोष आदि के सभी प्रकार के स्पन्द किंवा चान्चल्य को हम परशब्द ही कहते हैं (भले ही उसे हम न सुन सकें अथवा सुन सकें)। श्रुतिगोचर होने की स्थिति में वह शब्द अथवा ध्वनि (sound) है। अतः जिस चान्चल्य से राम को शब्दज्ञान नहीं होता, कभी-कभी उर्मी से मोहन को शब्दज्ञान साधित हो जाता है। राम की अपेक्षा मोहन के कान अधिक संवेदनशील हैं। जिन क्षेत्रों में मनुष्य की शब्दानुभूति नहीं है, उनमें कुत्ता सुन लेता है। कुत्ते से भी अधिक सुनने वाले जीवों का अस्तित्व हो सकता है। हम यंत्र की सहायता से, **megaphone-microphone** आदि द्वारा चीटीं के पगसंचार की ध्वनि भी सुन लेते हैं।

'योगः कर्मसु कौशलम्' जो यंत्र की सहायता से सूक्ष्म शब्द सुनते हैं, वे योगी हैं। योगी अन्य प्रकार के भी हो सकते हैं। हिन्दुओं के अध्यात्मशास्त्र के अनुसार संयम प्रक्रिया के द्वारा, धारणा-ध्यान समाधि के द्वारा "सूक्ष्मादपि सूक्ष्म" शब्द को भी सुना जा सकता है। उस योगी के लिये अणु-परमाणु, इलेक्ट्रान समूह की चँचल दौड़ धूप भी भाषाविहीन अथवा नीरव नहीं हो सकती। अतएव श्रवण सामर्थ्य (Capacity of Hearing), आपेक्षिक (Relative), तारतम्य युक्त (variable), तथा अवस्थाधीन (Conditional) होता है। यह योग्यता देश-काल पात्र की अपेक्षा पर आधारित रहती है। हमलोग जिस शब्द को सुनते हैं, वह स्थूल शब्द है। यंत्र की सहायता से अथवा योग शक्ति से श्रुतिगोचर शब्द को सूक्ष्म (Subtle) कहा जाता है। सभी यंत्रों की और योगियों की सामर्थ्य शक्ति एक सी नहीं होती। इसी कारण सूक्ष्मशब्द के भी अनेक स्तर होते हैं।

वैज्ञानिक और योगी भी शब्दों को यथार्थ पूर्ण रूप में (Perfectly and absolute) नहीं सुन सकते। इन सबका श्रवण सामर्थ्य भी आपेक्षिक तथा अवस्था विशेष (स्थिति विशेष) के अधीन रहता है। अतः शंका होती है कि क्या किसी अवस्था में शब्द को निरतिशय और सम्यक् रूप से सुना जा सकता है? क्या ऐसा कोई श्रवण सामर्थ्य है जो सम्पूर्णतः निरतिशय (perfect and absolute) हो? यदि गणित के प्रमुख अधिकारी को पकड़ कर यह मान लिया जाये कि कोई ऐसा अनुभव सामर्थ्य अथवा ज्ञानभूमि है जहाँ किसी उपादान अथवा निमित्त के बिना ही आत्मा स्पन्द को शब्द के रूप में यथायथ रूप से जान सके। अतः ईथर अथवा हवा की विद्यमानता हो अथवा न हो, यदि वस्तु का चांचल्य अथवा स्पन्द

किसी चैतन्य में निरतिशय भाव से अभिव्यक्त होने लगे, तब हम उस श्रवण शक्ति की पराकाष्ठा को वहाँ प्राप्त कर लेते हैं, जिसके लिये अन्वेषणरत थे।

इस प्रकार के श्रवण सामर्थ्य को **Absolute Ear** अथवा निरतिशय श्रवण सामर्थ्य कहा जाता है। इस पारिभाषिक शब्द की आक्षरिक अनुवाद प्रचेष्टा पूर्णतः हास्यास्पद ही होगी। निरतिशय कर्ण अथवा निरपेक्ष कर्ण एक विस्मयजनक तथ्य है और इसे सुनकर कोई भी सहिष्णु नहीं रह सकता। परिभाषा हो न हो, फिर भी यह बात एकदम से हँसी में उड़ा देने योग्य भी नहीं है।

यह सामान्य प्रकार का कर्ण कदापि नहीं है। शब्दानुभव सामर्थ्य तो न्यून एवं अधिक हुआ करता है। इसकी पराकाष्ठा कहाँ है? भले ही किसी एक व्यक्ति विशेष में यह सामर्थ्य निरतिशय रूप से परिसमाप्त होता हो अथवा न होता हो, कोई "पश्यत्यचक्षुः श्रृणोत्यकर्णः" जैसा पुरुष होता हो किंवा न होता हो, यदि हम गणित शास्त्र में अथवा विज्ञान के दृष्टान्त में अनुभव सामर्थ्य के किसी विराम की या पराकाष्ठा की कल्पना कर लेते हैं, उस स्थिति में वहाँ हमारे अज्ञेयवादी अथवा नास्तिक बन्धुओं के लिये शिरः संचालन का यथेष्ठ कारण ही नहीं है। मैंने वृत्तान्तर्गत् एक बहुभुज क्षेत्र अंकित किया है। अब यदि क्षेत्र की भुजसंख्या को बढ़ाता चलता हूँ, उस स्थिति में क्षेत्र का परिमाण क्रमशः वृत्त के परिमाण के आस-पास होता जाता है। इस स्थिति में पूछता हूँ अच्छा! यदि बहुभुज क्षेत्र की संख्या अनन्त कर ली जाये, तब उसकी चौहद्दी वृत्त के साथ अन्त में मिल सकेगी, अथवा नहीं!

इन्हें हाँथ की कलम से मिला देना सम्भव नहीं है। इसे कल्पना द्वारा मिलाकर शेष अंश को पूर्ण किया जा सकेगा। तुम वैज्ञानिक होने के कारण अणु की बातें करते हो। क्या अणु सूक्ष्मता भावना की एक कल्पित पराकाष्ठा (**conceptual limit**) तो नहीं है? तुम इलेक्ट्रान की बातें करते हो, क्या तुम यह शपथ पूर्वक कह सकोगे कि वह भी तुम्हारी संज्ञा (**unit charge of Electricity**) का सम्यक एवं सटीक लक्ष्यार्थ है? हमें उस वस्तु की एक पराकाष्ठा की कल्पना का अधिकार है जिसमें न्यूनता-अधिक्य और क्रमिक धारा (**Series**) है। ऐसी कल्पनाओं के द्वारा हमें कभी-कभी विशेष सुविधा प्राप्त हो जाती है। यदि हमें यह अधिकार प्राप्त नहीं होता, उस हालत में गणितशास्त्रीय कैल्कुलस असंभावना ही रह जाता! हम अनुभव-सामर्थ्य के विभिन्न स्तरों को देखकर तदनुरूप पराकाष्ठा की कल्पना करते रहते है। इसे हम **Absolute Ear** की संज्ञा प्रदान करते हैं। हमारा श्रवण अल्प है प्रायिक है, सापेक्ष है परन्तु **Absolute Ear** का श्रवण समग्र, यथार्थ, निरपेक्ष है। केवल श्रवण ही नहीं, प्रत्युत् हम दर्शन आदि अनुभूतियों की अपरापर-धाराओं के संन्दर्भ में भी एक-एक पराकाष्ठा की कल्पना कर सकते हैं। इस अवस्था

में Absolute Eye, Absolute Tongue की भी प्राप्ति हो जाती है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि इन सबको एक-एक शक्ति किंवा सामर्थ्य की पराकाष्ठा ही समझना चाहिये। ये सब चक्षु, कर्ण प्रभृति के समान स्थूल द्रव्य नहीं हैं।

क्या इस प्रकार का कर्ण पारमार्थिक कर्ण है? जो भी संज्ञा क्यों न दी जाये, यह स्मरण रखना ही होगा कि यह निरतिशय श्रवण सामर्थ्य है। दर्शन के अध्यवसायी इस व्याख्या की यथार्थता पर अवश्य चिन्तन करें। इस कर्ण को श्रवण के लिये एक हेतु का ही प्रयोजन रहता है। वह हेतु है स्पन्द अथवा चान्चल्य। यह कर्ण उत्तेजना, स्पन्द प्रभृति की विद्यमानता पर ही सुन सकेगा। इसकी तुलना में (अन्य सुनना) शुद्ध हो ही नहीं सकता।

पारमार्थिक कर्ण से जिस शब्द का श्रवण होता है, वह शब्दतन्मात्र है। इसके माध्यम से हम शब्द की निरतिशय विशुद्ध स्थिति (Sound as it is) को ग्रहण करते हैं। मानों शब्द है। ऐसे शब्द में न्यूनाधिक्यता होती है, भूल-भ्रान्ति का भय रहता है। मैंने जैसे सुना वैसा तुमने नहीं सुना! मैंने कम सुना तुमने अधिक सुन लिया। यह सब शब्द की विकृति का एक रूप है। इस कारण हमारे लक्षण के अनुसार शब्दतन्मात्र शब्द की प्रकृति है। वह उसकी प्रसूति नहीं है। अर्थात् शब्दतन्मात्र और परशब्द एक नहीं है। परशब्द कारणीभूत (Causal) है। वह ऐसा एक चान्चल्य है, Stress है, जिससे शब्द ज्ञान होता है। परशब्द श्रुतशब्द है ही नहीं, किन्तु शब्दतन्मात्र तो श्रुतशब्द है। यह अवश्य है कि शब्दतन्मात्र हमारे अथवा तुम्हारे कानों से सुना गया शब्द है ही नहीं। वह पारमार्थिक कर्णों से सुना गया निरतिशय शब्द है।

शब्दतन्मात्र की स्थिति अपर शब्द में ही है, परन्तु वह अपर शब्द का सर्वोच्च स्तर अथवा पराकाष्ठा है! इससे निम्नभूमि में नाना प्रकार के शब्दों की स्थिति रहती है। हम वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता से अथवा ध्यान-धारणा के द्वारा जो शब्द सुनते हैं, सामान्य रूप से जिसे सुन सकने में असमर्थ रह जाते हैं, वे सभी सूक्ष्म शब्द हैं। उनकी पराकाष्ठा है शब्दतन्मात्र। इन चर्म कर्ण द्वारा हम जो सब ध्वनि सुनते हैं, वे स्थूल शब्द हैं। अतएव अपर शब्द अथवा श्रुत शब्द (Sound) के विभागत्रय की उपलब्धि होती है, परन्तु इनके भी स्तर (Gradation) गणनातीत हैं। जितने प्रकार के कर्ण हैं, उतने ही प्रकार के श्रवण की भी सत्ता है। देश-काल-पात्र भेद के परिवर्तन से श्रवण का रूप भी परिवर्तित हो जाता है।

विभागत्रय हैं शब्द तन्मात्र (शब्द की प्रकृति), सूक्ष्म शब्द (अर्थात् अतीन्द्रिय), तथा जिसे हम स्थूलतः सुनते हैं वह लौकिक ध्वनि (Normal Sound) है। इन तीनों के मूल में स्थित रहता हुआ भी जो इनसे व्यतिरिक्त है, जिसके न रहने पर प्रजापति भी सुनने में अक्षम से रह जाते हैं, वहीं परशब्द

है। तीन प्रकार के श्रुतशब्द के लिये तीन प्रकार के कान अथवा श्रवण सामर्थ्य की आवश्यकता पड़ती है।

पारमार्थिक कर्ण हैं शब्द तन्मात्र के लिये। सूक्ष्म शब्द के लिये दिव्य कर्ण (Yogic ear) तथा भौतिक-जागतिक शब्दों के लिये भौतिक कर्ण (Normal Ear) की सत्ता रहती है। शब्द के दृष्टिकोण से हमारे जगत् प्रत्यय की ५ अवस्थायें परिलक्षित होती हैं। अनुभव का वह तुरीय भाव जो क्षोभ अथवा चान्चल्य से मुक्त है, उसे अशब्द अवस्था कहा गया है। चान्चल्य विहीन स्थिति में शब्द नहीं रहता। जहाँ चान्चल्य है, परन्तु श्रोत्रेन्द्रिय (कान) नहीं है, वह परशब्द है। अब चान्चल्य है, और निरतिशय रूप से श्रुतिगोचर भी हो रहा है, इसे शब्दतन्मात्र कहते हैं। इसके चान्चल्य को भौतिक कर्ण नहीं पकड़ सकते, दिव्य कर्ण पकड़ते हैं। यही सूक्ष्म शब्द है। सर्वान्त में चान्चल्य भौतिक कानों को उत्तेजित करके स्थूल शब्दोद्भव करता है।

समस्त शब्दों के मूल में यही Stress अर्थात् चान्चल्य विद्यमान है। इसे शब्द क्यों कहते हैं? सुनने पर शब्द है, न सुनने पर शब्द की संभावना (Possibility) है। शब्द नहीं है। यह तो सत्य है, परन्तु परशब्द के लिये भी हमारे पास एक दिशानिर्देश है। हमारी अनुभूति की पंचधारायें हैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध। ये सब जिस उत्स केन्द्र से निर्गत होती हैं, वही है परशब्द। यह समझ में आता है कि प्रारम्भ में चान्चल्य है, तब भी उसे रूप-रस प्रभृति न कह कर शब्द की संज्ञा क्यों देते हैं? शब्द में ऐसी कौन सी विशेषता है, जिसके कारण उसे ही आदर्श, Model बना कर रखना होता है? परशब्द तो Sound है ही नहीं! अतः उसे शब्द कहने का अध्यास (Imposition) करना पड़ता है!

जहाँ एक ही कारण के अनेक कार्य होते हैं, वहाँ हम उस कारण के संकेत के रूप में (Symbol sign) सबसे अधिक स्पष्ट कार्य को ही ग्रहण करते हैं। यहाँ भी यही नियम प्रभावी है। ह्रद की स्थिर जलराशि के सम्मुख दण्डायमान होकर नीरवता का अनुभव कर रहा हूँ। जब जल चन्चलता रहित है तब शब्द क्यों होगा? दूसरी ओर पुरीधाम के समुद्रतट पर खड़ा होकर विपुल सिन्धुगर्जना सुन रहा हूँ। यहाँ तो सुनना ही पड़ेगा! लवणाम्बुराशि की धारानिबद्धा तरंगमाला वेलाभूमि पर नियमित रूप से गिरती और उछलती परिलक्षित हो रही है! नीरवता सुस्थिरता का इंगित है और मुखरता ही चन्चलता का संकेत है। शांति में मौन है, क्षोभ और भाग दौड़ में कोलाहल है। साम्यावस्था और शान्ति को समझाने के लिये मौन के समान स्पष्ट संकेत कहाँ मिलेगा? और वैषम्य-अशान्ति-चान्चल्य को समझाने के लिये शब्द ही स्पष्ट संकेत जैसा है। रूपदर्शन, गंधाघ्राण आदि के मूल में भी किसी न किसी श्रेणी का चान्चल्य विद्यमान रहता है। यह चान्चल्य स्पष्ट नहीं है, इसे

परीक्षण के द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। हरिद्वारस्थ चण्डी पर्वत पर बैठ कर हमालय के तुषारमण्डित कतिपय शिखरों को देख रहा हूँ; अथवा मंसूरी के सेना निवास पर्वत पर बैठा-बैठा निषण्ण होकर चिर तुषाराच्छन्न गिरिश्रेणी के कर्पूर-कुन्देन्दु धवल विराट आकार को देख रहा हूँ। इस रूपज्ञान के मूल में भी ईथर की तरंग अथवा कोई समानधर्मी चन्चल अभिसार अवश्य है !

इस क्षेत्र में चिन्तन करने से यह ज्ञात होता है कि सर्वत्र एक विपुल भास्वर निसर्गगौरव चित्रार्पित सा विद्यमान है। कहीं पर भी क्षोभ, चांचल्य नही है। सब कुछ शान्त एवं समाहित सा है। यह चिन्तनफल भी मेरी दृष्टि की स्वाभाविक कृपणता तथा स्वाभाविक भूल है। यह चांचल्य इतना सूक्ष्म है, जो पकड़ में नहीं आता। मैंने पूजन काल में देव चरणों में एक प्रस्फुटित कमल निवेदित किया है। उसके स्निग्ध सौरभ से मेरा भाव और भी दृढ़ होता जा रहा हैं। गाढ़ होता जा रहा है। गन्धवहा वायु जब तक इस कमल परागरेणु को वहन करते हुए मेरी नासिका की त्वक् में विखेर नहीं देती, तब तक मैं गन्धास्वादन कर ही नहीं सकता। परन्तु जब गन्धास्वादन करता हूँ, तब मेरे विचार में इतने आहरण, विकिरण और वितरण की बातें कहां आ पाती हैं ? उस समय तो मैं सोचता रहता हूँ कि मानों पद्मपरिमल का स्निग्ध शान्तप्रलेप मेरे प्राणों पर लगा हुआ है। यहाँ भी चान्चल्य का अनुभव नहीं हो पाता ! यह तो परीक्षा द्वारा आयत्त होता है। अतः रूप-रसादि चन्चलता के हेतु होने पर भी, सर्वदा चांन्चल्य के प्रतीक नहीं होते।

शब्द तथा चांन्चल्य एक ही सिक्के के दो पृष्ठ भाग है। देखते समय संदेह और भ्रम भी हो सकता है। प्रतीत होता है कि जो देख रहा हूं वह अस्थिर है अथवा सुस्थिर। यह भ्रम पुकार से टूटता है। अब सन्देह नहीं रहता कि पुकारने वाला अस्थिर ही है। अतः चांन्चल्य का स्पष्ट एवं अव्यभिचारी संकेत है शब्द। कान में वायुतरंग का प्रत्याघात एक धक्के जैसा प्रतीत होता है, परन्तु चक्षु गोलक (Retina) पर ईथर तरंग का आघात धक्के जैसा नहीं लगता।

शब्द की शक्ति भी अद्भुत् है। तार्किकगण अभिधा, लक्षणा, स्फोट प्रभृति को लेकर तर्क-वितर्क करते रहें, हम यह नहीं करेंगे। एक मसृण कांचखण्ड के उपर सूक्ष्म धूलिरेणु पड़ा हुआ है। मैं बैठा वायलिन की तान छेड़ रहा हूँ। शब्द की तरंग उन धूलिरेणु समूह को क्रमशः सजाकर एक निर्दिष्ट आकार में आकारित कर देती है। शब्द में एक शक्ति होती है जिसके द्वारा वह अपने छन्द (Harmony) के अनुरूप एक मूर्त्ति की सृष्टि कर देता हैं। शब्द केवल चांचल्य का संकेत नहीं देता, प्रत्युत वह गढ़ता और तोड़ता भी है। गढ़ना और तोड़ना ही चांचल्य है। अतः शब्द भी चांचल्य का आत्मीय तथा प्रतिनिधि है। यह शक्तिरूप अथवा रस में कदापि नहीं है। अर्थात् रूप एवं रस वाह्यतः कुछ गढ़ता अथवा तोड़ता है, ऐसा

प्रतीत नहीं होगा। रूप और रस द्वारा अन्दर (अन्तः में) कुछ गढ़ने और तोड़ने की शक्ति है, इसे अस्वीकार करने का साहस मुझमें नहीं है।

शब्द तो स्पष्ट रूप से शक्तिस्वरूप (Dymamic) तथा स्त्रष्टा (Creative) है। धूलिकणों के प्रयोग के अतिरिक्त अन्य उपायों के द्वारा भी शब्द के स्वरूप तथा सामर्थ्य का परीक्षण हो सकता है। रेडियम नामक द्रव्य नियमित रूप से ताप विकिरण करता है। मानों इसके ताप का भंडारागार अशेष है। यह हमें ज्ञात है कि ताप का तात्पर्य है किसी भी वस्तु के अणु समूह का अस्त-व्यस्त रूप से स्पन्दन (Irregular Molecular Ouiver)। जिस वस्तु के दाने इस प्रकार से कंपित होते हैं, वह वस्तु हमें उष्ण सी प्रतीत होती है। रेडियम इतना प्रचण्ड ताप कहाँ से प्राप्त करता है ? रेडियम के अणु (Atoms) फटते रहते हैं। एक साथ न फटकर बारी-बारी से फटते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि विज्ञान के अणु सावयव एवं परिमित द्रव्य हैं। अणु के टुकड़ों को वहराणु अथवा अवमाणु (Sub-Atoms) कहा जाता है। इन अवमाणुओं में से कतिपय एक रेडियम के भीतर से भीषण वेग में दौड़कर बाहर आते हैं। रेडियम के अन्य अणुओं को धक्का (Collision) देकर उन्हें कम्पित कर देते हैं। अणुओं का यह दोलन ही ताप है।

कतिपय समिधायें सजाकर "शिक्षा" नामक वेदान्त के निर्देशानुसार 'अग्नि-मीले' प्रभृति वेदमंत्रों का उच्चारण कर रहा हूँ। इस शब्द के मूल का स्पन्द (Vibration) समिध के दानों को धक्का देता है। यह धक्का इतना छन्दोबद्ध है कि उसके कारण समिध के सूक्ष्म दाने भी फट जाते हैं। अणु के भीतर इलेक्ट्रान एक निर्दिष्ट वेग तथा रीति से घूर्णित हो रहे हैं। इस घूर्णन का एक छन्दस् है। Harmonic Motion है। हमारे द्वारा उच्चरित मन्त्रों के छन्दस् (Super Sonic शब्द तरंगों के छन्दस्) अनुरूप तथा अनुपाती इलेक्ट्रान गति छन्दस् के साथ संयुक्त Compounded होकर उसे उपचित करने का सामर्थ्य रखते हैं। इसे उसी प्रकार से समझना चाहिये जैसे दो वायलिन एक स्वर में बजाये जानेपर दोनों के स्वरों का संयुक्तीकरण हो जाता है। अब यदि इलेक्ट्रान का वेग उपचय के कारण एक निर्दिष्ट सीमा (Critical Value) को पार कर जाता है, तब वे कक्षाच्युत होकर छिटक जाते हैं। उनके छिटकते ही अणु वैसे ही फट जाता है, जैसे ग्रहों के कक्षाच्युत होकर छिटकते ही सौर जगत की विचित्र स्थिति हो जाती है।

इस स्थिति में कक्षच्युत इलेक्ट्रान प्रबल वेग से समिध के दानों को धक्का देकर उन्हें कंपित करते रहते हैं। इस कम्पन की अभिव्यक्ति ताप के रूप में होती है। कुछ क्षणों तक यही अवस्था रहने पर ताप उपचित होकर समिध को भस्म कर देता है। अब मन्त्रशक्ति से समिध जल उठा है। रेडियम तथा अन्य स्थल पर इस दृष्टान्त

की अहवेलना नहीं की जा सकती। इसे समझ कर परीक्षण करना होगा। परीक्षण के क्षेत्र में विश्वासी तथा अविश्वासी, दोनों को सावधानी से चलना चाहिये। रास्ता टटोल कर आगे बढ़ना चाहिये। विज्ञान ने अणु का केन्द्र (Nucleus) विदीर्ण करते हुये महाविपुल शक्ति को उन्मुक्त करने की नूतन पद्धति का आविष्कार किया है। यह महाविपुल शक्ति एक अणु जैसी छोटी वस्तु से केवल सामान्य अग्नि के रूप में ही नहीं, प्रत्युत् प्रलयाग्नि के समान, महात्रास रुद्र के समान अथवा सर्वतोभद्र विश्वशिल्पी के समान आविर्भूत हो जाती है।

यदि शब्द में दहराणुओं को कंपित कर देने का सामर्थ्य है, उस स्थिति में वह उन्हें बिखेरते हुये अनेक अघटन घटित कर सकता है। शब्द तो ईथर के कणों को सजाते हुये अथवा इलेक्ट्रानों को व्यवस्थित करते हुये अथवा इन्हें समेटते हुये देवता की तैजस प्रतिमा को गढ़ सकता है। और एक बात है, जब जलीय वाष्प मेघकण में परिणत होती है, तब उसे घनीभाव के लिये एक-एक घनीभाव केन्द्र (Centres of Codensation) की अपेक्षा रहती है। जब जलीय वाष्प को एक एलेक्ट्रान अथवा अन्य सूक्ष्म वस्तु केन्द्र रूप में नहीं मिलती, उस स्थिति में जलीय वाष्प मेघकण रूप में परिणत नहीं होती। अब यदि यह कल्पना की जाये कि यज्ञ जनित धूम के अतिरिक्त मन्त्रोच्चार जनित शब्दस्पन्द इलेक्ट्रानों को बिखेरते हुये ऐसे घनीभाव केन्द्र की संरचना कर देता है, तब मन्त्रशक्ति के प्रभाव से पर्जन्य और वृष्टि का उदय होना असंभव नहीं हो सकता। यहाँ अनेक बिन्दुओं पर एकाग्रता प्रयोज्य है।

प्रथमतः यह देखना होगा कि शब्द इलेक्ट्रान आदि तक अपना प्रभाव व्याप्त कर सकता है अथवा नहीं। अभिव्यक्त शब्द जिन वायुस्पन्दों की सृष्टि करता है, उनके अतिरिक्त उस मूलस्थ चांचल्यात्मक परशब्द को जानना ही होगा जो अभिव्यक्त शब्द के सूक्ष्मतम पर्याय (supersonic) में विद्यमान है। किसी ह्रीं अथवा क्रीं आदि बीज के उच्चारण द्वारा हमारी प्राणशक्ति में परिस्पन्द का उदय होता है। तदनन्तर वह उच्चारण यंत्र को उत्तेजित करते हुये वायु को चँचलीकृत करता है। वायु का यह चांचल्य श्रवणेन्द्रिय को प्रकम्पित करते हुये हमारे शब्दज्ञान का कारण बन जाता है।

यही है प्राणशक्ति का आरम्भिक परिस्पन्द। और गहराई में देखने का क्या प्रयोजन? प्राणशक्ति स्वरूपतः क्या है? उसका स्पन्द ईथर अथवा इलेक्ट्रान आदि तक संचरित होता है अथवा नहीं? यदि यह स्वीकार कर भी लें कि मन्त्र के द्वारा यह सब अघटित भी घटित हो सकता है, उस स्थिति में यह शंका होती है कि क्या वेदोक्त और तंत्रोक्त मंत्र शक्ति सम्पन्न हैं? इन सबका समाधान तथा परीक्षण आवश्यक है। मैं यहाँ कतिपय तथ्य प्रश्नों के माध्यम से उठाकर परीक्षा और मनन के लिये एक सामान्य धरातल की ओर ध्यानाकर्षण करा रहा हूँ।

हमने धूलधुसरित काचखण्ड के समक्ष वायलिन बजाकर यह परीक्षण कर लिया है कि वस्तु के दानों को शब्द सजा, सवाँर कर, एक विशिष्ट आकार दे सकता है। इस परीक्षित क्षेत्र में हम शब्द को स्त्रष्टा (creative) कह सकते हैं। हम सूक्ष्मपर्याय (Supersocic) शब्दों की (रासायनिक, जैविक आदि क्षेत्रों में) गठन तथा मनन करने वाली क्षमता का परिचय प्राप्त कर चुके हैं। शब्द द्वारा रोगमुक्ति से लेकर अघटन-घटन भी किया जा चुका है। अतएव शब्द इस जगत् के मौलिक स्पन्द (causal stress) का अत्यन्त उत्तम संकेत है। आदिकारण ही कार्य प्रवाह रूप में, ब्रह्म के जगत् के रूप में आविर्भूत होता है। इस उपक्रम अथव अवस्था को शब्दब्रह्म कहना सुसंगत प्रतीत होता है। यह है विराट सुषुप्ति के अनन्तर विराट जागरण। महामौन व्रत भंग होने के अनन्तर का प्रथम आलापन। इसका उपक्रम एक चांचल्य में है—"मैं एक हूँ, अब मुझे 'बहु' अनेक होना होगा"। यह चांचल्य ईक्षण है। मौन की स्थिति अशब्द है। तदनन्तर है आदिम चान्चल्य की प्रथमानुभूति, प्रथमावाक्। यही वाणीमूर्त्ति प्रणव है। इसकी विवेचना आगे की जायेगी।

सृष्टि तो प्रजापति महाशय के शौक की यात्रा है। वे एक महादल के सर्वोच्च अधिकारी हैं। उन्होंने जहाँ 'एते' शब्द किया, तहाँ तैंतीस कोटि देवगण किसी पर्यटक दल के नवयुवकों के समान सजे-धजे अवतीर्ण हो गये! अतः वेद की यह व्याख्या नहीं की जा सकती कि देवसृष्टि शब्द से पहले हुई है। 'शब्दपूर्व्विका' है। शब्दब्रह्म का यह तात्पर्य नहीं है कि कोई एक व्यक्ति क्रमशः एक-एक शब्द का उच्चारण कर रहा है, और क्रमशः एक-एक पदार्थ सृष्ट हो रहा है। हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि शब्द का सृष्टि सामर्थ्य कोई असंभावना जैसी स्थिति नहीं है। अब शंका होती है कि प्रजापति जिस शब्द द्वारा सृष्टि कार्य करते हैं, वह कौन सा शब्द है? वेदों तथा पुराणों के अनुसार प्रथमतः उनके ध्यान में वेद शब्द आविर्भूत हुआ है। वेदशब्द का क्या तात्पर्यार्थ है? वह एक ऐसा शब्द है जिसके साथ निर्दिष्ट अर्थ और निर्दिष्ट प्रत्यय का नित्य सम्बन्ध है। "गौ" शब्द श्रुतिगोचर हुआ। मन में नैयायिकों द्वारा प्रस्तुत लक्षण और आकृति से मण्डित एक जन्तु की छवि उदित हो जाती है। आँखें खोलकर देखता हूँ एक गौ स्वच्छन्द मुक्त विचरण करती चारा खा रही है।

यहाँ प्रथम है शब्द, द्वितीय को प्रत्यय तथा अन्तिम को अर्थ किंवा विषय कहते हैं। हमारे अनुभव से इन तीनों का सम्बन्ध घनिष्ट है, परन्तु नित्य नहीं है। यदि हमने गौ कभी नहीं देखा है, उस स्थिति में गौ शब्द सुनने पर भी किसी विशेष प्रत्यय अथवा चित्तवृत्ति का उदय नहीं होगा। साथ ही यह भी कोई निश्चित नियम कानून नहीं है कि 'गौ' शब्द का वाच्य अर्थ गाय नामक चौपाया ही

होगा। यदि हम 10-5 व्यक्ति आपस में एक दूसरे से सहमति लेने के अनन्तर स्वयं को मनुष्य के स्थान पर "गौ" कहना प्रारम्भ करें, तो हमें कौन रोक सकता है?

भिन्न भाषा-भाषी व्यक्ति गाय को गौ न कह कर अन्य कुछ संज्ञा अपनी भाषा के अनुसार प्रदान करते हैं। इस दृष्टिकोणानुसार शब्द-अर्थ, वाचक-वाच्य का नियत सम्बन्ध कहाँ है? गौ शब्द से हमारे मन में उस श्यामला गाय की आकृति उदित हो जाती है, जिसका दूध ग्वालिन बेचकर अपना पेट भरती थी। कभी स्वयं नहीं पीती थी। वह गौ जिसके नाम पर शपथ लेकर कमलाकान्त न्यायालय के कठघरे में बयान दे रहे थे। शायद गौ कहने से तुम्हे धवलकान्ति वृषराज का स्मरण हो आये जो देवाधिदेव के रजतगिरि के समान वपु का वहन करते हुये अबाध गति से स्थावर जंगम सर्वत्र विचरण कर रहा है। अतः प्रत्यय एक रूप नहीं है। हमारा व्यवहृत प्रत्येक शब्द एक निर्दिष्ट प्रत्यय का उन्मेष मन की भूमि पर कर भी सकता है और नहीं भी कर सकता है। उसका एक निर्दिष्ट वाच्य अथवा अर्थ हो भी सकता है, किंवा नहीं भी हो सकता है।

हम शब्द अर्थ तथा प्रत्यय के सम्बन्ध में आलोचना स्थानान्तर में करने का निश्चय कर चुके हैं। यहाँ शंका यह है कि क्या प्रजापति को ध्यान की गाढ़ता में ऐसा ही शब्द मिला है? जो वेदशब्द मिला है, क्या उसका स्वरूप यही है? इन गूढ़ प्रश्नों के सामधानार्थ हमें कुछ तथ्य निश्चित रूप से स्मरण रखना होगा। प्रथम यह कि प्रजापति ब्रह्मा के मन में जो सिसृक्षा (सृष्टि की इच्छा) है, वह कथमपि शब्द नहीं है। वह उन्मेषात्मक (चान्चल्यात्मक) परशब्द है। यही है सृष्टि के प्रारम्भण की मर्मकथा! तदनन्तर ध्यान में वेदशब्द आविर्भूत होते हैं। ये शब्द समूह शब्दतन्मात्र हैं।

प्रजापति ने ध्यान में निरतिशय शब्द सुना है। उन्हें पारमार्थिक कर्ण (**Absolute Ear**) प्राप्त है। योगीगण भी उस शब्द को सम्यक् रूपेण नहीं सुन सकते। मैं जिस शब्द को "गौ" रूप से सुनता हूँ, उसका रूप प्रजापति के कर्णो में अन्य प्रकार का है। उनका श्रवण "गौ" की प्रकृति है। हम-तुम तो उस शब्द की अल्पविस्तर विकृति को ही सुन पाते हैं। योगीगण केवल उस शुद्ध शब्द के प्रान्त देश तक ही पहुँच पाते हैं। जब तक प्रजापति भूमि पर्यन्त उत्थान नहीं हो जाता, तब तक योगीगण भी सम्यक् रूप से शब्द के शुद्धतम स्वरूप को नहीं सुन सकते। प्रणव को अथवा ऐं, ह्रीं, क्रीं आदि शब्दों को हम जिस प्रकार से सुनते हैं, वह उनकी शुद्ध स्थिति अथवा प्रकृति नहीं है। यह विकृति है। हम जिस परिमाण में उच्च स्तर की ओर अग्रसर होते जाते हैं, शब्द भी उसी मात्रा में स्व-प्रकृति के अनुरूप होता जाता है।

एक वर्त्तिका (बत्ती) से आलोकरश्मि विभिन्न स्तरों के माध्यम (medium) से मेरी आखों से टकरा रही है। मान लो कि स्तर क्रमिक रूप से घन (dense) होते जा रहे हैं। इस स्थिति में रश्मि आखों पर वक्र रूप से टकरायेगी। इसे रश्मि का विकार (Refraction) कहा जाता है। शब्द भी इसी प्रकार का होता है। प्रजापति अपनी पारमार्थिक शक्ति के द्वारा जैसे शब्द को सुनते हैं और उच्चारण करते हैं, ठीक उसी प्रकार से उनके एक मानस पुत्र उसे सुनने और उच्चारण करने में अक्षम ही रह जाते हैं। वे प्रजापति से एक स्तर नीचे जो हैं। इसके पश्चात् उस शब्द को जिसने बोला सुना, उसमें एक और दोष आ गया। इसी प्रकार जब गुरु परम्परा क्रम से क्रमशः उतरती वह आदिम शब्दमाला हम तक, हमारे कर्ण तक पहुँचती है, तब तक उसकी निरतिशयता समाप्त प्रायः हो जाती है। उसकी स्वाभाविकता शायद ही बिन्दुमात्र ही बची हो!

अतएव सिद्धान्त यह है कि ब्रह्मा के ध्यान में जो वेदशब्द प्रकाशित हुआ है, वह हमारे द्वारा श्रुत एवं उच्चारित शब्दों से मिल ही नहीं सकता। हमारे स्तर तक आते-आते शब्द में सांकर्य तथा विकार का संचार हो जाता है। यह अवश्य है कि गुरु परम्परा के प्रभाव से उसमें उतनी अधिक विकृति तथा संकरता का संचार नहीं हो पाता। सांकर्य = Confusion। विकार = degeneration। प्रत्येक गुरु का यही प्रयत्न रहता हैं कि उसका शिष्य उसकी अपनी शब्द सम्पदा अक्षुण्ण रूप से प्राप्त करे। यही है वेद का प्रथम अंग शिक्षा। शिष्य के शिक्षा सम्बन्धित आयोजन में यह प्रथम है। गुरु परम्परा की सर्वदा यही सचेष्टता रही है कि शिष्य को शब्द-धारा यथार्थ रूप में प्राप्त हो और यह धारा आगे भी प्रवहमान रहे। इस चेष्टा के अभाव में अधिक विकृति परिलक्षित होती!

काशी जाकर रीति के अनुसार ब्रह्मचर्य पालन करते हुये वेदपारग आचार्य के चरणों में बैठकर शिक्षा-कल्प प्रभृति अंग के साथ जिस वेद शब्द को हम सुनते हैं वह भी परिशुद्ध अथवा अविकृत वेदशब्द नहीं है; अतः रमेशदत्त अथवा मैक्समूलर के वेद को पढ़कर क्या मिलेगा? वेद शब्द का विशुद्ध निरतिशय यथार्थ रूप तो प्रजापति के ध्यान में ही आविर्भूत हो सकता है। ऋषियों के द्रष्टत्व में शब्द अथवा मंत्र का जो रूप प्रकट होता है, वह भी पूर्ण नही तो करीब-करीब (approximate) विशुद्ध ही है। वह हमारे कर्ण तथा रसना तक आते-आते अधिकांशतः विकृत हो जाता है।

गंगा विष्णुपदोद्भवा है। उसकी उत्पत्ति विष्णुधाम से है। वैकुण्ठ भी गोलोक ही है। गो का अर्थ है वाक्। स्वयं शिव भगवान ना जाने कौन से नशे में मदमत्त होकर नाचते गाते रहते हैं? और "बजावत गजवदन लम्बोदर मृदंगआनन्द-भरे"। इस विराट नृत्य में सर्वभूतान्तरात्मा बिष्णु सात्विकभावापन्न होकर चंचल

हो जाते हैं। क्या यह सहज चांचल्य है? सृष्टि के आदि में सर्वव्यापी चिच्छक्ति में एक से दो होने के लिये जिस चंचलता का उन्मेष होता है, यह वही चांचल्य है। गोलोकस्थ परावाक् ही परशब्द है। 'तद्विष्णो परमं पदम्' इस विष्णुपद के चन्चल होते ही गंगा का आविर्भाव हो जाता है। यह है सनातनी, वेदमयी, शब्दमयी गंगा। इसकी तीन धाराओं का सन्देश हमें प्राप्त है यथा ऋक्-साम-यजुः, अथवा वैखरी-मध्यमा-पश्यन्ति। वस्तुतः कितनी धारायें हैं, कौन कह सकता है? विष्णु पद से उद्भूत गंगा को प्रजापति ने कमण्डलु में धारण किया!

अब परावाक् ही अपरा हो गई है। परशब्द ही परतन्मात्र बना है। शब्द का मूलभूत चांचल्य विशुद्ध तथा निरतिशय शब्द रूप प्रकाशित हुआ। कहाँ? प्रजापति के कमण्डलु में (ध्यान में), अथवा पारमार्थिक कर्ण में। प्रजापति ब्रह्मा तक आते-आते शब्द प्रसूति ही शब्द प्रकृति बन जाती है। नास्तिक महोदय! इस व्याख्या पर क्रोध न करें! जिन्हें हम प्रजापति कहते हैं, वह हमारे अनुभव का पराकाष्ठा केन्द्र मात्र है। जीव में अनुभव सामर्थ्य के नाना स्तरों की विद्यमानता (**A variable magnitude, a series**) रहती है। इस श्रेणी (**Series**) की पराकाष्ठा (**Limit**) कहाँ पर है? इसका ही अनुसन्धान करते-करते हमने प्रजापति को प्राप्त किया है। गणित तथा विज्ञान के क्षेत्र में भी इसी पराकाष्ठा को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न किया जाता है। इसमें आपत्ति के लिये कोई स्थान ही नहीं है। प्रजापति को नास्तिकगण केवल एक कल्पित पराकाष्ठा (**Conceptual Limit**) ही समझ लें। इस मामले में हमने अब तक गणित तथा विज्ञान के मानदण्डों का (नजीर का) लंघन नहीं किया है। मैंने नास्तिक तथा आस्तिक, दोनों को निमन्त्रित करके पत्तल परोस कर बैठा दिया है।

जो पत्तल पर रक्खे रसगुल्ला को बिना किसी प्रतिषेध-निषेध के अपने मुंह में रखते हुये रसास्वादन कर सकें, उन्हें ही मैंने आमंत्रित किया है। वे भी मेरे द्वारा निमंत्रण प्राप्त करने से वँचित नहीं है जो रसगुल्ले को देखकर यह उहापोह करने लगते हैं कि क्या यह कल्पना है, संज्ञा मात्र है, अथवा सचमुच रसगुल्ला है?। ऐसे लोग यही विचार करते हाँथ बाँधे बैठे रह जाते हैं। जो कुछ भी हो, जो गँगा (पश्यन्ति वाक् रूप से) ब्रह्मा के कमण्डलु में हैं, वे ही यथार्थतः इस मृत्यु जगत् की गंगा नदी नहीं हैं। जो शब्दराशि ज्ञान की पराकाष्ठा रूप है, जो वेद है, वह वेद हमारे कुंठित कृपण ज्ञान में, हमारी शब्द राशि में अपने यथार्थ स्वरूप तथा पूर्ण रूप में कैसे रह सकते हैं? इसी कारण वेद की विभिन्न श्रेणी (**Veda-series**) परिलक्षित होती है।

ब्रह्मा के कमण्डलु से बहती-बहती हर जटाजाल में पहुँची वह सुर शैवालिनी पथहारा होकर कल-कल ध्वनि करने लगती है। वह ध्वनि करने लगती है। यह

है शब्द अथवा वेद की सूक्ष्म अव्यक्तावस्था मध्यमा वाक् । इसी शब्द को योगीगण दिव्य कर्ण से ग्रहण करते हैं । याद रखना होगा कि हर (महादेव) योगेश्वर हैं । सर्वान्त में गोमुख (पर्वत्) से पतित पावनी, शैल सुतासपत्नी, वसुधा शृंगार हारा-वलि के रूप में इस वसुंधरा पर उतर आती हैं । यहीं है शब्द और वेद की स्थूल (वैखरी) मूर्त्ति । गोमुख=गो=वाक् । कथा यहीं समाप्त है । आप लोगों को शब्द के पूर्व व्याख्यात सभी स्तर इसमें मिले होंगे ! विष्णु का चाँचल्य परशब्द हैं । ब्रह्मा के कमण्डलु में गंगा का आविर्भाव शब्दतन्मात्र (शब्द की निरतिशय स्थिति) है । हरजटाजाल में फँसी अवगुंठिता गंगा सूक्ष्म शब्दरूपा है । सर्वान्त में गोमुख से गँगावतरण तो शब्द की स्थूलावस्था ही है ।

ब्रह्मा के ध्यान में जिस वेद शब्द का प्रादुर्भाव होता है, उसका लक्षण क्या है ? उस निरतिशय विशुद्ध शब्द को किस लक्षण के द्वारा पहचाना जा सकेगा ? यह कहा जा चुका है कि अर्थ और प्रत्यय के साथ नित्य एवं अव्यभिचारी सम्पर्क ही विशुद्ध शब्द का लक्षण है । कान पकड़ कर खींचों, मस्तक भी उसी दिशा में झुकेगा । इसी प्रकार शब्दोच्चारण के साथ-साथ जो वाच्य, विषय (अर्थ) तक्षण बन जाता है, उसे शब्दतन्मात्र, निरतिशय विशुद्ध शब्द कहते है । बाईबिल में उक्त है कि ईश्वर ने कहा 'आलोक हो जाये' और तुरन्त आलोक हो गया । वेद में भी ऐसा ही है । प्रजापति ने 'एते' शब्द किया और तत्काल एक-एक जाति के सृष्ट पदार्थ आविर्भूत होने लगे । जिस शब्द का उच्चारण होते ही उसकी मूलीभूत क्रिया अथवा स्पन्द क्रिया एक विशिष्ट पदार्थ की रचना कर देती है, वही है समर्थ अथवा स्त्रष्टा शब्द । वह निरतिशय शब्द है । जैसे 'गौ' शब्द के निरतिशय रूप का उच्चारण करने पर तत्काल एक गौ सृष्ट हो जायेगी । यदि ऐसा होता है, तभी वह निरतिशय शब्द है, अन्यथा नहीं है । निरतिशय शब्द के साथ उसके अर्थ (विषय) का ऐसा अटूट सम्बन्ध है कि शब्द होते ही अर्थ का निर्माण अवश्य होगा । विशुद्ध शब्द हुआ, परन्तु उसका विषय प्रकट न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता । हमारे द्वारा श्रुत तथा उच्चरित शब्दों में यह शक्ति लक्षण नहीं है-। यह सत्य है कि प्रत्येक शब्द में न्यूनाधिक रूप से तोड़ने तथा गढ़ने की शक्ति होती है । प्रत्येक शब्द एक छोटा मोटा ब्रह्मा किंवा रुद्र है ।

जैसे मैं 'रुपया' शब्द का उच्चारण करता हूँ । अब उच्चारण करते ही शब्दस्पन्द उन अणु-परमाणुओं को नोटिस भेजकर पकड़ लायेंगे और सजा-सवाँर कर रूपया का निर्माण कर देंगें । टकसाल खोल बैठेंगें । यह आशा करना व्यर्थ है । अभिप्रेत पदार्थ को सृष्ट कर सकने की शक्ति हमारे शब्दों में अभी नहीं है । यह विवरण प्राप्त होता है कि ऋषि-मुनिगण में एक सीमा तक यह शक्ति थी । एक कपिंजल श्वेतकेतु के आश्रम जाते समय किसी विमानचारी सिद्ध का लंघन

कर गये। तत्काल सिद्ध ने श्राप दिया "अश्व हो जाओ"। कपिंजल तत्काल अश्वरूप हो गये। यहाँ भी शब्दशक्ति ही है। दुर्वासा ने कण्वमुनि के द्वार पर पुकारा "अयमहं भो"। स्वामी चिन्ता में लीन शकुन्तला यह आह्वान न सुन सकीं। दुर्वासा ने क्रोध में श्राप दिया "आः अतिथिपरिभाविनी !" श्राप फलित हुआ। इन सब दृष्टान्तों से चाहे जो कुछ भी ध्वनित क्यों न होता हो, हमारे शब्द अत्यन्त खोखले, शक्तिहीन हैं। अतएव 'वाक्सर्वस्व' हमारे लिये तथ्यहीन हो चला है। कपोलकल्पना प्रतीत होता है।

जो कुछ भी हो, अर्थ को गढ़कर प्रस्तुत करने वाले शब्द को निरतिशय शब्द कहा गया है। यहाँ भी पराकाष्ठा (**Limit**) है। समस्त शब्द कुछ न कुछ हिला-डुला कर निर्माण करते हैं, अथवा तोड़ने का प्रयत्न करते हैं। शब्द वायुतरंग हैं। स्नायुस्पन्दन कराना उनका काम है। कोई शब्द यह न्यून रूप से करता है, कोई अधिक रूप से। सूक्ष्मपर्याय वाले शब्दों में तो यह शक्ति ओतप्रोत सी रहती है। सामान्य छन्दोबद्ध शब्द 'गढ़न' का कुछ और ही कृतित्व प्रदर्शित करते हैं। छन्द ही है प्राण व्याकरण। अतः वेदों के अनुसार छन्द से ही सृष्टि होती है। फिर भी मैं ऐसा मेघमल्हार नहीं साध सका हूँ कि "वृष्टि पड़िछे टुपटाप" गाते ही पर्जन्यदेव एक बौछार कर दें ! यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि दीपक राग के आधिक्य से तानसेन को दाह होने लगा था। अतः निष्कर्ष यह है कि मेरे द्वारा उच्चरित अनेक छन्दोबद्ध शब्द जिस प्रकार से व्यर्थ चले जाते हैं, वे ही शब्द गुणी-समर्थ के गले से निकलने पर सार्थक हो जाते हैं। मैं यहाँ भी नास्तिक महाशय को नकारात्मक शिर नहीं हिलाने दूंगा। जिस शब्द में सृष्टि सामर्थ्य (**Dynamic or Creative Functions**) की एक पराकाष्ठा है, उसे निरतिशय शब्द कहा जा सकता है। यही है स्वाभाविक शब्द (**Natural Name**)। आंग्ल भाषा में कहने पर स्वाभाविक शब्द का लक्षण इस प्रकार से अंकित किया जा सकता है :—

"The Sound being given a thing is evolved, Conversely, a thing been given, a sound is evolved."

यदि शब्द है तब उसकी अभिधेय वस्तु गठित हो जाती है। यदि वस्तु है, तब (कान रहने पर) उसका शब्द अवश्य श्रुतिगोचर होगा। अर्थात् शब्द तथा अर्थ मेरी हथेली का दोनों भाग है। सिर पर पंखा चल रहा है। मैं उसका शब्द सुन रहा हूँ। परन्तु क्या मैं अपने चश्में के उपर पड़े जल विन्दु अथवा धूलिकण का शब्द सुन सकता हूँ ? क्या उसमें भी शब्द है ? हमारे भौतिक कानों के लिये उसमें शब्द नहीं है। वैज्ञानिक के यान्त्रिक कर्ण अथवा योगी के दिव्य कर्ण शायद उसे सुन सकें, परन्तु पारमार्थिक कर्ण तो उसके भी शब्द को ग्रहण कर लेता है। किस रूप में ? स्मरण रखो कि चांचल्योत्पत्ति होते ही जो कर्ण निरतिशय रूप में सुन लेता है,

वही पारमार्थिक कर्ण है। चाहे इलेक्ट्रान का संचलन हो, अथवा ईथर की तरंगों का अभियान हो, अणु-परमाणु का कम्पन हो, अथवा कोई भी स्थूल या सूक्ष्म चांचल्य हो, पारमार्थिक कर्ण के लिये सब कुछ श्रुतिगोचर हो जाता है।

दिव्य कर्ण भी एक सीमातक इन्हें सुन सकता है। अब यह देखना है कि चश्में के उपर पड़ा जलकण क्या है ? अनेक सूक्ष्मतम दानों ने एक दूसरे को बाँध कर इस जलकण का संगठन किया है। प्रत्येक दानों के मध्य में (Molecule में) Oxygen और Hydrogen के अणु हैं। इनमें पुनः इलेक्ट्रान सौर जगतीय ग्रह-उपग्रह के समान घूर्णित हो रहे हैं। दानों में कम्पन होता है। अणु अपनी व्यूहरचना (रसायन विज्ञान ने इसे Space-representacion कहा है) करते हुये स्पन्दयुक्त होते हैं। अतः जलकण चांचल्य युक्त है। विशेष गवेषणा करने पर यह सब एक चिद्वस्तु के अन्दर का चान्चल्य ही है। सुस्थिर जल में एक उपलखण्ड फेका। एक केन्द्र बना, उत्तेजना हुई। दूसरी जगह उपलखण्ड फेका। वहाँ एक अन्य उत्तेजना केन्द्र बना। इस प्रकार अनेक उत्तेजना केन्द्रों का सन्धान मिलता है।

हम जगत् में जिन वस्तु समूह को एक-एक द्रव्य कहते हैं, वे भी एक उत्तेजना केन्द्र हैं। हम भी एक उत्तेजना केन्द्र हैं। इसका आधार अथवा उपादान खोजने की आवश्यकता नहीं है। इसे शास्त्र ने चिद्वस्तु अथवा चित्सत्ता कहा है। विज्ञान भी उन्मुख है। कतिपय शक्तियों (Forces) के द्वारा एक-एक उत्तेजना केन्द्र की सृष्टि तथा उनकी स्थिति होती है। जल में एक आवर्त्त का उदय कराने के लिये तथा उसे कुछ क्षणों पर्यन्त स्थायी रखने के लिये कतिपय शक्तियों का समावेश प्रयोज्य है। इस प्रकार की शक्तियाँ ही आवर्त्त के उदय और स्थिति की स्वामिनी-नियामिका हैं। इन शक्तियों को Constituing Forces कहा जा सकता है। जैसे तुम मुझे खीच रहे हो, मैं तुमको खीच रहा हूँ। एक शक्ति का प्रयोग तुम करते हो, एक का मैं ! यदि इस खीचनें की प्रक्रिया को सार्वभौम रूप से देखें, तब उसकी परिभाषा होगी Stress (शक्तिगुच्छ अथवा शक्तिव्यूह)। वर्त्तमान दृष्टिकोण से शक्तिव्यूह के अंशद्वय (Elements or Partials) होते हैं। अर्थात् तुम खींचते हो और मैं खिच रहा हूँ।

इसी कारण हम शक्तिव्यूह शब्द का व्यवहार करते हुये यह कह सकते हैं कि जलावर्त्त में शक्तिव्यूह (Causal Stress) है। तुम्हारे मूल में भी एक शक्तिव्यूह है। मेरे भी मूल में शक्तिव्यूह की स्थिति है। हम अपने दृष्टिकोण तथा प्रयोजनानुरूप ब्रह्माण्ड को खण्ड-खण्ड देखते हैं। हम यह सोचते हैं कि एक खण्ड के साथ दूसरे खण्ड का सम्पर्क नहीं है। समस्त शक्तिव्यूह दुर्भेद्य है और पारस्परिक सम्बन्ध में निरपेक्ष तथा उदासीन है। लेकिन वस्तुतः ऐसा नहीं है। यह ब्रह्माण्ड एक विराट

तथा अविच्छिन्न शक्तिव्यूह (An infinite system of Stress) है। हम जिसे उपरोक्त दृष्टान्त के अनुसार जल का आवर्त्त कहते हैं, अथवा जिसे सम्मिलित देश-काल:सत्ता का आवर्त्त कहते हैं, वह उस विराट् अविच्छिन्न शक्तिव्यूह का एक अंग, अथवा अवयव (Partial) ही है।

जलकण की कारणीभूता शक्तिव्यूहात्मिकता ने जिस चान्चल्य का प्रबोधन कर रक्खा है, (इसे इलेक्ट्रान अथवा स्थूलतर दानों का चान्चल्य क्यों न कहें) उस चान्चल्य को जब पारमार्थिक कर्ण द्वारा सुना जाता है, तब वही उस जलकण का शुद्ध शब्द है। प्रत्येक द्रव्य (चेतन-अचेतन-उदभिद् आदि) की सृष्टि तथा स्थिति का आधार यही शक्तिव्यूह है। उस शक्तिव्यूह की जो अभिव्यक्ति (शब्द अथवा रूप में) निरतिशय शब्द सामर्थ्य में होती है, वही उस पदार्थ का विशुद्ध स्वाभाविक शब्द है। जीवकोषों का संचालन होता है, ह्रासवृद्धि होती है, उसके आभ्यन्तर में टूट-फूट (anabolism, katabolism) होता है। जो शक्तिव्यूह इस चान्चल्य के मूल में है, उसी से शब्द ज्ञानोत्पत्ति होती है।

हम इस शब्द को ही भौतिक कर्ण से सुन नहीं सकते, तब इलेक्ट्रान के सन्चालन, ईथर अथवा अतिसूक्ष्मसत्ता युक्त अन्य आवर्त्तों को कैसे सुना जा सकेगा? इन अतीन्द्रिय शब्दों में से कतिपय शब्दों को वैज्ञानिक तथा योगीजन दिव्य कर्ण से सुनने में सफल होते हैं; परन्तु वे सभी को नहीं सुन सकते। हाँ, पारमार्थिक कर्णों द्वारा शक्तिव्यूह जनित प्रत्येक चान्चल्य को शब्द रूप से सुना जा सकता है। वही उस क्षेत्र का स्वाभाविक शब्द है। जब हम उसका वही नामकरण कर देते हैं, तब, वह उसका स्वाभाविक नाम Natural Name हो जाता है।

स्वाभाविक शब्द वस्तु का बीजमंत्र है। जैसे 'रं' अग्निबीज है। अग्नि के मूल में भी शक्तिव्यूह है। वह शक्तिव्यूह (Constituating Forces) हमारे चक्षुओं को उत्तेजित करके रूपज्ञान को जन्म देता है। त्वगिन्द्रिय से सम्बन्धित स्नायुओं को उत्तेजित करते हुये तापज्ञान का उन्मेष करता है। वह साधारणत: श्रवणेन्द्रियों को उत्तेजित करके किसी भी प्रकार के शब्दज्ञान की उत्पत्ति नहीं कर सकता। पारमार्थिक कर्ण में उसका शब्द आता है। दिव्यकर्ण भी उसे सुन सकता है। परन्तु भौतिक कर्ण उसे सुन सकने में अक्षम रह जाते हैं। दिव्य कर्ण ने उसे 'रं' रूप से सुना है। यह परिक्षणीय है। जब तक हम परीक्षण के द्वारा सन्तुष्ट नहीं हो जाते; तबतक गुरुमुख से अथवा शास्त्रों से सुनकर मान लेना पड़ता है कि लं पृथ्वी का, वं जल का, रं अग्नि का, यं वायु का और हं आकाश का बीज है। हमने पारमार्थिक कर्ण का यह नामांकन कर तो दिया है, परन्तु उसे छू सकने का अधिकार हमें सही है। हम अधिक से अधिक दिव्य कर्ण के द्वारा ही कुछ गतिविधि कर सकते हैं। इस दिव्य कर्ण से प्राप्त अनुभव द्वारा हम यह कह सकते हैं कि अग्नि तथा

व्योम के मूल में जो शक्ति समूह है, उसकी शब्दाकृति अभिव्यक्ति (Acoustic Equivalents) ही अग्नि तथा व्योम का बीज मंत्र है रं तथा हं।

दिव्य कर्णों द्वारा सुना गया शब्द प्राय: विशुद्ध तथा निरतिशय नहीं होता। अत: रं अथवा हं को approximate acoustic equivalents of the underlying stresses or constituting forces of fire and ether कहा गया है। केवलमात्र पंचभूतों का ही नहीं, जीवमात्र का एक निजस्व बीजमंत्र है। दीक्षा के समय गुरुवक्त्र से जिस मंत्र की प्राप्ति होती है, उसे हमारे निजस्व बीजमंत्र के अनुरूप अथवा अनुकूल होना चाहिये। दोनों का अन्तर्विरोध होनेपर हमारा आभ्यन्तरिक शक्तिव्यूह अस्वस्थ और व्याहत सा हो जाता है। यदि गायन के समय गले के स्वर और मत्र के स्वर का तालमेल (Disharmony, discord) नहीं है, तब जो होता है, यहाँ भी वही समझना चाहिये। यहाँ बीजमंत्र तथा स्वाभाविक नाम के सम्बन्ध में अधिक आलोचना प्रयोज्य नहीं है।

बीजमंत्र मौलिक तथा यौगिक रूपद्वय के कारण द्विविध हो सकता है। मौलिक = Simple, यौगिक = Compound। रं मौलिक बीज है। हंस, क्रीं, ह्लीं प्रभृति को यौगिक बीज कहते हैं। यहाँ हमें स्वाभाविक शब्द किंवा बीजमंत्रों को भूलना नहीं चाहिये। मैंने शंखवादन किया अथवा कौवा बोला! यद्यपि हम इन दोनों को स्वाभाविक शब्द कहते हैं, तथापि विवेच्य लक्षणों के अनुसार इन्हें स्वाभाविक शब्द कहना उचित नहीं है। जिस शक्तिव्यूह ने शंख को शंखत्व प्रदान किया है, उसकी पारमार्थिक कर्ण अथवा दिव्य कर्ण में शब्द रूपेण जो अभिव्यक्ति है, वही शंख का स्वाभाविक नाम तथा बीजमंत्र होगा। शंखध्वनि कदापि शंख की बीजशक्ति से असम्बद्ध नहीं है।

हमने काक की पुकार सुनकर काक का नाम 'काक' रक्खा है। यह नाम काक का बीजमंत्र नहीं हो सकता। काक की ध्वनि काकत्व से अभिनि:श्रित हो रही है। अत: यदि काक के बीजमंत्र का नाम **मुख्य (Primary) स्वाभाविक नाम** है, उस स्थिति में उसकी ध्वनि को सुनकर हमने उसका जो काक नाम रक्खा है, वह उसका गौण (Secondary) स्वाभाविक नाम होगा।

स्वाभाविक नाम, बीजमंत्र का किंचिद विवरण दिया जा चुका। स्वाभाविक नाम के श्रेणी विभाग को विशेषत: लक्ष्य करना चाहिये। वह श्रेणी विभाग अन्य प्रबन्ध में आलोचित होगा। यहां केवल मात्र कौतूहल जाग्रत कर देने के प्रयोजन से उसका उल्लेख किया गया है। बीज मंत्र का प्रारंभिक रूप हम इस प्रबन्ध में गहनता से देख चुके हैं। श्रेणी विभाग आयत्त करने पर इसके मूल तत्व को हृदयंगम करने में सुविधा हो जाती है। यहां यह स्मरणीय है कि किसी द्रव्य से तात्पर्य है एक शक्तिव्यूह तथा चांचल्य केन्द्र। इस व्यूह एवं केन्द्र के रहने पर ही उसकी एक

शाब्दिक प्रतिकृति (Acoustic equivalent) बनती है। यही पारमार्थिक अथवा दिव्यकर्ण में उसका बीजमंत्र है। यह हुआ एक पक्ष।

दूसरे पक्ष के अनुसार बीजमंत्र अथवा स्वाभाविक शब्द होने पर द्रव्य का संजात अथवा आविर्भूत होना अनिवार्य है। जब योगीगण समर्थ रूप से रं का उच्चारण करते हैं तो अग्नि का आविर्भाव हो जाता है। यदि हम तुम मिलकर यौगिक मंत्रों का पुनः-पुनः सम्यक् रीति से उच्चारण करें, उस स्थिति में शक्ति की संहति (Summation of Stimuli, Superposition of motions) होकर अग्नि प्रज्वलित हो जा सकती है, अन्यथा जठरानल तो प्रदीप्त होगा ही ! हमारे द्वारा उच्चारित मंत्र विशुद्धतः स्वाभाविक नहीं हैं। अतः उसका फल प्राप्त करने के लिये ध्वनि, छन्द प्रभृति को अक्षुण्णः रखते हुते पुनः पुनः पुरश्चरण करना आवश्यक हो जाता है।

अन्त में यह कहना है कि मंत्रों का परीक्षण करना चाहिये, जैसे विज्ञान में परीक्षण होता है। यह भलीभांति ज्ञात है कि भारत के हिन्दुओं के जीवन-मरण, विवाह-श्राद्ध, क्रियाकर्म और नित्यनैमित्तिक अनुष्ठानों में अभी भी मंत्र का पूर्ण आधिपत्य है। अतः यदि इसकी आलोचना करने वाले कतिपय कूपमंण्डूक इसे उड़ा देना चाहें, इस स्थिति में इससे 'काम की बात' का पता नहीं चल सकेगा।

स्वाभाविक शब्द अथवा मंत्र (द्वितीय अंश)

प्रथमांश में हम शब्द के मूल के सम्बन्ध में एक सीमा पर्यन्त चर्चा कर चुके हैं। शब्द का विश्लेषण करने पर हम अपने जगत् प्रत्यय के पंच स्तर का प्रत्यक्ष करते हैं, यथा अशब्द, परशब्द, शब्दतन्मात्र, सूक्ष्मशब्द और स्थूल शब्द। अन्तिम तीनों अपरशब्द हैं। सामने विशाल जलराशि है। यदि जल में चंचलता नहीं है, जलराशि स्थिर रूप में एक स्फटिक दर्पणवत् सम्मुखीन है, तब यह अशब्द अवस्था है। जल में चंचलता जाग्रत है, तरंगों की दौड़भागः उठापटक हो रही है, यह है परशब्द। यदि कोई इस ऊर्मि चांचल्य को सुनने वाला उपस्थित नहीं है, तब भी वह परशब्द है। इसका कारण यह है कि स्पन्द अथवा चांचल्य मात्र को हमने परशब्द मान लिया है, भले ही यह स्पन्द श्रुतिगोचर हो अथवा न हो !

तदनन्तर इस जलराशि के चांचल्य को प्रजापति ने अपने कर्ण से निरतिशय सामर्थ्य के द्वारा ऐसे सुना, जिससे अधिक विशुद्ध रूप से सुन सकना संभव ही नहीं हो सकता ! यह है शब्दतन्मात्र, तरंग चान्चल्य की शुद्ध अविकृत वाणीमूर्ति ! यही है शब्द की प्रकृति तथा आदर्श (Standard)। ये तरंगे चाहे कितनी ही छोटी क्यों न हों, चान्चल्य मृदुतम क्यों न हो, बाह्यतः कोई चंचलता न रहने पर भी अणु-परमाणु-इलेक्ट्रान प्रभृति की ही चंचलता हो, यह सब भी प्रजापति के कानों के

लिये अश्रुत नहीं रह सकता। उनका कर्ण श्रवणशक्ति की पराकाष्ठा है, निरतिशय श्रवण सामर्थ्य है। जिन्हें यह भ्रम है कि यह कल्पित पराकाष्ठा है, वे वैसा ही समझ कर तृप्त हों! पक्षान्तर से चाञ्चल्य कितना ही विराट, विपुल क्यों न हो, उसे भी प्रजापति शब्द के ही रूप में सुन रहे हैं। कोई भी स्पन्द तभी श्रुतिगोचर हो सकता है, जब वह एक अधोरेखा तथा उर्ध्वरेखा के मध्य की अवस्था में रहता है। जब वह सूक्ष्मता की एक सीमा का अतिक्रमण कर जाता है, तब हम उसे सुनने में असमर्थ रह जाते हैं इसी प्रकार विपुलता का सीमातिक्रमण करते ही उसकी श्रुतिगोचरता समाप्त हो जाती है।

प्रजापति के लिये ऐसी कोई भी सीमारेखा का अस्तित्व ही नहीं है। इस प्रकार के श्रवण सामर्थ्य की आलोचना हम प्रथमांश में कर चुके हैं। जहां स्तरानुक्रम है, सोपानक्रम है वहीं पराकाष्ठा को सोचा जा सकता है। वह पराकाष्ठा भूमि ही प्राजापत्य पदवी, ऐश्वर्य हैं। इसी का लक्षण देते हुये योगशास्त्र ने कहा है "तत्र निरतिशयं सर्वज्ञत्वबीजम्"

यदि अगस्त्य एक गण्डूष में समुद्र को पी जाने का संकल्प लेकर समुद्र तट पर आ उपस्थित हों, तब वे अपने दिव्य कर्णों के द्वारा समुद्र के मृदु मन्द स्पन्दो की वह भाषा सुनने में सक्षम हो सकेंगे जो हमारे आपके भौतिक कानों में कोई भी प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं कर सकती। इस वैज्ञानिक युग में वैज्ञानिक योगी जिन सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट वस्तुस्पन्द समूह को ध्वनि के रूप में अपने यंत्ररूप दिव्यकर्ण के माध्यम से ग्रहण करते हैं, वह सब हम सुन सकेंगे ऐसी कल्पना भी कुछ समय पूर्व तक कोई नहीं करता था। अब विज्ञान की कृपा से हम टेलिफोन नामक नली को कानों पर लगाकर दिव्यकर्ण का आनन्द ले सकते हैं। उस दिव्य कर्ण की कृपा से आप काशी में रहकर बातें करें और मै उसे (कलकत्ते की) इस तत्वविद्या समिति में ही रहते हुये, बिना ध्यानस्थ (Clairvoyant) हुये, अविकल भाव से सुन सकूंगा! अब ज्ञात होता है कि तत्वविद्या के अनुशीलनकर्त्ता ध्यान धारणा द्वारा बिना टेलिफोन की सहायता के ही ऐसी वार्त्ता कर सकने में सक्षम थे। यह भी प्रतीत होने लगा है कि विज्ञान भी तत्वविद्या के इंगित का अनुसरण करता हुआ ही चलता है। टेलिफोन में तार लगाना पड़ता है। उस पर भी श्रम तथा व्यय का हंगामा होता है। हम जिस परिमाण में जड़ की सहायता लेते हैं, उसी परिमाण में जड़को स्वहस्ताक्षरित पट्टा लिखकर उसकी गुलामी करनी पड़ती है। ऐसा नहीं होता कि तत्ववेत्ता की तरह इच्छा मात्र से कार्य हो गया। कार्य के लिये उद्यत होने पर जिन पांच बाह्य वस्तुओं पर निर्भर रहना पड़ता है, उनके ही अनुरूप योगायोग कर लेना चाहिये। पांच वस्तुपंच महाभूत तथा उनसे निर्मित पदार्थ।

ऐसी स्थिति में यह निश्चित है कि वैज्ञानिकों का टेलिफोन हमें अनेक सुविधायें प्रदान करने वाला होकर भी स्वाधीन नहीं बना सकता। यही नहीं, वैज्ञानिकों के सभी आयोजन हमें दास बना रहे है। हम दास बन रहे हैं बाहर के, पराये के! दीवाल पर लगा खटका दबाते हैं और शिरः के पास सुसज्जित काँचपुरी (बल्व) के अन्दर क्षणमात्र में बत्ती जल उठती है। कितना आनन्द है। यह याद रक्खो कि जिस विराट तारों के जाल ने शहर के उपर आकाश को छा रक्खा है, अथवा जमीन के नीचे केबुल के रूप में, नीचे-नीचे धरती के अन्दर अपने कलेवर की शिराओं–प्रशिराओं को फैला रक्खा है, उस स्थल विशेष में तनिक भी गोल-माल हो जाने पर, खटका दबाना तो दूर रहा, माथा फोड़ कर श्मशान प्राप्ति की संभावना ही खड़ी कर लूं, तब तो मेरे घर के भीतर के अन्धकार का जमाव टूटेगा ही नहीं। वैज्ञानिकों ने विज्ञान की मायापुरी से परिचय तो करा दिया है, तथापि यह तो एक गुलाम खाना है—इसे स्मरण रखना ही होगा!

विज्ञान भी इसे समझ रहा है। तभी उसने टेलिफोन, टेलिग्राफ के खम्भों को उखाड़ फेंकने का निश्चय करके सूक्ष्म तथा दूरवर्त्ती स्पन्दों को ग्रहण करने के एक अभिनव उपाय का आविष्कार किया हैं। विज्ञान के इस क्षेत्र के मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं आचार्य मैक्सवेल और हार्ज। मारकोनी नामक पुरोहित की कर्मकुशलता से उस मंत्र का सम्यक् विनियोग हुआ हैं। इस विनियोग का फल इस जगत् में प्राप्त हुआ है बेतार के तार के रूप में। अतएव अब समुद्र के जल में तार cable छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। अब लम्बे-लम्वे खम्बों द्वारा सैकड़ों योजन तार लगाये बिना ही समाचारों का आदान-प्रदान चलता रहता है। यद्यपि अब तार पर निर्भरता कम हो चली है, तथापि जो एक अन्य यंत्र तैयार करके काम लेना पड़ रहा है, कभी-कभी वह इतनी विशाल गतिविधि में बाँध. देता है कि हमारे जैसे अदरख के व्यवसायियों के प्राण विस्मयाभिभूत हो जाते हैं।

यद्यपि इस तारहीन वार्त्तावह ने हमारी शक्ति के विस्तार में अभिवृद्धि की है और बाहर की दासता को कम कर दिया है, तथापि अभी तक हम शक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँच सकने में अक्षम हैं और हमारी गुलामी भी समाप्त नहीं हो सकी है। जहाँ प्राजापत्य पदवी है, वहीं शक्ति की पराकाष्ठा है। वहाँ सब कुछ आत्मवत् है, वही स्वराज्य सिद्धि है। यहीं जगत् का चरम लक्ष्य भी है। विज्ञान भी अनेक भूल-भ्रान्ति, संशय-संस्कार के बीच से इसी लक्ष्य की ओर अभिमुखीन गति से बढ़ रहा है। यदि भारत का अध्यात्म और तत्त्वविद्या निर्भ्रान्त है, उस स्थिति में उसके अनुशीलन के द्वारा मनुष्य इस लक्ष्य की ओर पहुँच सकता है। जिन ईथर तरंगों को तार रहित वार्त्तावह यंत्र (Co-hearer) पकड़ता है, उनको तथा उनसे भी सूक्ष्मतर कम्पनों को (शक्ति की पराकाष्ठा वाली स्थिति में) ध्यान

द्वारा पकड़ा और अनुभव किया जा सकता है। इस स्थिति में हमारी शक्ति बाह्य सम्बन्धों से निरपेक्ष और स्वाधीन सी हो जाती है। हमें सुदरवर्त्ती स्पन्दनों के लिये यंत्र की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

अतः स्पष्ट हो जाता है कि दिव्यकर्ण तथा योगज शब्दप्रत्यक्ष के विभिन्न स्तर होते हैं। जैसा यंत्र वैसा श्रवण ! ध्यानधारणा की प्रगाढ़ता के ही तारतम्य के अनुरूप अनुभव भी प्रगाढ़ एवं गंभीर होता जाता है। दिव्य कर्ण की चरम परिणति है पारमार्थिक कर्ण। समस्त योगज विभूति का पूर्ण विकास योगेश्वर में होता है। जलराशि के दृष्टान्त के द्वारा हमने प्रथमांश में व्याख्यात मुख्य तथ्यों को दोहरा लिया है। शब्द के स्तरपंचक और शब्द ग्रहण सामर्थ्य के त्रिस्तर, यही प्रधानतः ज्ञातव्य हैं। स्वाभाविक शब्द और बीजमंत्र का लक्षण, द्रव्य भी-एक शक्ति समूह है, यदि वह किसी निरतिशय श्रवण सामर्थ्य के द्वारा शब्दरूपेण गृहीत हो, उस स्थिति में वह शब्द उस द्रव्य का स्वाभाविक नाम किंवा बीज है, यह सब प्रथमांश में कहा जा चुका है।

यह सिद्ध है कि विशुद्ध बीजमंत्र में द्रव्य अथवा अर्थ को रूपायित करने की शक्ति होती है। हम गुरुमुख के माध्यम से अथवा साधना में जिस मंत्र को प्राप्त करते हैं, वे सभी अल्पविस्तरतः विकृत तथा संकीर्ण होते हैं। यह क्यों होता है ? यह सभी प्रथमांश में विवेचित हुआ है। अतः एक प्रकार से प्रयोगगत् बीजमंत्र शुद्ध नहीं हैं। यही कारण है कि उनकी स्वाभाविक शक्ति सुप्त सी रहती है। उस शक्ति को मन्त्रोद्धार-मंत्र चैतन्य और जप पुरश्चरणादि के माध्यम से जाग्रत करना चाहिये। दृष्टान्त एवं युक्ति द्वारा हमने प्रथमांश में इसे विवेचित किया है।

जड़ जगत् के सविता तथा ग्रह-उपग्रह की आदिम अवस्था की कल्पना वैज्ञानिकों ने एक विपुल नीहार समुद्र के रूप में निश्चित कर रक्खी है। ऋषियों ने भी जड़ तथा चेतन जगत् के आदि कारण तथा उपादान को कारण सलिल कहा है। ऋषिगण कवि तो अवश्य थे। वेद-पुराण की काव्य सम्पदा अतुलनीय है। क्या आप भी इस अपूर्व चित्र की परीक्षा करना चाहते हैं ? कारण-सलिल में अनन्त शेष शैय्या पर विश्रान्त भगवान् विष्णु योगनिन्द्रा से आच्छन्न हैं। उनके नाभि कमल पर ब्रह्मा ध्यानस्थ हैं। इस स्थिति में विष्णु के कर्णमल से उद्भूत मधु कैटभ दैत्यद्वय "ब्रह्माणं हन्तुमुद्यतौ" ब्रह्मा को मारने लगे। विपन्न स्थिति ब्रह्मा ने योगनिद्रा का स्तवन करते हुये विष्णु को प्रबोधित कराया। विष्णु दैत्यद्वय से युद्धरत हो गये। युद्ध से प्रसन्न दैत्यद्वय ने विष्णु से कहा 'तुम हमसे वर माँगो' विष्णु ने उनके वध का वर माँगा। इस गल्प का रहस्य क्या है ? हम जिस शब्द विज्ञान की आलोचना में तत्पर है, उसी का मूलतत्त्व इस गल्प में निहित है।

विष्णु हैं सर्वव्यापी आत्मा—चैतन्य। वे एक हैं, दो नहीं है। अकेले तो सृष्टि होती नहीं। सृष्टि के लिये स्वयं को दो बनाना चाहिये। अतः एक भाग है अथवा प्रकार (Aspect) है आधार, दूसरा है आधेय। अनन्त शेषशैय्या तो जागतिक आधार वस्तु है। यह विराट आधार वस्तु एक अपरिसीम शक्तिव्यूह (An infinite system of stresses) है। हम समझते हैं कि एक जलविन्दु को कतिपय शक्तियों ने गठित किया है। हम अपनी सुविधा के लिये किसी भी व्यापार को छोटा बनाकर देखने लगते हैं। वास्तविकता तो यह है कि वह विराट आधार शक्ति जलकण के अणु-परमाणुओं को बाँधकर संजोये रखती है। वह तो ब्रह्माण्ड का निखिल शक्तिव्यूह है। क्या जलबिन्दु अपने जल स्वरूप में स्थित रह सकता था, यदि उसे पृथ्वी, वायु प्रभृति के कण खींचते हुये दबाकर आबद्ध न रखते? क्या यह पृथ्वी और उसका सार संग्राम सँभव था यदि सौरजगत् के अपरापर द्रव्य उसे सँभाल कर न रखते? इस प्रकार से खीचनें और दबाने आदि को एक शब्द में ही कहा जा सकता है। वह शब्द है शक्तिव्यूह! अतएव जगत् में कुछ भी इस प्रकार का छोटा किंवा अल्प जैसा नहीं है, जिसकी आधारशक्ति अनन्त शेषशैय्या न हो!

हम देखते हैं कि उसकी आधारशक्ति (Consisting forces) समस्त शक्तिव्यूह से तिलमात्र भी कम नहीं है। हमारी आदत है अल्प देखने की। यही कारण है कि अल्प के मूल में स्थित और अल्प को घेर कर स्थित विराट भूमा का स्पर्श करने में अक्षम से रह जाते हैं। विज्ञान के कठिन माथापच्ची के द्वारा पृथ्वी और सीताफल (शरीफा फल) के गुरुत्वाकर्षणजनित पारस्परिक खींचतान का विवरण देख कर हम आल्हाद से फूल कर आठगुने हो जाते हैं, किन्तु इस स्थल पर यह भूल से जाते हैं कि केवलमात्र गणित की इच्छा और 'फरमाईश' से ही शरीफा और पृथ्वी के पारस्परिक आकर्षण के आधार पर इस विश्व का काण्ड कारखाना (Factory) नहीं चल रहा है। यह दो-दो पिण्डों के पारस्परिक आकर्षण की बात हुई, परन्तु जहाँ तीन के पारस्परिक आकर्षण का प्रश्न है, उसे समझने में तो "लाप्लास" के समान भी चकरा उठते हैं। अब समस्त, निखिल शक्तिव्यूह का विवरण कौन व्यक्ति प्रस्तुत कर सकेगा? यद्यपि विवरण प्रस्तुत हो अथवा नहीं, शक्तिव्यूह, आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त ब्रह्माण्ड को विष्णु ने आधार शक्ति के रूप में धारण कर रक्खा है। उस आधार शक्ति का संकेत चिह्न है अनन्त शेषशैय्या! इस अनन्त शैय्या का एक आस्तरण है "मिथुनीभूत देश-काल'।

इसके अनन्तर नाभिकमल की स्थिति है। वहाँ ब्रह्मा रहते हैं। ब्रह्मा कौन? जो शब्दब्रह्म अथवा ब्रह्म के शब्द प्रवाह के रूप में अभिव्यक्त हैं। यह अभिव्यक्ति सर्वव्यापी आत्मा (विष्णु की अनन्तशय्यास्तीर्ण मूर्त्ति) को आधार

अथवा आश्रय देती है। वह निखिल शक्तिव्यूह (सहस्त्रशीर्ष सहस्त्राक्ष सहस्त्रपाद्) है। घड़ी बज उठती है। इस बजने के मूल में है घड़ी के आभ्यन्तरीण चक्रों की, दोलक की शक्ति (Forces)।

केवलमात्र अन्दर का समाधानात्मक हिसाब देने से ही छुटकारा नहीं मिलता। बाह्यताप, आलोक, ताड़ित्, चुम्बक शक्ति तथा अन्य द्रव्यों का आकर्षण इस बजनें की धटना की पृष्ठभूमि में है। अतः जब घड़ी अथवा कुछ भी बजता है, उस समय उसके मूल में वह अनन्तदेव ही हैं जिनके सहस्त्र शीर्ष और सहस्त्र आखों वाला स्तवन वेदवाणी सुनाया करती है। इससे स्पष्ट होगा कि शब्द ब्रह्मात्मक ब्रह्मा को अनन्त शय्यास्तीर्ण विष्णु के नाभिकमल पर क्यों आसीन किया गया है? सुनने में यह कथानक अद्भुद् है, तथापि सृष्टि अथवा अभिव्यक्ति प्रवाह के मूल का दिव्य प्रतीक है। नाभिविवर से पद्ममृणाल उद्गत् होकर यह संकेत देता है कि ब्रह्मा शब्द ब्रह्म है। समस्त शब्दाभिव्यक्ति के मूल में जिस नाद अथवा प्राणोच्चार की स्थिति है, वह नाभिस्थान का आश्रय लेकर ही होता है। नादध्वनि समस्त ध्वनि वैचित्र्य का मूल है। हम प्रणव की आलोचना के समय इस तत्व की विशेषतया पर्यालोचना करेंगे।

हमने यह ज्ञात कर लिया कि नाभि के कमल में ब्रह्मा का निवास निखिल शक्ति व्यूहात्मक आधार अथवा आश्रय बन जाता है। द्वितीय भाग द्वारा वह निखिल वेदशब्दात्मक कलेवर धारण करते हुये आधेय अथवा आश्रित बन जाता है। हम शब्द के सृष्टि सामर्थ्य को समझने का प्रयत्न कर चुके हैं। यदि हम शब्द के सृष्टि सामर्थ्य पर विश्वास रखते हैं, तब यह सहज बोधगम्य है कि किस कारण से विष्णु नाभि के उर्ध्व में स्थित शब्द ब्रह्म को सृष्टि का स्वामी पद दिया गया है। तभी ब्रह्मा हैं सृष्टिकर्त्ता! उनके प्रगाढ़ ध्यान में निखिल वेद शब्द आविर्भूत होता है। उसी वेदशब्द से सृष्टि होती है। जगत् भी उसी शब्द से उद्गत् है। वेदशब्द— स्वाभाविक शब्द! जब किसी पदार्थ का मूलीभूत चान्चल्य पारमार्थिक कर्ण में श्रुतिगोचर होता है, तब उस विशुद्ध निरतिशय शब्द को वेद कहते हैं। हम सामान्यतः जिसे वेद शब्द कहते हैं अथवा विद्वानों से वेदशब्द को सुनते हैं, वह यथार्थ वेदशब्द नहीं है। इस भूमि पर आते-आते आप्त (Inspired Revealed) शब्दों में किंचित् विकृति तथा सांङ्कर्य हो जाता है।

ब्रह्मा मात्र आधार कमल पर ही आसीन नहीं हैं। उनके एक वाहन का भी प्रबन्ध कर दिया गया है, वह है हंस! हंस क्या है? किसी भी प्रकार के शब्द का उच्चारण अथवा श्रवण करने की "आदि स्थिति में" प्राणशक्ति का परिस्पन्द (Vital Functioning) होने लगता है। यह भी विज्ञानानुमोदित है। इस प्राणन् व्यापार का स्वाभाविक शब्द अथवा बीजमंत्र है हंस। यह स्थिति समस्त प्राणियों में रहती

है। गंभीर रात्रि में जागकर श्वास-प्रश्वास का शब्द सुनने की चेष्टा करने पर वह सामान्यतः (Roughly) हंस ऐसा ही प्रतीत होता है। साधक के दिव्यकर्ण में प्राणन् क्रिया की जो विशुद्ध ध्वनि (Approximate Acoustic equivalent) ग्राह्य होती है, वह वास्तव में हंस ही है। इस सम्बन्ध में शास्त्र, गुरु तथा महाजनगण अपना साक्ष्य प्रस्तुत कर गये हैं। यह सब परीक्षण की बाते हैं। केवल सुनने मात्र से सिर हिलाकर विश्वास-अविश्वास प्रकट करने से कुछ नहीं होगा।

हम वाहन का परिचय प्राप्त कर चुके। यह स्मरणीय है कि वागदेवी सरस्वती का भी वाहन हंस है। ब्रह्मा के हाथों में अक्षसूत्र है जो शब्द समूह का मौलिक अंश (units or elements of Sounds) है। यही वर्णमाला है। वर्णमाला महामेघप्रभा, घोरा, मुक्तकेशी और चतुर्भुजा है। यह देवता के गले में मुण्डमाला जैसी प्रतीता होने पर भी मातृका वर्णमयी है। यदि कमण्डलु, चतुरानन आदि का रहस्यभेदन करने लगें, तब यह पुस्तक कभी पूरी ही नहीं होगी! नादध्वनि प्रधानतः नाभि में उत्तेजना विशेष का उदय कराती है। वाहन रूपी हंस प्राणन् क्रिया की शाब्दिक प्रतिभा है। इन तथ्यों को स्मरण रखने पर यह तथ्य स्पष्ट हो सकेगा कि शब्द ब्रह्म (ब्रह्मा) शब्दतन्मात्र वपु हैं। निरतिशय विशुद्ध शब्दसमष्टि ही ब्रह्मा का कलेवर, शरीर है। वे जिस नाभिकमल तथा हंस पर आरूढ़ रहते हैं, वह दोनों स्पन्दात्मक परशब्द की प्रतिमूर्ति है।

इस प्रकार से ब्रह्मा वाली उदाहरणात्मिका गल्प में हम शब्दतन्मात्र, सूक्ष्मशब्द तथा स्थूल शब्द रूपी व्याख्या का एक सांकेतिक विवरण (Symbolic Representation) उपलब्ध करते हैं। यद्यपि इसे गल्प कहा गया, परन्तु यह वास्तव में गल्प नहीं है। विष्णु हैं सर्वव्यापी तथा सर्वाधार आत्मा! ब्रह्माण्ड की समस्त अभिव्यक्तियों का मूल विष्णु में है। सर्वत्र विष्णु की ही अभिव्यक्ति है। जिन्हें विष्णु की संज्ञा प्रदान की जा रही है, उन्हें हर्बर्ट स्पेन्सर शायद-अज्ञेय शक्ति (Inscrutable-Power) कहकर कर्त्तव्य की इतिश्री करेंगे! हम उन्हें विष्णु किंवा आदिशक्ति प्रभृति कुछ भी क्यों न कहें, इस विश्वाभिव्यक्ति के मूल तथा अन्तराल में जो कुछ रहता है, समस्त शक्ति की सम्भावना-सूचना तथा प्रेरणा उसी में है। वही वस्तु शब्द तन्मात्र अथवा शब्द पराकाष्ठा के रूप में अभिव्यक्त होती है। उसी मूलवस्तु से प्रजापति ब्रह्मा का आविर्भाव होता है। यह पूर्वकथित है कि ऐसे आविर्भाव के लिये परशब्द प्रयोजनीय है, तथापि परशब्द से ही कार्य सम्पन्न नहीं होता। कतिपय बाधा तथा अन्तराय का अतिक्रमण कर लेने पर ही ऐसी अभिव्यक्ति होती है।

मैं शब्द श्रवण करता हूं। मेरे द्वारा श्रुतशब्द कभी भी निरतिशय शब्द अथवा शब्द पराकाष्ठा नहीं है। क्यों नहीं है? प्रथमांश में हमने शब्द श्रवण के निमित्त

तथा उपादान की विवेचना किया है। उससे यह सिद्ध हो जाता है कि मेरे द्वारा सुने शब्दों में विकार (Deformation) तथा संकर (Confusion) की कियदंश में स्थिति रहती ही है। हमारा स्थूल भौतिक कर्ण अविकृत तथा असंकीर्ण (स्वाभाविक शब्द) शब्द को ग्रहण नहीं कर सकता। यही है अन्तःस्थ विष्णु का कर्ण मल। इसी कर्ण मल के कारण हमारे श्रवण सामर्थ्य में त्रुटि और दोष है। हम केवल स्थूल शब्द ही सुन पाते हैं। पारमार्थिक कर्ण के अभाव के कारण हमारा सामर्थ्य पराकाष्ठा तक उन्नीत नहीं है। इसका प्रमाण यह है कि हम कानों पर यन्त्र लगाकर अथवा ध्यानस्थ स्थिति में ही अतीन्द्रिय शब्द सुन सकने में समर्थ हो जाते हैं। अतः यह प्रतीत होता है कि अभिव्यक्ति की धारा मार्गावरोध हो जाने के कारण किसी एक विन्दु पर रुक सी गई है। अभिव्यक्ति का यह मार्गावरोध सर्वत्र ही परिलक्षित होता है। सम्पूर्णता अथवा पराकाष्ठा वाली अभिव्यक्ति का पता ही नहीं चलता। न जाने वह कौन सा प्रतिबन्धक है, जो सोलहो आना लिखने नहीं देता। क्या कानों के श्रवण सामर्थ्य के प्रतिबन्धक को कर्णमल कहना उचित नहीं है? विष्णु का तात्पर्य है सर्वव्यापी। अतः जहाँ कर्ण है अथवा श्रवण सामर्थ्य की व्यवस्था है, वहीं पर विष्णु का कर्णमल है।

यह एक जागतिक व्यवस्था है। हमें श्रवण सामर्थ्य की प्राप्ति के लिये कर्ण-मल का परिष्कार करना ही होगा। मलयुक्त कर्ण का श्रवण निरतिशय एवं विशुद्ध नहीं होता। यह दोष दो प्रकार से होता है, अथवा उनकी विवृत्ति प्रकारद्वय से ही हो सकती है। आवरण तमस् है, विक्षेप रजस् है। शब्द हो रहा है, परन्तु मैं नहीं सुनता हूँ। न जाने किसने शब्द को आवरित कर रखा है? यह आवरण ऐसा है जिसके कारण सूक्ष्मशब्द श्रुतिगोचर नहीं होता, अनेक विपुल शब्द भी सुनने से वंचित रह जाता हूँ! जब शब्द एक निश्चित सीमा रेखा में; एक घेरे में आता है, तभी उसे सुनता हूँ। इसकी संज्ञा है तामसिक कर्णमल। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि शब्द सुन लेने पर भी क्या उसे सम्यक् रूप से सुना? कभी-कभी एक ही साथ विविध वस्तुओं की उत्तेजना विविध शब्द उत्पन्न करती है। बाग में बैठा हूँ। वहाँ काक का स्वर, झींगुर का स्वर, चील का स्वर आदि अनेक स्वर एक साथ, मानों कन्धे से कन्धा मिलाकर श्रुतिगोचर हो रहे हैं, उनका हिसाब कौन देगा? स्थूलतः तो वे पृथक् शब्द हैं, परन्तु यह निःसंदिग्ध है कि वे घुलमिल कर, संकीर्णवत् आ रहे हैं। जल में ढेला फेंकने के कारण एक उत्तेजना का केन्द्र आवर्त्तरूप में बना। उसके चतुर्दिक तरंगें फैलती जा रही हैं। एक और उपलखण्ड फेंका। एक और उत्तेजना केन्द्र गठित हुआ। उसे घेरते हुए भी एक तरङ्ग पंक्ति बिखर गयी, तथापि तरंगे पूर्ववत् लीन नहीं हैं। नूतन तरङ्ग से पहले वाली तरङ्ग का संघर्ष हुआ। परिणामतः नूतन एवं

पुरातन अपनी निजस्व प्रकृति तथा शृंखला से विच्युत से हो गये। यह सब उनका सांकर्य (Interference of waves) है। समस्त श्रुत शब्दों का यही क्रम है।

किसी एक वस्तु की निजस्वप्रकृति का संन्धान हम क्यों नहीं पाते ? क्योंकि हम जिसे किसी वस्तु का शब्द कहते हैं, वह उसका निजस्व तथा स्वाभाविक शब्द नहीं है। इस विश्व के बाजार में सभी कोलाहल कर रहे हैं। इस चीख-पुकार के बीच भीड़ में खोये हुये मामा का कण्ठस्वर सुन सकना असंभव सा हो जाता है। हां यह अवश्य है कि 'अध्येतृ-वर्ग-मध्यस्थ-पुत्राध्ययन शब्दवत् " (अनेक पढ़ने वालों के बीच अध्ययनरत अपने पुत्र के शब्द के सामान) मामा की पुकार कुछ न कुछ तो सुन ही रहा हूँ। वह पुकार अन्य दस-पाँच पुकारों के साथ घुलमिल कर स्वयं को आवरित किये हुये है।

जगत् के निखिल सामग्री भरे जिस क्षेत्र में पृथक् रूप से 'हरि बोल' कहने की व्यवस्था हो, वहाँ तो मैं विकृत मिश्र शब्द सुनने के लिये बाध्य हूँ। मिलावटी को पकड़ कर संशोधन करने का सामर्थ्य मेरे कानों में नहीं है। यही भी एक कर्ण दोष है। इसे राजसिक कर्णमल कहते हैं। इस कर्णमल के कारण श्रुतशब्द भी चक्कर में पड़ जाते हैं, वे प्रकृति तथा स्वभाव से विक्षिप्त और विच्युत हो जाते है। पहला कर्णमल 'मधु' है तमस, दूसरा कर्णमल है कैटभ राजस। जब तक इस कर्णमल का शोधन नहीं हो जाता, तब तक हममें, तुममें और प्रजापति में भी पारमार्थिक कर्ण अथवा शब्दग्रहण शक्ति की पराकाष्ठा अभिव्यक्त नहीं हो सकती। अभिव्यक्ति धारा (Stream of Evolution) की पराकाष्ठा पर्यन्त पहुँचने के लिये समस्त अवरोधों और बन्धनों का अतिक्रमण करना ही होगा।

यह कोई नवीन बात नहीं है कि निर्मल बनने के लिये मल रहित होना होगा ! किसी शब्द को सुनने के लिये कानों से उँगली हटाना होगा। इसी प्रकार कारणसलिलस्थ चान्चल्य को निरतिशय रूप से श्रुतिगोचर करने के लिये श्रवण सामर्थ्य की कुण्ठा और कृपणता (कर्णमल) को दूर करो। तभी शास्त्र कहते हैं कि मधु–कैटभ का हनन आवश्यक है। दैत्यद्वय की सत्ता के रहते (कर्णमल रहते) ब्रह्मा का पद (निरतिशय श्रवण योग्यता) नहीं मिल सकता।

बीज में कुछ प्रसुप्त तथा प्रच्छन्न है, तभी उसका बीजत्व है, अन्यथा वह बीज न होकर वृक्ष जैसा ही रहता। बीज क्रमशः वृक्ष होता है। इस क्रमिक तथा धारावाहिक कार्य, का कोई अर्थ ही नहीं रहता, यदि बीज में प्रसुप्तता तथा प्रच्छन्नता नहीं होती ! तब तो अभ्युदय एवं क्रमविकास का प्रवाह ही निरर्थक हो जाता। बीज में जो विष्णु है, जो वैष्णवी शक्ति है, वह सुप्त है, तभी बीज का बीजत्व है। उसकी मूर्च्छितावस्था (potential condition) जिस क्रम से

जिस क्रम से अपगत (हटती) होती जाती है, उसी क्रम में बीज का विकास पौधे के रूप में होने लगता है। वस्तु की ह्रास वृद्धि का तात्पर्य है तदन्तस्थ शक्तिव्यूह की विभिन्न अवस्थायें। अतः सर्वभूतान्तरात्मा विष्णु का सोना–जागना ही वस्तु की ह्रास-वृद्धि तथा उदयास्त है। विश्व के उदयविलय को देखने से यह विदित होता है कि जो वस्तु विश्वबीज अथवा विश्वमूल है, उसका भी संकोच–विकास होता है। त्रिशक्ति (इच्छा-ज्ञान-क्रिया) के आश्रय जगन्निवास के अनन्त शक्तिव्यूह की सदा एक ही प्रकार की स्थिति रहने पर किसी भी प्रकार का संचलन, ह्रास-वृद्धि, उदयास्त सँभव ही नहीं है। ऐसी एकरस स्थिति में जगत् रूप स्थिति में तो सँभव ही नहीं रहती ! इसे विज्ञान का स्वीकृत तथा परीक्षित तथ्य कहा जाता है। यह दर्शनशास्त्र की उलझी पहेली न होकर स्पष्ट स्थिति है।

विज्ञानोक्त कार्यकरी शक्ति (Energy) की अवस्थाद्वय का परिचय मिलता है। प्रथम है प्रच्छन्नावस्था (Potential or static condition) द्वितीय है उदार अथवा व्यक्तावस्था (Kinetic condition)। जब जल कणिका नूतन रूप से विन्यस्त तथा सज्जित होती है, तभी बर्फ जमती है। इस अभिनव विन्यास के कारण (New configuration) बर्फ की उत्पत्ति में प्रचुर ताप की स्थिति प्रच्छन्न रूप से रहती है। पुनः जब बर्फ जल बनती है, तब वही प्रच्छन्न तापशक्ति ज्ञात हो जाती है। जल के वाष्पीभूत होने में भी यही स्थिति रहती है। यदि जल में जो विष्णु है, वह सदा एक समान एक रस ही रहता, तब जल का वाष्प अथवा बर्फ के रूप में परिवर्त्तन सँभव ही नहीं होता। अतः हम सब के भीतर विष्णु है। यदि वे मेरे भीतर सदा एक ही अवस्था में रहते, उस स्थिति में मैं भी समान ही अवस्था में रहता। कोई परिवर्तन सँभव नहीं हो सकता था। परन्तु ऐसा नहीं होता। अतएव मेरे मूल में एक परिवर्त्तन तथा क्रमिकता की आवश्यकता है।

मेरा ज्ञान और शक्ति अल्प तथा संकीर्ण है। अतः मुझमें विष्णु योगनिद्रा से आच्छन्न हैं। जो मेरी अभिभूतावस्था है, वही है विष्णु की योगनिद्रा। मेरा क्रमिक विकास और अभ्युदय ही विष्णु का जागरण है। निखिल ब्रह्माण्ड में यही व्यवस्था चलती रहती है। यह है, तभी-जगत्-जगत् है। उसके कारण ही सृष्टि है—विकास है। इस जागतिक रहस्य और सृष्टि मूल की अभिज्ञता हो जाने पर हम विष्णु की योगनिद्रा और प्रबोध की पौराणिक कथा का मखौल उड़ाने का साहस नहीं करेंगें ! कार्यकरी शक्ति की व्यक्त एवं अव्यक्त स्थिति का उल्लेख सुनकर वैज्ञानिक क्यों हँसते हैं ? सोये को ही जागना होता है ! जो पेड़ पर है, वही नीचे उतरता है ! विष्णु कारण सलिल में मग्न एवं निद्रित (Static Condition) हैं। यह विश्वशक्ति की मग्न तथा मूर्च्छना युक्त स्थिति है। जबतक यह भाव है, तबतक कोई भी परिवर्त्तन

संभव नहीं है। सृष्टि की धारा तो चल ही नहीं सकती। उस अवस्था में विष्णु भी ब्रह्मा (सृष्टिकर्त्ता) के रूप में रूपायित नहीं हो सकते थे। ब्रह्मा में शब्दग्रहण की पराकाष्ठा का, बीजमंत्र सुनने और उपदेश देने की शक्ति का चरमोत्कर्ष ही संभव नहीं हो सकता, यदि विष्णु योगनिद्रा से उत्थित न हों। बीजशक्ति की व्यक्तावस्था = अंकुरोद्गम। योगनिद्रा में ही कर्णमल संभव है। तभी मधुकैटभ का प्रादुर्भाव होता है। ब्रह्मा की स्तुति से योगनिद्रा भंग हुई। प्रच्छन्न (**Potential**) स्थिति उदार (**Kinetic**) बनी। योगनिद्रा भग्न होने पर कर्णमल (श्रवण की अल्पता तथा कृपणता) समाप्त हुआ। अर्थात् मधुकैटभ वध हुआ।

मधुकैटभ ही शब्द के विकार तथा संकर हैं। शब्द विकार और संकर नष्ट हो जाने पर ही शब्द की विशुद्धता और स्वाभाविकता सुसिद्ध होती है। तब बीज-मंत्रों का उद्धार तथा चैतन्य संचार होता है। बीजमत्रों की इस सामर्थ्य विहीन (**dynamic** और **Creative** शक्तिविहीन) स्थिति में सृष्टि नहीं हो सकती। ब्रह्मा की अधिकार सम्पदा सुदृढ़ नहीं हो सकती। कर्णमल (मधुकैटभ) विनाश के अनन्तर ही ब्रह्मा निरुद्वेग तथा चरितार्थ होते हैं।

मधु-कैटभ की आख्यायिका में पूर्वालोचित समस्त प्रसंग प्राप्त हो जाते हे। किसी आख्यायिका का रहस्योद्घाटन करने में प्रवृत्त होने से पूर्व यह परीक्षण आवश्यक है कि क्या उसमें कोई निर्देशसूत्र, स्पष्ट संकेत अथवा दिग्दर्शन प्रच्छन्न-रूपेण अंकित है अथवा नहीं! वर्त्तमान आख्यायिका में ऐसे संकेतत्रय का दिग्दर्शन मिलता है। प्रथम के अनुसार ब्रह्मा की ध्यानभूमि पर समस्त वेदशब्दों का उदय हो रहा है। यह ब्रह्मा की शब्द सम्पर्क शक्ति की पराकाष्ठा है। इस प्रकार से शब्द (बीजमंत्र) को पुरोहित बनाकर (आगे करके) सृष्टियज्ञ प्रारम्भ हुआ है। मधु-कैटभ कौन हैं? "विष्णुकर्णमलोद्भूतौ"। कर्णमल ही इस रहस्य खजाने की कुंजी है। तदनन्तर ब्रह्मा ने योगनिद्रा प्रबोधन के लिये मुख्यतः वाग्देवता (शब्दब्रह्म) का स्तवन किया। ब्रह्मा शब्दब्रह्मता प्राप्त करने के लिये परमावाक् का स्तवन करते हैं :—

"त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारस्वरात्मिका,
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता'
अर्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः।"

इसे सुनकर भी क्या यह संशय रह सकेगा कि यह किसका स्तवन है? इस स्तवन का प्रयोजन क्या है? यह संशय इसे सुनकर समाधित हो जाता है!

हमने प्रथमांश में गंगा की उत्पत्ति, गोलोक से ब्रह्मा के कमण्डलु में स्थिति, हर जटाजाल में अवगुण्ठन और सर्वान्त में गोमुख द्वार से भूतल पर अवतरण की व्याख्या किया था। तब 'गो' शब्द (गोमुख तथा गोलोक में प्रयुक्त) हमारा निर्देश-

सूत्र (guiding clue) था। भगीरथ ने मंख बजाकर इस महारहस्य को घोषित किया था कि गंगा वेदशब्दमयी हैं। भगीरथ की शंखध्वनि संकेतरूप से गंगा महात्म्य की मर्मकथा हमें सुनाती जा रही है। वेदशब्दधारा और बीजमंत्रसमष्टि भी गुरु-परम्परा क्रम से हमारे कानों में पहुँचती जा रही है। यद्यपि कर्णमल के कारण उसमें कुछ विकृति तथा संकर अवश्य है, तथापि सम्प्रदाय (परम्पराक्रम) रहने के कारण बीजशब्दों की उतनी अधिक विकृति नहीं हो सकी है। प्रचलित शब्द नाना विधि से विकृत और संकीर्ण हो जाते हैं। कर्णमल तथा रसनामल के कारण हमारे द्वारा श्रुत तथा उच्चारित शब्द क्रमशः मिश्रित (मिलावटी) और अस्वाभाविक होते जाते हैं।

शब्द अपनी अस्वाभाविकता के कारण अशक्त तथा असमर्थ होता जाता है। शब्दोच्चार होगा तथापि उसके अर्थ एवं विषय का कोई ठिकाना ही नहीं रहेगा। बक-बक करके मर जाऊँगा, किन्तु उसका अर्थ भाग्य में नहीं जुटेगा। इस प्रकार के असमर्थ शब्द को लेकर तो जीवन पर्यन्त झक ही मारना है। साधन-सिद्धि की बात ही व्यर्थ है। भगवान के श्रीमुख का यह वचन है कि धर्म की ग्लानि तथा अधर्म का अभ्युत्थान होने पर वे स्वयं युग-युग में धराधाम पर अवतीर्ण होते हैं। वे हमारे इस कर्मक्षेत्र में धर्म तथा सदाचार का आदर्श स्थापित करने के लिये पदार्पण करते हैं। विष्णु आवें परन्तु उनके चरण से निकली गंगा न आयें, ऐसा सम्भव ही नहीं है। धर्म की ग्लानि को समाप्त करके आदर्श प्रतिष्ठापनार्थ विष्णु का आगमन हुआ। शब्द विभ्राट को दूर करते हुये स्वाभाविक तथा समर्थ शब्द समष्टि की धारा बहा कर जीव को सुखद मोक्षस्थिति प्रदान कराने आई (शब्द) गंगा। स्वाभाविक शब्द और बीजमंत्रों कोखोकर यह जीव अपनी अन्तरात्मा में इष्टदेवता के लिये मणि-मण्डप, रत्नसिंहासन कैसे बना सकेगा ?

आदिविद्वान महर्षि कपिल ने श्रुति कहा है। उनके द्वारा गुरु शिष्य परम्परा में स्वाभाविक शब्दराशि तथा वेद का प्रवाह हो रहा है। उस धारा को अक्षुण्ण रखने में ही कल्याण है। उन आदि विद्वान की मदमत्त सगरपुत्रों ने अवमानना किया; मनुष्य ने उन आदि विद्वान की गुरुपरम्परागत धारा की उपेक्षा किया। अतः भ्रष्ट हो गया ! वह कहता है हम श्रुति आदि को क्यों मानें ? इसका क्या प्रमाण कि वेदोक्त शब्द ही स्वाभाविक शब्द हैं, प्रचलित शब्दों में क्या दोष ? हम इनका ही व्यवहार करेंगें"। इस अविचार जनित तथा अपरीक्षाजनित विद्रोह के कारण शब्द संकर तथा शब्दविभ्राट चरमसीमा को छू रहा है। सम्प्रदायों (परम्पराओं) में (Traditions में) भी शब्दसंकर था। सम्प्रदाय की अवमानना करने से यह और बढ़ता जा रहा है। इसका परिणाम है निष्फलता, वैय्यर्थता। यही है सगर पुत्रों का भस्म हो जाना। यह साधारण जीवों का पातित्य भी है। उसी बीजमंत्रयुता शब्द-

मयी वेदवाणी को भगीरथ मंगल-भैरव-शंखनाद के माध्यम से इस पथभ्रान्त मानव समाज में लाये थे। मार्ग में जन्हुमुनि ने उस पुण्यतोया को पीकर पुनः फिर से प्रकट किया। पद्मासुर तो पथभ्रान्त होकर अन्य पथ पर जाने लगा। स्वाभाविक शब्द-राशि को मर्त्य में स्थिर रखकर चतुर्वर्ग साधनमार्ग में दो प्रधान विघ्न हैं, यथा विस्मृति तथा विकृति। विस्मरण से भी साधन नहीं चलता और उसे विकृत कर देने पर तो कुछ हो ही नहीं सकता। जन्हुमुनि संकेत देते हैं। विस्मृति का पद्मासुर संकेत है विकृति का।

जन्हु असाधारण व्यक्ति हैं। उनकी विस्मृति = योग विस्मृति। तुरीय अथवा निर्बीज की विस्मृति से वे आक्रान्त हैं। यह अशब्दावस्था है। क्या इस स्थिति में स्वाभाविक शब्द का स्मरण रहता है ? यह है अन्तिम स्तर की अनुभूति। यदि जन्हु मुनि वेद शब्दराशि को स्वयं प्राप्त करके (गंगा को पीकर) पुनः उसे शिष्य प्रशिष्य क्रम में नहीं चलाते (पुनः गंगा को प्रकट करना) तव तो वह धारा वहीं रुक जाती। हमारे जैसे भस्मत्वप्राप्त सगर पुत्रों का उद्धार करने का कोई उपाय ही नहीं रह जाता। अतः जन्हु मुनि ने जंघा को चीर कर गंगा को बाहर निकाला। जंघा का तात्पर्य है अधम अंग। गंगा को मुख (उत्तमाँग) से पीकर, उच्चस्तर से ग्रहण करते हुये शिष्य कल्याणार्थ निम्नस्तर में उतर आना इस कथा का तात्पर्यार्थ है। हमें पद्मासुर का अनुसरण करने हुये पथभ्रष्ट नहीं होना है। हमारे लोक में साधक सम्प्रदाय प्रवाह को अविच्छिन्न रखने के लिये, वेदशब्द की ग्लानि का निवारण करने के लिये, शब्द संकर की वृद्धि को नियंत्रित करने के लिये, भगीरथ की तपस्या को उपलक्ष्य बनाते हुये सनातन शब्दमाला का जो अवतरण इस धरातल पर होता है, वही गंगावतरण उपाख्यान का संदेश है। क्या यह तथ्य इस उपाख्यान से स्पष्ट नहीं हो रहा है ?

हमारे लोक (Plane) में स्तरानुक्रम से शब्द का अवरोह होता है, जैसे परशब्द, शब्दतन्मात्र, सूक्ष्मशब्द, स्थूलशब्द। इस आख्यायिका के द्वारा यह तथ्य पूर्णतः ज्ञात हो जाता है। नास्तिक महाशय को 'सनातन शब्दमाला' सुनकर चौंकना नहीं चाहिये।। यह तो उसी प्रकार की एक संज्ञा है जैसी संज्ञायें गणित शास्त्र में होती हैं। किसी भी द्रव्य के मूल में एक शक्तिव्यूह (System of Constituting Forces) की स्थिति रहती है। यदि शक्तिव्यूह जनित यह चंचलता किसी पारमार्थिक कर्ण को श्रुतिगोचर हो जाती है, उस स्थिति में वही शब्द उस द्रव्य का स्वाभाविक शब्द, बीज अथवा वैदिक शब्द है। इस तथ्य को स्वीकार करने पर यह भी मानना पड़ेगा कि इस प्रकार के शब्द के साथ उसके अर्थ (विषय) का सम्बन्ध नित्य तथा सनातन है। किसी द्रव्य के तीन विन्दु को संयुक्त कर देने पर एक सरल रेखा की उपलब्धि होती हैं। यदि अब उस द्रव्य की स्थिर अथवा

अस्थिर अवस्था में, (उसके उक्त विन्दुत्रय) एक सरल रेखा में ही स्थित रहते हैं, तव उस द्रव्य की गणितीय परिभाषा है कठिन द्रव्य (Rigid Body ; वस्तुतः वैसा कोई जड़द्रव्य है भी अथवा नहीं, इसका कोई मनगढ़न्त (a Periori) उत्तर नहीं दिया जा सकता। परीक्षण करना होगा। इस बात का भी कोई मनगढ़न्त उत्तर नहीं दिया जा सकता कि अपने अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध के बन्धन में आबद्ध किसी स्वाभाविक शब्दमाला का अस्तित्व है अथवा नहीं है ? यह भी परीक्षा सापेक्ष है। इतने पर भी हम लक्षण तथा परिभाषा तो कर ही सकते है !

इस प्रकार की परीक्षा के प्रयोजन को कियदंश में प्रथमांश में व्यक्त किया गया है। हम अब फिलहाल नास्तिक महाशय के साथ वार्त्ता नहीं करेंगे। मधु-कैटभ और गंगावतरण के वृत्तान्तों के द्वारा हमने शब्दतत्व के अनेक मार्मिक रहस्यों को व्यक्त किया है। उपाख्यान के जिस-जिस प्रच्छन्न अंशों में शास्त्रकारों ने रहस्य का ताला बंद कर रखा है, उस अंश को टटोलने में और उसकी कुंजी प्राप्त कर सकने में हम पूर्णतः विफल नहीं रहे हैं। यदि प्रथम उपाख्यान में 'कर्णमल' और द्वितीय में 'गोमुखी' शब्द नहीं होते, तब हम तथ्यान्वेषण में उतने सफल मनोरथ नहीं हो सकते थे। "गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि" गंगा सलिल में अवगाहन करके इस मंत्र का स्मरण करना चाहिये। इससे गंगा की मंत्रात्मिका मूर्त्ति उज्वल रूप से हृदय में प्रकाशित होने लगती है। विशुद्ध रूप से उच्चारित मंत्र द्वारा ही अर्थ की सफलता मिल सकेगी। इसके लिये मंत्रशुद्धि और तंत्रशुद्धि प्रयोज्य है।

अब यह भी आशंका होती है कि जिस मात्रा में कलि के प्रभाव के कारण शब्द संकर, शब्द विकार और शब्द संकोच वढ़ते जा रहे हैं, उसके कारण गुरु परम्परागत स्वाभाविक शब्दमाला (गंगारूप में) इस मेदिनी मण्डल का कलुष क्षालन करने के लिये, साधक के योगक्षेम के लिये, इस धरती पर नहीं रह सकेगी। जो वेद समुद्धार पुनः पुनः भगवान् के मीनकलेवर तथा वराहमूर्त्ति द्वारा हुआ है, और प्रलय पयोधि जल में शयान अवस्था में उन्होंने वेदों का अनुरक्षण जिस प्रकार से किया है, इन सबकी गंभीरता में जाने पर हम शब्द तत्व के ही पास जा पहुँचते है। हां, अभी इस आलोचना का अवसर नहीं है। सामान्य रूप से इन उपाख्यानों की जो आलोचना प्रस्तुत की गयी है, उससे नास्तिक महाशय को अब यह सोचने में कुछ न कुछ द्विधा-द्वंद्व अवश्य होगा कि हमारे वेद पुराण अफीमचियों के अड्डे पर रचे गये हैं !

यह शब्द विवरण शास्त्रसिद्धान्त से कितना निकट अथवा दूर है, यह तथ्य अभिज्ञजन विवेचना द्वारा उद्घाटित कर सकते हैं। शायद एक-दो परिभाषायें

पण्डितों की परिभाषा के समान न भी लगें ! 'परशब्द' संज्ञा की भित्ति क्या है ? हमने शब्द तन्मात्र का जिस अभिप्राय से प्रयोग किया है, क्या वही अभिप्राय पूर्वाचार्यों का है ? इन प्रश्नों के उत्तर के लिये यह चिन्ता हो सकती है कि क्या उत्तर होगा ? यहाँ यह स्पष्ट करना है कि विज्ञान की ओर अग्रसर होकर वेदशब्द और मंत्र का जो तात्पर्य ज्ञात हो सका, उससे यह विदित हुआ कि उस तात्पर्य ने शास्त्र की दिशा में तनिक भी पदार्पण नहीं किया है, तथापि यह कहना अनाड़ीपन भी होगा। दर्शनशास्त्र के सम्बन्ध में चाहे जो हो, उपनिषत् और अध्यात्मशास्त्र नैयायिक महाशय की फर्माइश के अनुसार नहीं चलता। शिशु ने पूछा "पृथ्वी सूर्य के चारो ओर किस पथ से चक्कर काटती है ?" मैंने उत्तर दिया "वृत्त की तरह गोलाकृति से"। लेकिन यह पथ बिल्कुल वृत्त की तरह ही नहीं है ! शिशु बड़ा हुआ। उसकी बुद्धि परिपक्व हुई। उस समय मैंने भूल का संशोधन किया कि वह पथ वृत्त न होकर वृत्ताभास (Ellipse) है। विशेषज्ञ जानते हैं कि यहां भी अव्याहति नहीं है, प्रयोजनानुरूप और भी संशोधन कर लेना चाहिये।

अध्यात्म में भी ऐसा ही है। शिष्य को ब्रह्म जिज्ञासा होती है। गुरु कहते हैं "तुम जो अन्न खाते हो, वही ब्रह्म है"। समयान्तर में इसे संशोधन करते हैं "प्राण ब्रह्म है"। अतः शिष्य की अध्यात्म दृष्टि के विकास तारतम्य के अनुसार गुरु नूतन मूर्त्ति का प्रदर्शन करने लगते हैं। ब्रह्म शब्द तो जैसे का तैसा है, उसके लक्षण क्रमशः बदलते जाते हैं। अन्ततः शिष्य स्वयं उपलब्धि करता है कि ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। यदि एक ही शब्द के इन पाँचों लक्षणों को साथ-साथ रख दिया जाये, उस स्थिति में नैयायिक महाशय को तो गुरुतर शिरःपीड़ा का अवसर प्राप्त हो सकता है ! एतद्विपरीत इसे साधक की बुद्धि के समक्ष क्रमशः रखने का प्रयोजन है। उसकी बुद्धि क्रमिक रूप से विकसित होते-होते एक के पश्चात् एक व्यापक लक्षण का आविष्कार करती जाती है। अतः इस प्रक्रिया में लाभ ही लाभ है।

ब्रह्म क्या है, आत्मा क्या है, मैं यही जानना चाहता हूँ। मेरा जानना क्रमिक रूप से गंभीरतर होता जाता है, परन्तु अनुसन्धान अन्वेषण का केन्द्र तो एक ही है। अतएव इस क्षेत्र में अन्वेषण की सामग्री का नाम बदलना उचित नहीं है। चाहे इसे अन्न कहूँ, प्राण कहूँ, या मन कहूँ, खोज रहा हूँ आत्मा को, ब्रह्म को। जिस स्तर तक जैसा समझता हूँ, उसे वैसी ही संज्ञा (लक्षण) प्रदान कर देता हूँ। अध्यात्मशास्त्र में यह 'अरुन्धती दर्शन, न्यायानुसार चलता है। पहले नववधु को पातिव्रत्य के लक्षण रूप में अरुन्धती नक्षत्र दिखलाया जाता था। अरुन्धती छोटा सा तारा है। सामान्य रूप से जल्दी परिलक्षित नहीं होता। अतः उसके पास के किसी दीप्त तारे की ओर इंगित करते हुये पति ने पत्नी से कहा "देखो ! यह अरुन्धती है।" जब वधु की दृष्टि उधर उठी, तब पति कहता है "नहीं, वह नहीं

है। उस दीप्त तारे के बगल का छोटा वाला तारा अरुन्धती है।" इसी प्रकार से अध्यात्म विज्ञान ने हमारे आत्मसाक्षात्कार का पथ प्रदर्शित किया है।

शब्द एक है। उसकी परिभाषा पंचधा है। जिन्होंने सम्यक् विधि से उपनिषद् का आलोड़न करके देखा है, उन्हें यह ज्ञात है कि पूर्वोक्त अरुन्धती दर्शन न्यायानुरूप ही आकाश, प्राण, वायु प्रभृति शब्दों की परिभाषा की गयी है। अन्ततः ब्रह्मवस्तु ही लक्ष्य है। वह सूक्ष्मादपि-सूक्ष्म है। अतएव इन शब्दों के स्थूल लक्षण इस प्रकार से दिये गये हैं। अतः चैतन्य की सस्पन्द चंचलावस्था को परशब्द कहना अपराध कैसे है? विशेष रूप से श्रुति ने जगत् प्रवाह के मूल में शब्दरूप से स्पन्द अथवा चान्चल्य को ही मान्यता प्रदान किया है। साम्यावस्था (Cosmic Equilibrium) के अवसान के समय जिस वैषम्य का प्रथमोन्मेष (Initial Cosmic disequiibrium) होता है, वह चान्चल्य नहीं तो और क्या हो सकता है?

सांख्यकार ने प्रकृति तथा शब्दतन्मात्र के बीच महत्त्व और अहंकार को स्वीकार किया है। इन दिनों को मिलाकर ही परशब्द कहा जाता है। वे दोनों तत्व वैषम्यात्मक और विक्षोभात्मक हैं। हमारी परिभाषा के अनुसार विक्षोभ और चान्चल्य ही परशब्द है। श्रुति ने ईक्षण के द्वारा शब्दतन्मात्र और आकाश की सृष्टि को माना है। क्या हम इसी ईक्षण को परशब्द अथवा पश्यन्ति वाक् के नाम से ग्रहण नहीं करते? यह सृष्टि के प्रारंभ की कथा है और हम शब्द के दृष्टिकोण से ही यह कह रहे हैं। यद्यपि हमने परशब्द कह कर नैयायिकों के दृष्टिकोण से अपराध किया है, तथापि क्या हमने श्रुति की परम्परा का उल्लंघन किया है? अब शब्द तन्मात्र के सम्बन्ध में सफाई देने की चेष्टा नहीं करूंगा। हमारे लक्षणों के अनुसार यह विशुद्ध स्वाभाविक शब्द तो निरतिशय शब्द सामर्थ्य के द्वारा गृहीत है।

हमने पूर्व सम्बन्ध में स्पष्टतः कहा है कि स्वाभाविक शब्द की परीक्षा कैसे होती है? द्रव्य और अर्थ रहने पर ही जिस शब्द का अस्तित्व रहता है (पारमार्थिक कर्ण में श्रुत शब्द), और जिस शब्द के अस्तित्व मात्र से उसका अर्थ निर्मित हो जाता है (विशुद्ध रूप से उच्चरित होने पर ही ऐसा होता है), वह स्वाभाविक शब्द है। यही है स्वाभाविक शब्द की परीक्षा (Test)। अब हम स्वाभाविक शब्द के सम्बन्ध में कुछ कहकर विदा लेना चाहते हैं। प्रथमतः लट्टू घूम रहा है। उसका घूमना होता है एक निश्चित अक्ष, धुरी (Axis of Rotation) पर। हमारी पृथ्वी भी एक अक्ष का अवलम्बन लेकर चक्कर काट रही है। चुरुट का धूँआ चक्कर काटते हुए उर्ध्वगामी होता है। यह भी एक अक्ष का आश्रय लेकर होता है। हेल्महाल्टस् और और लार्ड केल्विन की यह धारणा थी कि अणु और ईथर सागर में ऐसे ही आवर्त्त

हैं। यदि ऐसा होता है तब उनका आवर्त्तन भी एक न एक अक्ष का आश्रय लेकर ही होता होगा। इलेक्ट्रान अणु के भीतर चक्कर काटते हैं। यहाँ भी अक्ष को मानना होगा। जहां गति एक ओर ही सीधी सी जाती है, वहां उस गति की रेखा ही अक्ष रूपा है। जहां आवर्त्तन होता है, वहां वह रेखा जिसके चतुर्दिक तथा जिसका आश्रय लेकर आवर्त्तन हो रहा है, वही अक्ष है। गाड़ी के चक्के अक्ष हैं।

जिन गतिद्वय का उल्लेख किया गया है, उन्हीं दोनों के विविध सम्मिश्रण के कारण समस्त गतियां हो रहीं हैं। इसी कारण अक्ष की सहायता से ही गति का निर्धारण होता है। गणित शास्त्र ने अक्ष की सहायता (Co-ordinate axis की सहायता से) गति (Curve of Motion) का विश्लेषण और विवरण प्रस्तुत करते हुए कोई अप्रत्याशित अद्‌भुत कार्य कदापि नहीं किया है। इसलिये हम बलपूर्वक कहते हैं कि अक्ष ही गत्यात्मक जगत् का मूल है। गति के परीक्षण से यही ज्ञात होता है। सजीव पदार्थ एवं समस्त पदार्थ समूह की उत्पत्ति का परीक्षण करने पर हम अक्ष (Axis of Generation) की स्पष्ट उपलब्धि करते हैं। वृक्ष क्या है? एक मूलकाण्ड के अवलम्बन से शाखा-प्रशाखा चतुर्दिक प्रसारित हो रही है। एक पत्ते की परीक्षा करो। एक मुख्य शिरा का अवलम्बन लेकर सैकड़ों शाखा-प्रशाखाओं का फैलाव दिखलाई पड़ता है। एक ही मूल अक्ष है। उसी से अनेक गौण अक्ष निकले हुये हैं। (गौण = Secondary)। उच्च श्रेणी के जीव का परीक्षण करो। मेरुदण्ड का आश्रय लेकर स्नायुजाल सर्वांग में फैलता हुआ प्राणन् क्रिया का निर्वाह कराता है।

विद्वान वाईसमैन जैसे जीव विज्ञानी ने कहा था कि वंश परम्परा में एक ही बीज पदार्थ (germplasm) बराबर चलता रहता है। यद्यपि हम सब में उसकी अल्पविस्तर विभिन्न मूर्त्तियां प्रकाशित होती हैं, तथापि हमारे वंशगत् बीज अपनी स्वप्रकृति को प्रायः अविकृत और अविच्छिन्न रखते हैं। एक ही अक्ष का आश्रय लेकर मेरे पिता, पितामह और मैं, एक लता की प्रशाखाओं के समान फैले हुये हैं। लता के मुख्य अक्षदण्ड की तरह हमारी वंशधारा हम सबको एक सूत्र में सम्बद्ध करके रखती है। इसी अक्ष का आश्रय लेकर मेरी तथा मेरे पिता-पितामह की उत्पत्ति हुई है। **Mendelism, Emergent Evolution** प्रभृति ने इसी तत्व का विभिन्न रूप से विस्तार किया है।

अधिक दृष्टान्तों की क्या आवश्यकता? अक्ष नामक वस्तु ही सृष्टि और उसकी अभिव्यक्ति का मूल है। अक्ष मुख्य भी होता है और गौण भी होता है। लता में मुख्य अक्ष के साथ-साथ प्रशाखाओं के छोटे-छोटे अक्ष होते हैं। मुख्य समस्या क्या है? जगत् में विचित्र शब्द हैं, विभिन्न जीव समूह के भिन्न-भिन्न शब्द हैं,

भिन्न-भिन्न जातियों की विभिन्न भाषाये हैं, हमारे तुम्हारे शब्द भी एक जैसे नहीं हैं। क्या विश्व के इस विश्व वैचित्र्य की (शब्द वैचित्र्य-भाषागत वैचित्र्य की उत्पत्ति किसीं अक्ष का आश्रय लेकर होती है, क्या हम ध्वनिवैचित्र्य की खोजबीन करके उनमे से मूल शब्दों का आविष्कार नहीं कर सकते ? यहां यह नहीं भूलना चाहिये कि फूरियार की रीति से गणितविद् किसी भी जटिल छन्दोबद्ध (Complex Harmonic Motion) को सरल छन्दोबद्ध गति (Simple Harmonic Motion) में पृथकतः प्रदर्शित कर सकते हैं। क्या इस विराट शब्द वैचित्र्य में एक अविच्छिन्न मौलिक शब्दधारा का आविष्कार किया जा सकता है ? जैसे हम लता को जोरों से खींचते हुये उसके मुख्य मेरुदण्ड का संधान प्राप्त करते हैं, वैसे ही मौलिक शब्दधारा आविष्कृत हो सकती है।

यहां हमें यह स्मरण रखना होगा कि शब्द की इस विराट विश्व रूप मूर्त्ति का मेरुदण्ड है—निखिल शब्द राशि की मूल प्रकृति रूप स्वाभाविक शब्द प्रवाह; वेदशब्द धारा। अब तक क्या हम "उर्ध्वमूलमधः शाख मश्वत्थं प्राहुरव्ययम्" इस अश्वत्थवृक्ष को समझ सके हैं ? जो शब्द प्रवाह प्राजापत्य भूमि से हमारी ओर उतरा चला आ रहा है, वही यह अश्वत्थ वृक्ष है। वृक्ष के एक मूल काण्ड (तना) का आश्रय लेकर चतुर्दिक नाना शाखा-प्रशाखा निकल पड़ती है, जिससे पत्र-पुष्प उद्गत होने लगते हैं। इसी प्रकार प्रजापति से स्वाभाविक शब्दधारा गुरुपरम्परा का क्रमावलम्बन लेते हुये क्रियदंश में हमारे पास आई है। यही समस्त शब्दों की प्रकृति तथा आश्रय है। जिसने इस वृक्ष को जाना है, वही वेद को पहचान सकता है "यस्तं वेद स वेदवित्"। सभी शब्दों के साथ स्वाभाविक शब्द का यही सम्बन्ध है।

एक बात और। एक चुम्बक की परीक्षा करो। वह चुम्बक जिस शक्तिव्यूह (Field Lines of Force) की रचना करता है, हम परीक्षण के द्वारा उसकी एक प्रतिकृति अंकित कर सकते है। विज्ञानागार में प्रत्येक अध्येता को परीक्षण के द्वारा चुम्बक शक्ति तथा तड़ित् शक्ति का नक्शा आंकना पड़ता है। यह नक्शा उस शक्ति-व्यूह की चाक्षुषी प्रतिकृति (Visual Representation) है। रं, हं बीजमंत्र हैं। इन्हें एक-एक शक्तिव्यूह की शाब्दिक प्रतिकृति कहा जाता है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि इस स्थल पर उन-उन शक्तिव्यूहों की एक चाक्षुषी प्रतिकृति (Optic Equivalant) भी रहती है। हम उसका सन्धान प्राप्त करें अथवा न करें, वह तो रहेगी ही ! जैसा चुम्बक में है, वैसा ही यहाँ भी है। परीक्षा के द्वारा उसका सन्धान प्राप्त करना ही होगा। शब्द के दृष्टिकोण से देखने पर शक्तिव्यूह स्वाभाविक शब्द रूप में अभिव्यक्त होता है। रूप के दृष्टिकोण से देखने पर वह

उसी प्रकार स्वाभाविक रूप में व्यक्त हो जाता है। जैसे शब्द के क्षेत्र में पारमार्थिक कर्ण, दिव्य कर्ण तथा स्थूल कर्ण हैं, उसी प्रकार रूप के क्षेत्र में पारमार्थिक चक्षु, दिव्य चक्षु तथा स्थूल चक्षु की स्थिति है। स्वाभाविक शब्द मन्त्र है और स्वाभाविक रूप ही यंत्र है। जैसे श्री यंत्र। वैदिक यज्ञ तथा तांत्रिक हवन के अनुष्ठान में मंत्र प्रयोज्य है। उनमें इसी प्रकार यंत्र का भी प्रयोजन रहता है।

अब तक हमने शुद्ध स्वाभाविक शब्दों का वर्णन किया है। स्वाभाविक शब्दों को स्थितिस्थापक (elastic) मानकर उनका श्रेणी विभाग भी किया जा सकता है। उस श्रेणी विभाग का उदाहरण प्रस्तुत करना आवश्यक है। अपरशब्द को लेकर ही श्रेणी विभाग करता हूँ।

अपरशब्द दो प्रकार का कहा गया है जैसे स्वाभाविक और अस्वाभाविक (**Artificial**)। किसी पदार्थ को जानने के लिये हम यदृच्छा क्रम से (**Arbitrarily**) किसी वाचनिक संकेत (**Vocal sign**) का व्यवहार करते हैं। जिस संकेत का उपयोग करते हैं, उसके स्थान पर अन्य संकेत का व्यवहार करने पर भी कार्य चल सकता है। जिस नाम से किसी को बुला रहा हूँ, उसी नाम से उसे पुकारने का कोई हेतु नहीं है। यह नाम अस्वाभाविक, कृत्रिम तथा मनगढ़ंत नाम है। स्वाभाविक शब्द अथवा स्वाभाविक नाम का कोई लक्षण इनमें नहीं है। नाम को स्वाभाविक नाम में बदलने के लिये पदार्थ की सत्ता अथवा उसके स्वरूप के साथ एक सम्पर्क साधना होगा। जो नाम रक्खा जाये, उसके साथ उसका हेतु, कैफियत रहना चाहिये। ऐसा नाम मनमाने तौर पर नहीं रक्खा जा सकता।

स्वाभाविक नाम भी दो प्रकार का है—निरतिशय एवं सातिशय। अथवा प्रकृत एवं विकृत (**Pure and approximate**)। पारमार्थिक कर्ण द्वारा सुना गया शब्दतन्मात्र ही निरतिशय शब्द है। वही शब्द प्रकृति भी है। जो श्रवण सामर्थ्य की पराकाष्ठा नहीं है, वैसा शब्द जब कर्ण में श्रुतिगोचर होता है, तब वह सातिशय शब्द है। तनिक विकृति प्राप्त है। ऐसे शब्द को दिव्यकर्ण तथा लौकिक कर्ण सुन लेते हैं। अब सातिशय का श्रेणी विभाग करता हूँ। किसी पदार्थ का मूलीभूत शक्तिव्यूह समष्टि भाव से (**As a whole**) दिव्य कर्ण में जिस शब्द की उत्पत्ति करता है, वही उस पदार्थ की मुख्य संज्ञा है। मुख्य = **Primary**। यही है पदार्थ का बीजमंत्र। जैसे अग्नि का मुख्य नाम है रं। आकाश का हं। प्राणन् क्रिया का हँस। ये सभी मौलिक तथा यौगिक (**Simple, compound**) हो सकते हैं। 'रं' मौलिक है, ह्रीं, क्रीं यौगिक है। मौलिक बीजों के सम्मिलन से यौगिक बीज का गठन होता है। प्रकारान्तर से पदार्थों के शक्तिव्यूह व्यष्टिरूप (**Specifically**) से आंशिकभाव में क्रिया करते हुये जिस शब्दानुभूति का उदय

कराते हैं, वही उस पदार्थ का गौण (secondary) नाम है। यह बीजमंत्र नहीं होता।

जैसे काक की आवाज है। उसकी आवाज के आधार पर ही उसका नाम है काक। जिस शक्तिव्यूह के कारण काक में काकत्व है, उसी की आंशिक अभिव्यक्ति उसकी बोली में है। वह नाना प्रकार से शब्द करता है, उसमें चञ्चलशीलता, बुभुक्षा आदि अनेक वृत्तियों की अभिव्यक्ति होती है। अतः 'काक' उसका गौणस्वाभाविक नाम है। वह बिना किसी के बुलवाये बोलता है, अतः उसका शब्द स्वयंसम्भूत भी है। ढ़ोल पर लकड़ी मारने से उसका नाम है 'ढ़ोल'। यह भी गौणस्वाभाविक नाम है, तथापि यह काक के समान स्वयंसम्भूत शब्द नहीं है, यह परसम्भूत है। क्योंकि लकड़ी मारने से शब्द हुआ है। दोनों उदाहरणों में शक्तिव्यूह व्यष्टिरूप से अपने साक्षात् सम्बन्ध द्वारा श्रवणेन्द्रिय में उत्तेजना का संचार कर रहा है। काक अथवा ढ़ोल का शब्द सुनता हूँ, तब सुने गये शब्द के आधार पर उनका नामकरण करता हूँ।

हमारे अधिकाँश शब्द अन्य प्रकार के हैं। अग्नि का स्वाभाविक बीज है रं। उसे अग्नि कहने का क्या कारण है, रं क्यों नहीं कहते? अग्नि जब प्रज्वलित होती है, तब उसकी लेलिहान शिखा और कुण्डलाकार में उठती धूम्र को देखा जाता है। हम इस वक्रगति अथवा आवर्त्त गति का रहस्योद्‌घाटन करने में तत्पर होते हैं। इसलिये हम 'अग्' धातु की सहायता लेते हैं। उस पर यथायोग्य प्रत्ययारोपण के द्वारा 'अग्नि' शब्द व्युत्पन्न होता है। यह अग्नि शब्द आँखों के द्वारा दृष्ट अग्नि के एक धर्म अथवा सम्बन्ध का वाचक है। 'रं' द्वारा यह धर्म अथवा सम्बन्ध विशेष रूप से ज्ञात नहीं होता। 'अ' एवं 'ग्' द्वारा 'अग्' धातु गठन हुआ है। ये दोनों वर्ण दिव्यकर्ण में श्रुत गतिविशेष के मुख्य स्वाभाविक नाम के उपादान हैं। प्रत्येक वर्ण एक-एक अर्थ का (निखिल अर्थ का) मुख्य नाम अथवा बीज है। उसके विविध संयोग तथा संस्थान के द्वारा किसी पदार्थ विशेष अथवा क्रिया का मुख्य स्वाभाविक नाम रक्खा जाना असंभव घटना नहीं है।

अतः एक धर्म अथवा सम्बन्ध का बोधक है 'अग्नि'। अन्य धर्म अथवा सम्बन्ध का बोधक है 'वन्हि'। अर्थात् जो हुतद्रव्य का देवतार्थ वहन करता है। इसी प्रकार हुताशन, वैश्वानर (जीवों में पाचकाग्नि के रूप में वर्त्तमान) आदि नाम हैं। ये सब 'काक' 'ढ़ोल' आदि की तरह साक्षात् सम्बन्ध के क्षेत्र में कर्ण श्रुत शब्दमात्र नहीं हैं। व्यष्टिरूप में शक्तिव्यूह चक्षुरादि इन्द्रियों को उत्तेजित करते हुये वस्तु के अनेक धर्म तथा सम्बन्धों का बोधन कराता है। इस धर्म और सम्बन्ध को सम्यक् रूप से हृदयंगम करने के लिये हमलोग धातु, प्रत्यय, उपसर्ग

प्रभृति की सहायता से एक-एक नाम का गठन कर लेते हैं अथवा नाम परम्परा क्रम से पूर्वजों से भी ज्ञात होता चला आ रहा है। इसे भी प्रयोजनीय शब्द समूह कहा गया है। यह सब भी यथायथ संयोग और संस्थान में समर्थ वेदमंत्र किंवा ताँत्रिक मंत्र हो सकते हैं।

ये दोनों भाषण यहाँ समाप्त हो रहे हैं। दोनों भाषणों के काल में किंचित व्यवधान भी है। दोनों भाषणों में श्रोतृवृन्द वही-वही नहीं थे, अतएव एक ही बात कई बार कहना पड़ा। सतर्क तथा सारग्राही इन सब पुनरुक्ति, रूपक आख्यायिका और अनेक पल्लवित प्रसंगों के बीच से सारवस्तु का संग्रह कर सकते हैं। यह विषय दुरुह और नीरस सा है। यहाँ उसे प्राँजल और सरस बनाने का प्रयत्न किया गया है। रूपक और आख्यायिकायें भी मूल उद्येश्य की अनुवादक हैं। बहिर्विज्ञान विद्या वर्त्तमान काल में अग्रसर होती जा रही है। जिस वैज्ञानिक ढाँचे पर इनका लेखन हुआ था, वह भी अब कियदंश में परिवर्त्तित हो गया है। फिर भी साधारणतः यह कहा जा सकता है कि आलोचित सिद्धान्तों के साथ सहयोगिता और मैत्री बढ़ रही है। प्राचीन अध्यात्मविज्ञान और नवीन पदार्थ विज्ञान अब पूर्णतः विभिन्नमुखी (Divergent) नहीं हैं। तथ्य, तत्त्व, लक्षण, लक्ष्य, पद्धति का समस्त व्यवधान भी क्रमशः कम होता जा रहा है। अब "नैमिषारण्य' और लेबोरेटरी का मिलन असंभव सा प्रतीत नहीं होता। यह मिलन ही जगत् कल्याण साधित कर सकेगा। अतः मिलनार्थ आग्रह एवं प्रस्तुति आवश्यक है। अपने मौलिक स्वातंत्र्य और शुद्धि की रक्षा द्वारा ही मिलन को घटित कराना होगा। कोई किसी की पालकी ढ़ोने वाला (तल्पिवाहक) बनकर यह मिलन नहीं करा सकता! प्रयोगशाला को भी अपने सत्यानुसंधानार्थ ऋत को स्वभाव में स्थित रखकर शिव और सुन्दर के साधन और उपलब्धि के लिये प्रवृत्त होना ही होगा।

सर्वान्त में यह कहना है कि स्वाभाविक शब्द को लोग अपनी पहुँच से परे मानकर उसे कल्पित पराकाष्ठा (Theoretical Possibility or Limit) मानकर हतोत्साहित न हों जायें। यह पराकाष्ठा हमारे अर्जन की वस्तु हैं। जपादि इसके साधन हैं। वाग्यंत्र, श्रवण यंत्र का अभ्युदय साधन कर लेने से ही यह सिद्धि अर्जित नहीं हो जाती। गुणी तानसेन की संगीत साधना की सिद्धि केवल गले की कसरत ही नहीं है। देह + प्राण + मन = यंत्र। साधनोद्येश है इन तीनों में योग्यता का संचार करना। अतः आध्यात्मिक सम्पदानुशीलन हेतु आवश्यक है श्रद्धा, भाव-भक्ति और प्रेम। यन्त्र की शुद्धि, एकतानता, उन्मुखता और एकाग्रता के लिये सनातनी गंगा के प्रवाह को स्वाधार पर धारण करने के लिये इन सब की तुलना में और है क्या?

स्वाभाविक रूप अथवा यन्त्र

इस शीर्षक से दो भाषण वर्षों पूर्व दिये जा चुके हैं। एक प्रकाशित है, दूसरा अप्रकाशित, जिसकी पाण्डुलिपि भी दुर्लभ है। जो प्रकाशित हुआ था, वह इस भूमिका में यथावत् सन्निवेशित है। यन्त्र रहस्य पर प्रकाश प्रक्षेपणार्थ इसकी किंचित उपयोगिता हो सकती है। जपादि साधन में यंत्र और मन्त्र का उपयोग समान है।

जिस वैज्ञानिक ढांचे के आधार पर चर्चा की गई थी, वह ढांचा ठीक वैसा नहीं है। मूर्त्त पदार्थों के क्षेत्र में वह ढाचा अब शक्तिकणवाद, आपेक्षिकतावाद, केन्द्रिय विज्ञान (Nuclear physics), मौलिक उर्मिविज्ञान (Wave mechanics), सम्भाव्यता अनिश्चयवाद (Probabitity cum uncertanity), व्योमविज्ञान (Astral physies) रूपी अवयवों में विभक्त होकर उन्हें परस्परतः सामञ्जस्यपूर्ण करने का प्रयत्न कर रहा है। गणना (Calculation) और परीक्षण (Erperiment) का प्रयत्न भी चल रहा है। अभी भी पूर्ण समन्वय नहीं हो सका है। यह प्रयास जहाँ तक अग्रसर हो चुका है, उससे यह आशा है कि united Fleld Physics भी अब अधिक दूरी पर रहने वाला आदर्श नहीं है। वह निकटस्थ प्रतीत होने लगा है। "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" अतएव अतर्किक अन्तराय समस्त गणना और हिसाब को उलट-पलट न दे, यह आशंका दण्डायमान है। इस विश्व को हमारी बुद्धि के दरबार में बेढ़ब बनते कितने क्षण लग सकते हैं ? जब भी हम यह सोचते हैं कि अब शायद काम ढर्रे पर आ गया है, तभी पता नहीं कहाँ से सब कुछ को व्यर्थ कर देने वाला कोई आकर उपस्थित हो जाता है।

अब पदार्थ विज्ञान अध्यात्म विज्ञान के साथ मैत्री करने के लिये अग्रसर हो रहा है। मंत्र, यंत्र प्रभृति की वैज्ञानिक भित्ति दृढ़तर होती जा रही है। जो यंत्र विज्ञान के द्वारा परीक्षा-समीक्षा में प्रयुक्त होता है, उसे Apparatus अथवा Instrument कहते हैं। अन्वीक्षा अथवा विचार के क्षेत्र में विज्ञान द्वारा बुद्धि (Logic) का जो यंत्र व्यवहृत होता है, उसकी संज्ञा है गणित (Calculus)। इन दोनों यंत्रों की सहायता से वह (विज्ञान) सृष्टि के सर्वावयव में स्थित मौलिक यंत्र को जानने की चेष्टा अहर्निश करता रहता है। यंत्र का तात्पर्य है आकृतिरूप (Form Pattern), क्रियारूप (Function Pattern) तथा शक्तिरूप (Force or Power Pattern)। अणु के अन्तर्गत् नाभि, नेमि तथा अर का सन्धान बहुत समय से मिला हुआ है। सम्प्रति नाभि तथा केन्द्रनिष्ठ यंत्र में अधिक मनोयोग दिया गया है। फलस्वरूप नाभि में ही महाशक्तिव्यूह का आविष्कार और प्रयोग साधित हो सका है। हम वर्त्तमान में इस प्रयोग से आश्वस्त नहीं हैं। अपितु

सन्त्रस्त हैं। सूक्ष्म के दहराकाश में विन्यस्त यह विपुल शक्तियंत्र ही मुख्य तथ्य है। इस यंत्र की प्रतिकृति (Graphic Representation) अंकित करने की भी चेष्टा की गई है। चेष्टा करने पर भी सम्यक् प्रतिकृति का निर्धारण नहीं हो सका है। वह प्रतिकृति यदि कल्पनायोग्य (Picturable) नहीं हो, तब भी क्षति नहीं है। लार्ड केल्विन के समान हम हठ नहीं करेंगे कि किसी तथ्य को वास्तविक बनाने के लिये उसका यांत्रिक आदर्श (Mechanical Model) बना लेना आवश्यक है। अब Mechanical ही क्यों Mental Image जैसी भी समस्या नहीं है। रादरफोर्ड का आणविक ढाचा भी अब सभी दृष्टिकोणों से खरा नहीं उतरता। हाँ, यह अवश्य है कि अणु की नाभि में एक शक्तिव्यूह स्थित है। अभी हम इसके यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में पूर्णतः भिज्ञ नहीं हो सके हैं।

अध्यात्म विज्ञान के अनुसार स्थिति कुछ और है। जिसे विज्ञान अणु की नाभि कहता है, वह अध्यात्म के अनुसार उसका वाह्य खोल (Dispositin of crustal or shell Force) है। सृष्टि की धारा ने मूल केन्द्र से उतर कर अपनी व्यक्त शक्ति को इसी में केन्द्रित कर छोड़ा है। अध्यात्म के अनुसार यह तो वाह्य खोल की स्थिति है, परन्तु अन्त में, शक्ति के अन्तर्भवन में, प्राणरूप से, मनः रूप से और चैतन्य तथा आनन्द रूप से अपनी स्वाभाविक भँगिमा (यन्त्र में) में सजे हुये हैं। अभी इनका सन्धान विज्ञान ने नहीं पाया है। क्रमशः सन्धान मिलेगा। जड़ यन्त्र को आयत्त करने का जो कौशल है, वही कौशल प्राणादि यंत्र को आयत्त करने का नहीं है। उसकी विद्या अलग है। उस विद्या को अध्यात्म विज्ञान से ही प्राप्त किया जा सकता है।

स्पेस की सान्तता, वक्रता, वस्तु और वक्रता का सम्पर्क, स्थूल विश्व की वर्धिष्णुता आदि विराट का सालेख्य है। यह भी कल्पना से परे है। हाँ, अन्वीक्षा में पदार्थ समन्वय और संगति की सुविधा हो जाती है। विराट भी निश्चिततः यन्त्र रूप है। उसकी यन्त्ररूपता आकृति, क्रिया तथा शक्ति विन्यास प्रभृति रूपत्रय में है। वह रूप कल्पना द्वारा आँका नहीं जा सकता, फिर भी उसका अस्तित्व तो है ही। जैसे हमने अत्यन्त जटिलता के कारण और परीक्षा के मापदण्ड पर न टिकने के कारण ईथर को छोड़ दिया है, तब भी स्वगत संस्थान विशिष्ट space (Intinsic Geometty ot space) ने विराट की यन्त्र मूर्ति को नूतन रूप से परिलक्षित कराया है। उसने यन्त्र के द्वारा मध्याकर्षण (Gravitation) की व्याख्या किया है। आलोक के गति वेग को ध्रुवसंख्या मानकर विश्व का सब कुछ 'समीकरण' में आ गया। काल्पनिक संख्या का भी समावेश मौलिक गणना (जैसे हाईजनबर्ग समीकरण) में हो चुका है। यह उचित ही है! यन्त्र

का अब यह कथन है कि वह यान्त्रिक (mechanical) नहीं रहेगा, मानसिक (mental) भी नहीं रहेगा। यह उचित है। जो आद्याशक्ति मूलस्थ है, यदि वही अनन्त चित्शक्ति रूपा लीलाशक्ति हैं, उस स्थिति में किसी वास्तुतांत्रिक खेल में उन्हें कौन बद्ध कर सकेगा? "अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्" वह सर्वत्र सर्वतोभाव से प्रवृष्ट होकर भी सबसे परे हैं। उनके एकांश में ही यह जगत् स्थित है। अतः यन्त्र सम्बन्धित समस्त विवृत्ति नैकटिक (Approximate) मात्र है। मूल यन्त्र सम्बन्धित अनुसन्धान तो चलता ही रहेगा। प्राण तथा मनोविज्ञान में चाहे जैसे चले, यहाँ भी पूर्वापेक्षा वर्धित ही हो रहा है। तब भी हम लक्ष्य से दूर ही हैं।

यह स्मरण रखना होगा कि मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र का (तथाकथित) "कुसंस्कार" मनुष्य का आदिम संस्कार है। यह सर्वकाल में तथा सर्वदेश में सभ्य-असभ्य मानव गोष्ठी में बद्धमूल रहा है। इसे मैजिक कहकर हँसी में उड़ा देना भी उचित नहीं है। आदिम पर्वत गुहाओं में भी यन्त्र थे। मिस्त्र, बेबिलोन, मोहेन्जोदाड़ों में भी यन्त्रों के अस्तित्व का प्रमाण मिला है। वैदिक तांत्रिक अनुष्ठानों में भी यन्त्रों का प्रयोग हुआ है। वर्त्तमान सभ्यता तो यांत्रिक सभ्यता है। क्या यन्त्र विधि त्याज्य है? इसे मूलतः हृदयंगम करना ही होगा। यह केवल साधना क्षेत्र की ही बात नहीं है। इसका प्रारंभण तो बाह्य से ही होगा तथापि "एहो बाह्य आगे कहो आर" अर्थात् यह तो बाह्य दिशा ही है अभी और आगे की बात कहना पड़ेगा। इस प्रकार से बाह्य आयाम से अन्तः आयाम की ओर अग्रसर होना चाहिये। गहराई में डूबने पर ही स्वाभाविक एवं समर्थ यन्त्र का संधान मिलता है। जड़ विज्ञान प्रभृति तो कुछ दूर तक गाईड, पथदर्शक का कार्य करते है। किन्तु तत्पश्चात्? अब तो अध्यातम योग की शरण लेना होगा। इसके द्वारा बहिर्विद्या का पूरण-मार्जन हो जाता है।

भाषण की संरचना सामान्य श्रोतृवर्ग के लिये की गई थी, तभी भाषा-भंगिमा कुछ फेनिल है। इससे सतर्क सारग्राही असहिष्णु न हों! फेन में भी दैवात् एक-आध सीपी मिल सकती है। सावधानी से सीपी खोलें। देखें! उसमें क्या है, क्या नहीं है!

हम सभी तथा सृष्टिगत पदार्थ एक न एक मुखौटा पहने बैठे हैं! परिणाम यह हुआ कि हम में से कोई भी स्वयं को सम्यक् रूप से पहचान सकने में अक्षम हो रहा है। जिस रूप को हम जानते भी हैं, वह भी सम्यक् तथा पूर्ण नहीं है। इस व्यवस्था के कारण हमारे लिये रूप भी अनदेखा-देखा, सच्चा-झूठा, खुरदुरा-चिकना बना हुआ है। संभवतः सांसारिक व्यवहारार्थ ऐसी व्यवस्था है। हमें किस

प्रयोजनार्थ व्यावहारिक और कारोबारी बनना पड़ा है ? उत्तर में हम कह देते है कि यह उसी मूल कारोबारी की लीला है। इससे अधिक स्पष्ट करने की कोई स्थिति परिलक्षित ही नहीं होती ! इस लीला का आदि, मध्य अन्त कहाँ है ? इस प्रश्न के उत्तर को खोजने में वही हालत होगी जैसी हालत वृत्त की परिधि का सिरा खोजने में होती है, अर्थात् घूम-फिर कर पुनः वहीं ! एक सर्प अपनी पूँछ को मुँह में डालकर गोला बना पड़ा है। अब यह कैसे कहें कि उसका मुख कहाँ है, पूँछ कहाँ है ? यही इस जगत् की व्यवस्था का चेहरा है। प्राचीन लोग जिन सब सांकेतिक रूपों तथा यन्त्रों के माध्यम से हमें इस अजीब संसार की दुनियादारी का संदेश देना चाहते थे, उन सब में ऊपर की ओर सर्पाकृति अंकित है। इसमें भी गूढ़ रहस्य निहित है।

मैंने ऊपर का आस्तरण कियत् परिमाण में हटाते हुए आप सबको रहस्य का सीधा-सीधा रूप प्रदर्शित किया है। स्वस्तिक, चक्र, पद्म प्रभृति के सम्बन्ध में भी यही तथ्य है। सामान्यतः यन्त्र प्रकारत्रय के कहे गये हैं, जैसे वास्तविक (Realistic), सांकेतिक (Symbolic) और तात्विक (Ideal)। इन तीनों के मूल में स्वाभाविक मौलिक (Basic) यंत्र अवस्थित हैं। इन तीनों के अवान्तर भेद भी हैं। जैसे जो शक्ति विन्यास कारणीभूत है उसका आधार एवं प्रतिकृति अथवा कार्याभिव्यक्ति की प्रतिकृति। जो कुछ भी हो, आप वास्तविक स्थिति को याद रखें। मैं सोचता हूं कि मेरे द्वारा देखे जा रहे पत्तों का हरा रंग और विचित्र चेहरा बाहर व्याप्त ईथर सागर में, अणु-परमाणु के एक छन्दोबद्ध नृत्य अथवा उत्तेजना का परिणाम है। बाह्यतः एक शक्ति का खेल चल रहा है। वह खेल मेरे रैटिना (नेत्रान्तःपटल), स्नायु, मस्तिष्क एवं मन को चेतित करते हुए जैसे प्रतिभात हुआ है, वही मेरे लिए उस पत्ते का रंग है। ईथर के स्थान विशेष में इस शक्ति विन्यास तथा विलास को शक्तिकूट अथवा शक्ति-व्यूह कहा गया है। आजकल अनेक वैज्ञानिक ईथर को अस्वीकृत कर चुके हैं। यहां तक कि अणु-परमाणु को मानने में भी 'नीम राजी' किंवा ग़ैरराजी हैं। क्या किसी वैज्ञानिक का कार्य शक्तिरहित होकर चल सकता है ? शक्तिकूट सबके लिये प्रयोजनीय है। समस्त वैज्ञानिक गण शाक्त हैं।

हम भले ही न देख सकें, वैज्ञानिक तो यह देखता रहता है कि वस्तु मात्र में शक्तिमूर्ति विद्यमान है। प्राचीन लोगों में से बहुत से शैव थे। वे वस्तुमात्र को शिवविग्रह अथवा सच्चिदानन्द रूप में प्रत्यक्ष करते थे। वे प्रत्येक वस्तु (धूलिकण से विराट पर्यन्त) को शिव-शक्ति रूप में उपलब्ध कर गये हैं। वे लोग प्रत्येक पदार्थ की शक्तिकूट मूर्ति तथा शुद्ध निरंजन "शान्त शिवमद्वैतं" मूर्त्ति को पास

रखकर अभिन्नतया देखते रहते थे। उनकी दृष्टि में पदार्थ मात्र का यह अपरूप रूप ही युगल है, अभिन्न अर्धनारीश्वर है। वैज्ञानिक भी शक्तिमूर्त्ति को देख रहे हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर ने इस मूर्त्ति को एक विराट् Insrcrutable Power (अचिन्त्य शक्ति) मान कर प्रणिपात किया है। इतने पर भी अभी तक यह अर्धनारीश्वर मूर्त्ति का प्राकट्य वैज्ञानिकों के सम्मुख नहीं हो सका है। कुछ समय संतोष रखिये, धीरज रखिये। अब विलम्ब नहीं है। एडिंगटन, जिम्स प्रभृति विज्ञान के अभिनव वकीलों ने इस महाशक्ति को जड़ अथवा अज्ञेय रूप समझने के स्थान पर उसे चेतन एवं बुद्धि शक्ति मानना प्रारम्भ कर दिया है। प्राचीन लोग शैव-शाक्त के अतिरिक्त वैष्णव भी थे।

जो अद्वैत स्वरूप समस्त पदार्थों के बीच कहीं व्यक्त तो कहीं अव्यक्त सा स्थित रहता है, वह मात्र शान्त, शुद्ध, शिव ही नहीं है। वह रस है, आनन्द सुन्दर एवं मधुर भी है। हम तो नारिकेल की जटा चबाते रह गये, उसके भीतर के मधुर रस का सन्धान हमें नहीं मिला। हमलोग भोग के स्थूल रूप को ही चखकर सुख के साथ व्यथा को गले गलाते रहते हैं और तृप्ति के साथ ही ढेर सारी अतृप्ति को भी अपने सीने में दबाते रहते हैं। यदि हम अपने आभ्यन्तर में वस्तु के सूक्ष्मतर मर्म को संजो कर रखना जान जाते, तब हम यह उपलब्धि कर सकते थे कि वह निबिड़घन रसरूप है। वह रसरूप विश्व भुवन से महाव्रज के किसी कदम्ब कुंज में छिपा अपनी मुरली की ध्वनि से सबके मन-प्राण को खींचता जा रहा है। उसने अपने अन्वेषण के लिये मर्मवासिनी नित्य रसपिपासा को विरहविधुरा गोपिकाओं की भाँति इस चराचर मधुवन में अभिसारिका बनाकर भेजा है। सब के कर्मस्थल का निवासी होकर भी सब के मन को आकुल करने वाला निबिड़ रसघन ही कृष्ण है। उस कृष्ण रूपी रस-राज के लिये केवल चेतन वर्गीय जीव एवं प्राणी जन ही व्याकुल नहीं हैं; प्रत्युत् इस महाव्रज का प्रत्येक रजस् कण और धूलिरेणु भी उस व्रजसुन्दर के 'दरस-परस' के लिये पागल और कंगाल बना हुआ है। यह सत्य है।

प्रत्येक अणु में एक लीला, रसानुभूति और रसान्वेषण चलता रहता है, जिसका सन्देश गति विज्ञान (Dynamics) के बड़े वे बड़े **Equation** (समीकरण) अथवा **Formula** (सूत्र) को नहीं मिल सका है। इसी कारण से पदार्थ विद्या ने अभी हाल तक पदार्थ को पुतली अथवा कल (यन्त्र) ही समझा था, परन्तु अब पदार्थ विद्या का दम्भ टूटने लगा है। उस विद्या के सुविशाल भवन के नीचे किसी अज्ञात 'सुन्दर' के द्वारा सुरङ्ग खोदे जाने का शब्द सुनाई देने लगा है और आघात के कम्पन के साथ-साथ इस गर्विणी विद्या का भी हृदय

थर–थर कंपित होने लगा है। प्रतीत होता है कि अब जड़विद्या का कुल-शील, मान आदि सब चूर्ण-विचूर्ण हो जायेगा। सो भले ही हो, परन्तु जब इस विद्या सुन्दर का मिलन होगा, जब इस लीलाविलास और निखिल पदार्थों में ओत-प्रोत रस तथा आनन्द का सन्धान पश्चिम की पदार्थ विद्या को प्राप्त होगा, उसी दिन हम "बलिहारी" जाकर पुराने पद गायकों के सुर में सुर मिलाकर गाने लगेंगें—"हे ननद। नगर में कह दो कि राजनन्दिनी 'राई' अर्थात् राधा आज कृष्ण कलंक सागर में डूब गई है।" (ननदिनि ! बोलो नगरे, डूबे छे राई राजनन्दिनी आज कृष्ण कलंक सागरे)

यह कृष्ण कलंक सागर ही निबिड़ रस सागर है। उस कलंक में कलंकिनी होने की सभी को साध है। कौन उस रस से वंचित होना चाहेगा? और श्री राधा! वे तो इस रस घन की ही लीला मूर्ति हैं। वे इस लीला के समय अपने विश्वभुवन-मय स्वरूप (ह्लादिनी शक्ति) की विचित्र भंगिमा में उच्छलित होती रहती हैं। अतः वे हैं ब्रजरस विलासिनी ! राधा ने लीलाकाल में विश्व की विविध व्यवहारा-वलि में स्वयं को बाँध दिया है। वे अज्ञान के घर में जटिला कुटिला रूपी गृहिणित्व संभाले वधु बनी बैठी हैं ! वे इस जगत् के जीवों के संकुल गृहों में गृहणी बनी बैठी हैं। उनका रस और आनन्द ही व्यावहारिक जगत् के कूपों और गर्त्तो में आपूरित है। ऐसा क्यों न समझें कि वे जटिला-कुटिला अविद्या ही भेद किंवा द्वैत हैं। अविद्या ही दुर्ज्ञेया, गहना, अनिर्वचनीया, अघटनघटनापटीयसी है। अतः जटिला है। उसने व्यावहारिक जीवों को गर्भ में धारण कर रक्खा है। यह भेददृष्टि अत्यन्त मुखरा प्रतीत हो रही है। जोड़ना–तोड़ना उसका स्वभाव है। वह है जीव सहोदरा। जीव के साथ ही रहती है। जो वधु इस जीव के लिये सास-ननद वाले, कुटिला-जटिला वाले घर में आती है, वह रसमयी रसिका वधु उठते बैठते लाँछना ही तो पाती है ! उसे तीक्ष्ण तलवार की धार पर निवास करना पड़ता है।

मेरे अन्तरतम में जटिला-कुटिला (सासननद) के शासन में जो रसिका (ह्लादिनी शक्ति की एक कणिका) वधु बन कर घर की देखभाल कर रही है उसे किसी भी प्रकार से मेरे अस्तित्व में ही समाप्त नहीं होना है। उसे किसी सीमा में बाँध सकना भी संभव नहीं है। ब्रजविलासिनी कभी भी अज्ञान की गृहणी बनकर नहीं रह सकेगी। क्या मेरे अन्तर की रसधारा समस्त भुवन में ओतप्रोत उस आनन्द से (जिससे समस्त सृष्टि की प्रेरणा तथा गति का आवेग आ रहा है) उस आनन्द सागर से पूर्णतः विच्छिन्न होकर रह सकेगी ? क्या मेरे अन्तर की रस कणिका "रसो वै सः" के लिये उतावली हुये बिना रह सकती है ? ब्रज अथवा

विश्व में बहने वाली विपुल रसधारा ही तो यमुना है। मेरे अन्तर की वह वधु इस यमुना से जल लाने के लिये सुबह-शाम जाया करती है। यदि वह मेरे रस का रिक्त कलश लेकर इस विश्व के विचिय रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-भाव-वेदना की विभिन्न भंगियों से तरंगायित यमुना का जल न भरे, तो काम ही नहीं चल सकता। वह जल लेने जाते समय कहती है कि "विधि मुझसे विपरीत हो रहा है" (विधि से वड़ोई साधिलोवाद)।

उस यमुना तट पर जाकर मेरी वह रसमयी वधु अपने स्वाभाविक रूप, निबिड़घनीभूत रस का सन्धान शनैः-शनैः प्राप्त करती रहती है। सर्वाग्र में बासुरी सुर से परिचय होता है। तदनन्तर उस परिचय में जीव की रसात्मिका और रागात्मिका वृत्ति का अपने ही नित्यपूर्ण, स्वाभाविक कृष्णरूप की ओर पूर्वराग होने लगता है। इसी पूर्वराग से क्रमिक रूप में ब्रज की लीलाओं का आविर्भाव होता है। इसकी साधिका एवं सहायिका के रूप में गोपियाँ और साधक तथा सहायक के रूप में ग्वाल-बाल साथ ही रहते हैं। इन लीलाधारी की मुरलीध्वनि के कारण यमुना उलटी बहती हैं। विश्व की रसधारा नांना नामरूप के व्यवहार में पड़कर, व्यवहार की सीमा में बंधते हुये स्वयं को सीमित, कृपण तथा कुंठित कर देती है। चिर पूर्ण मधुर का आकर्षण हो जाने पर यह अधःस्त्रोत ही उर्ध्वस्त्रोत है और 'धारा' ही 'राधा' है। हमारे जैसे अरसिकों में इस अपूर्व रसतत्व को समझ सकने वाला प्राण है कहाँ ?

पश्चिम के वैज्ञानिकों ने निखिल वस्तु समूह की पृष्ठभूमि में इसी शक्तिमूर्त्ति को पाया है। वे यह समझ सकने में अभी भी अक्षम हैं कि यह शक्ति स्वरूपतः रस एवं शिव से अभिन्न रूप है। अतः स्वाभाविक रूप के उस चरम परम भाव के स्तर पर विज्ञान अभी भी उन्नीत नहीं हो सका है, जिस भाव पर आरूढ़ हो जाने पर "अपाम सोभममृता अभूम" की स्थिति प्राप्त हो जाती है। इतने पर भी विज्ञान जहाँ तक आरूढ़ हो सका है, उतने मात्र से ही वह शक्तिमंत्र दीक्षित हो गया है। आप लोग प्रतीक्षा करें, विज्ञान का भी पूर्णाभिषेक होगा। वह 'कारण' का तो पक्षपाती है, अतएव साक्षात् शक्तिस्वरूप कारणानन्द के आस्वादन से अधिक दिनों तक वंचित नहीं रह सकेगा।

हमने एक पत्ते की परीक्षा करते हुये इतनी अधिक वातें कह दीं। क्या इसका स्पष्टीकरण देना होगा ? चाहे हरा पत्ता, हो अथवा धूलिकण, किंवा जीव ही क्यों न हो, प्रत्येक वस्तु की गहराई में झाँकने पर ज्ञात होता है कि प्रत्येक शक्ति विग्रह (**System of Forces**) अथवा प्रत्येक शब्द में **Stress System** है। इसके लिये विज्ञान का पूर्ण अनुमोदन है। गहराई से देखने पर विदित होता है कि नाद,

विन्दु तथा कला के मूल में भी स्पन्द ही है। इस मूल स्पन्दन का स्थूल स्पन्द होना भी विज्ञान ने स्वीकार किया है। और अधिक गहराई में उतरने से यह विदित होने लगता है कि वह शान्त, शिव तथा अद्वैत रूप है। इसे ही योगीजन समाधि में सच्चिदानन्द धन के रूप में प्रत्यक्ष करते हैं? यहां पत्ता, मुझमें और धूल में कोई पृथकत्व नहीं है। यही है निर्विशेष निरंजन सत्ता! रसिकजन इस परम सत्ता का रस रूप में, रस विलास रूप में, लीला रूप में अनुभव करते हैं। वे यह अनुभव प्राण में ही करना पसन्द करते हैं। शहनाई वादन के समय एक व्यक्ति केवल उसकी तान को पकड़े बजाता रहता है। दूसरा वादक उसी तान के आधार पर नाना परदों में राग-रागिनी का आलापन करता रहता है। दोनों ही के स्वररूप में 'सुर' ही है। ज्ञानी की निरंजन सत्ता मानों शहनाई की वही तान है। रसिक का राधा-कृष्ण लीला विलास उस तान पर क्रीड़ा कर रही सुरों की मनोहारी क्रीड़ा है। पश्चिम के वैज्ञानिकों ने शक्ति के जिस रूप को देखा है, उसकी पृष्ठ भूमि में इसी प्रकार की शहनाई की तान और राग रागिनियों के आलाप जैसा चल रहा है। इतने पर भी वैज्ञानिकों का कान उस आलाप सुनने योग्य नहीं हो सका है।

इस विवरण के अनन्तर पुनः हरे पत्ते पर लौट आईये। इस चर्मचक्षु से पत्ते का सामान्य अवलोकन ही हुआ है। जिसकी आँखें जितनी अधिक शक्तिशाली हैं, वह उसे उतना ही प्रकृष्ट रूप से देख सकेगा। एक अणुवीक्षण शीशा लेकर परीक्षण करिये। पहले तो पत्ते में कुछ भी परिलक्षित नहीं हुआ था परन्तु अब कुछ दीखने लगा है। न जाने कितनी सूक्ष्म शिरायें हैं और न जाने कितने सूक्ष्म जीवों का वास उस पत्ते पर हैं। और अधिक शक्तिशाली अनुवीक्षण मिलने पर और अधिक अन-देखी भी परिलक्षित होने लगती है। विश्वविख्यात विद्वान जगदीशचन्द्र वसु ने क्रेस्कोग्राफ आदि यंत्रों के माध्यम से पेड़-पौधे, लता-पत्तों के सूक्ष्म क्रिया कलापों को दिखलाया था, जिन्हें देखने की कल्पना हमें कभी भी नहीं थी। एक अथवा आधे मिनट में उसमें कितनी वृद्धि हुई, विष प्रयोग से अथवा अन्य उत्तेजनाओं की उसमें कहां और कितनी प्रतिक्रिया हुई, इन सबको सूक्ष्मता के कारण लाखों गुणित बढ़ा करके देखने पर भी कुछ ज्ञात नहीं हो सकता। यंत्र की कृपा से यह सब प्रत्यक्ष-गोचर हो सका है। क्या यहीं अन्त है?

यद्यपि मैंने अणुवीक्षण यंत्र की सहायता से भले ही पत्ते के प्रत्येक जीवन कोष (cell) को जांच परख लिया हो, तथापि जिन यौगिक अणुओं की संहति अथवा संघात से प्रत्येक सेल (कोष) का दाना गठित हुआ है, उस आणविक मसाले को कैसे देखा जा सकेगा? क्या रासायनिक परीक्षा द्वारा? वह तो यौगिक अणुओं का हिसाब, जमा खर्च खतिया कर समझा देती है, परन्तु किसी भी रासायनिक

प्रयोगशाला में मैंने आखों से जल के एक अणु किंवा कार्बोहाईड्रेट के एक Molecule को नहीं देखा है। एक बूंद जल में इतने Molecule हैं कि उनका हिसाब दे सकना ही संभव नहीं है। अतः अणुवीक्षण से पत्ते का एक अंश ही ज्ञात हो सकता है। पूर्ण पर्यवेक्षण नहीं हो सकता।

मान लिया कि एक ऐसा आदर्श अणुवीक्षण यंत्र लेकर देखना प्रारंभ किया जिसके सम्मुख इलेक्ट्रान माईक्रोस्कोप भी पराजय मान लेता है। अब पत्ते के समस्त यौगिक अणु दृष्टिगत हो रहे हैं, किन्तु पत्ते के ये सभी सावयव, परिमित, परिच्छिन्न जटिल, सूक्ष्म तथा कनिष्ठ अंश ही चरम स्थिति हैं क्या ? क्या इन्हें देखना ही चरम पर्यविक्षण है ? नहीं, ऐसा नहीं है। वैज्ञानिक एक यौगिक अणु (Molecule) को तोड़कर उसका मसाला अर्थात् ऐटम दिखलाना चाहते हैं। यंत्र अथवा आंख से नहीं, प्रत्युत हिसाब किताब से यह आकलन होगा। जैसे पत्ता यौगिक अणु का संघात किंवा संहति है, उसी प्रकार Molecule भी Atom का संघात है। संघात=व्यूह। एटम अथवा मालिक्यूल की इस प्रकार की व्यूह रचना पारस्परिक शक्ति विन्यास का परिणाम है। ये सब एक दूसरे की शक्ति से विघृत होकर ऐसे व्यूह की रचना करते हैं, जैसे वाह्य जगत में सूर्य तथा उसके आश्रित ग्रह-उपग्रह रहते हैं। एक Molecule (यौगिक अणु) में किस विधि के द्वारा Atom समूह शक्तिविन्यास करते हुये व्यूहन करते हैं, इसका संधान रसायन शास्त्र की शाखा Physical Chemistry से सम्यक् रूपेण प्राप्त हो जाता है।

एक-एक बेन्जीन मालिक्यूल का व्यूहन कितना विचित्र है। ये सभी अनदेखे ही हैं। आज हम अपने आदर्श अणुवीक्षण से इन्हें देखने को तत्पर हैं। Molecule में दो व्यापार परिलक्षित होता है। प्रथम में सब कुछ वामनावतार है। बालखिल्य भूतों का रूप है। जैसे पत्तो में रूप-रस-गंधादि है, वैसे उसके मालिक्यूल में भी है। पाश्चात्य मनोविज्ञान ने जिसको गौणलक्षण कहा है, वह सब कुछ इन बालखिल्यों में भी है। उसीलिये हमने अपने आदर्श अणुवीक्षण में उनका रूप देखा। इसके पश्चात् एक और स्थिति है। यह सब बालखिल्य किसी पेड़ की डाल से उलटे लटककर तपस्या में नहीं लगे हैं। इनके 'बाउलों' के समान वाले नृत्य में कहीं भी विराम नहीं है। एक दूसरे का हाथ पकड़े, एक की जटा की गाठें दूसरे की जटा में बांधें, ब्यूहरूप में इनका नृत्य अविश्रान्त चल रहा है। जब जैव पदार्थ (Protoplasm) पत्तो के कोषों में घूर्णित है, तब उसी चक्कर के साथ-साथ ये सभी बालखिल्य भी घूर्णित हो रहे हैं। जब सूर्य किरणों के कारण पत्ते का हरित अंगराग (क्लोरोफिल) वातावरण में आक्सिजन उत्सर्जित करते हुये, कार्बन ग्रहण करते हुए अपनी अभिवृद्धि कर रहा है, उस स्थिति में उस नीरव शान्त दैनन्दिन व्यापार के अन्तराल में

एक जटिल, विशाल रहस्यमय शक्तिक्रीड़ा अनवरत चल रही है, उसे भी हमने उस आदर्श अणुवीक्षण से देखा, यह कल्पना करता हूं।

यह भी मान लेता हूँ कि लता-पत्तों में यह विलक्षणता है कि वे सूर्य किरणों से ताप चुराकर अपने यौगिक अणुओं के व्यूह में भर लेते हैं। जैसे कौरवों की सेना ने विराट राजा की गायों के झुण्ड को अपने बीच में रोक लिया था, ठीक उसी प्रकार ! उन सब व्यूहों का मुखौटा ताप, आलोक, तड़ित् आदि रासायनिक प्रक्रिया में किस प्रकार बदलता है, यह भी मानों हमारे अणुवीक्षण में प्रत्यक्षगोचर होने लगा। यहाँ तक देखकर अर्थात् शक्तिमन्दिर के मणिमण्डपस्थ रत्नवेदिका के अन्तराल में स्थित होकर जो कुछ भी देखा, उससे हम विस्मयाभिभूत हैं। तथापि क्या यही देखने का अन्त है ? नहीं, ऐसा कदापि नहीं है !

रत्नवेदिका के और भी सन्निकट आकर देखा कि व्यूह में पुनः व्यूह है, चक्र में पुनरपि चक्र हैं, पद्म में भी पद्म है। अब **Molecule** के स्थान पर ऐटम देखा। कहते हैं कि यहाँ रूप, रस, गंधादि कुछ भी नहीं है। अर्थात् गौण लक्षण यहाँ नहीं हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार अब **Primary quality** ही शेष है। अर्थात् सावयव गुरुत्वयुक्त- गतिमान, परस्परतः व्यावर्त्तक (**Impenetrable**) सूक्ष्म रेणुपुञ्ज ही शेष हैं। वहाँ पत्ते का हरा रंग, रस, गंधादि नहीं मिला। यौगिक अणु के पश्चात् और सूक्ष्म पर्याय में जाने पर ये सब गुण लुप्तप्रायः हो जाते हैं। अपने आदर्श अणुवीक्षण से यौगिक अणु (मालिक्यूल) में भी रंग देखा, परन्तु उसके भीतर स्थित अणु के प्रदेश में रंग प्रभृति का अस्तित्व ही नहीं है। यह है शिष्ट वैज्ञानिकों का अभिमत। हम आपाततः उन्हीं के द्वारा प्रदत्त यंत्र लेकर उनके पथनिर्देशानुसार चल रहे हैं। तथास्तु, मान लिया कि उन्हीं का दृष्टिकोण सही है। अब हम गतिशील, गुरुत्वयुक्त, परस्परतः व्यावर्त्तक **Atom** के राज्य में आ पहुँचे। इस राज्य में वर्ण, रस, गंधादि गुण नहीं हैं, तथापि अन्य कतिपय गुण तो हैं ही ! इतना ही नहीं गुण-कर्म-विभाग के अनुसार इनकी विभिन्न श्रेणियाँ भी हैं।

यह देखा कि एक मालिक्यूल की गोष्ठी के अन्तर्गत् एटम ने एक शक्तिव्यूह रचा है। ये लोग और भी छोटे-छोटे वालखिल्य गायक जैसे हैं ! इनके नृत्य, चलनशीलता आदि में विराम है ही नहीं। एटम का शक्तिव्यूहन और शक्तिविलास मालिक्यूल की तुलना में अधिक सूक्ष्म और मौलिक है। जाने भी दीजिये—क्या आदर्श अणुवीक्षण ने यहाँ तक प्रदर्शन करके अवकाश पा लिया ? पिछली शती में शायद इतने में ही अवकाश पा लेता। क्योंकि तब तो विज्ञान अणु को ठोस और वर्त्तुल मान रहा था ! अब तो हमारी 'घुसपैठ' और भी अन्दर तक हो गयी है। अब हमें यह ज्ञात है कि एटम ठोस मौलिक पदार्थ नहीं है। उसके आभ्यन्तर में भी एक विचित्र जगत् है। यह तड़िदणु अथवा इलेक्ट्रान-प्रोट्रान का जगत् है। ये तड़िदणु

प्रत्येक अणु में ग्रह उपग्रह के समान घूर्णित हो रहे हैं। इनका वेग और शक्ति अपरिसीम है। एटम में शक्ति का जो रूप परिलक्षित होता है, उसको देखकर अवाक् हो जाना पड़ता है। हमारे इस विराट ब्रह्माण्ड की कौन सी शक्ति इस क्षुद्र ब्रह्माण्ड के अन्तःपुर में स्थित (Intra-Atomic) शक्ति के आगे ठहर सकेगी ? इन सब को अपने ग्रंथ "वेद और विज्ञान" में विवेचित कर चुका हूँ।

आज हमने अणु के निगूढ़ शक्तिव्यूह को एक बार कटाक्षपूर्वक देखा है। जिस आदर्श अणुवीक्षण से देखा; क्या उसे यहीं छुट्टी मिल गई ? नहीं, अभी छुट्टी कैसी ? तड़िदणु भी सावयव है। परिमित पदार्थ है। अतएव उसका भी एक अन्तःपुर है। यदि अन्तःपुर है, तब वहाँ भी शक्ति की रत्नवेदी होना ही चाहिये। इस प्रकार से कहाँ विश्रान्ति है ? एक पत्ते से पर्यवेक्षण प्रारम्भ किया था। अब यदि इस प्रकार द्वार के पश्चात् द्वार खोलते हुये उसकी सहस्त्रमहल युक्त पुरी के मध्य में पहुँचकर उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म पूर्णशक्ति मूर्ति को देख सकूँ, तभी मेरा पर्यवेक्षण सफल होगा। क्या वहाँ तक दिखलाये बिना आदर्श अणुवीक्षण अवकाश पा सकेगा ? वैज्ञानिकों का पर्यवेक्षण अभीतक कुहासे के द्वारा आवरित सा है। वे कुछ काल पूर्व तक ईथर समुद्र में इलेक्ट्रान को चक्कर खिला रहे थे। इलेक्ट्रान को भी ईथर की एक अवस्था समझ रहे थे। ईथर में नाना तरंगों को उठाते हुये और उन्हें बिखेरते हुये अनेक रंगबिरंगे दृश्य हमे दिखला रहे थे। वे अब भी रेडियो सुना रहे थे, और भी कितना अनुभव करा रहे थे।

मूलतः पूर्वशताब्दी की मान्यता 'ईथर' अब छूटता जा रहा है। इतने पर भी कार्यकरी शक्तिकणा (Energy quanta, Point event, Four dimensional Continuum, Intrinsic Geometry of Space) को माने बिना कोई राह ही नहीं है। यह वैज्ञानिक दर्शन जो है। यह दर्शन अणुवीक्षण का न होकर कल्पना की आँखों का, अन्दाजी, लेखा-जोखा का दर्शन है। हम तो अपने आदर्श अणुवीक्षण को हाथ में लेकर वैज्ञानिक की कल्पना को सम्मति प्रदान करने गये थे। हम तो वैज्ञानिक को पीछे छोड़कर आगे बढ़ आने के लिये भी तत्पर थे। अतः चरम में एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म पूर्णशक्तिमूर्त्ति के सम्मुख जाकर उपस्थित हो गये। यहाँ सूक्ष्मता और पूर्णता, दोनों की पराकाष्ठा है। हम जिसे अन्यत्र चरम अथवा परम चक्षु मान चुके हैं, आज उसे ही आदर्श अणुवीक्षण कह रहे हैं। इस चक्षु में स्थूल, सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ठ आदि समस्त रूपों को देख सकने का सामर्थ्य है। इसमें बाह्य रूप से चक्षु आदि किसी भी यँत्र का प्रयोजन ही नहीं है। देखने की शक्ति के चरम विकास का नाम है परम चक्षु। यह भौतिक और दिव्यचक्षु से परे की अवस्था है।

यदि हम शक्तिकूट मूर्ति (Stress System) को यंत्र मान लें, तब हमें यह विदित होगा कि इसके भी अनेक स्तर हैं। पत्ते का स्थूल रूप भी शक्ति रूप ही है। यह शक्ति पत्ते में स्थित शिरा-प्रशिराओं में अनवरत रूप से रस का संचार कर रही है। उनके लिये ताप तथा आहार एकत्र कर रही है। यही प्रोटोप्लाज्म (जैव पदार्थ) को चक्कर खिला रही है। इसी शक्ति के कारण पत्ता वर्द्धित होता, हरा होता और पीला पड़ कर सूख भी जाता है। पत्ते की व्यवस्था के लिये, उसे किसी बड़ अथवा आम किंवा किसी अन्य पौधे पर उगाने के लिये शक्तिव्यूह को स्वीकार करना ही पड़ेगा। इसका अनुमान आखों से देखकर नहीं होता, प्रत्युत इसके कार्य को देखकर अनुमान होता है। पत्ते की जीवन यात्रा के लिये जिस शक्तिकूट अथवा शक्ति व्यवस्था की आवश्यकता है, वही पत्ते का स्थूल यंत्र है। यह है हमारा पत्ते के 'दरबारे आम' से परिचय। यह है पत्ते की प्राथमिक रूपरेखा।

चुम्बक के उदाहरण से हम इस दरबारे आम का परिचय और शक्तिकूट अथवा Lines of Forces का नक्शा प्राप्त करते हैं। वैज्ञानिक भी कहते हैं कि चुम्बक का शक्तिकूट ही चरमतत्व नहीं है। चुम्बक स्वरूपतः क्या है? उसके दोनों पोल (Pole) से शक्तिरेखायें किस भंगी से चतुर्दिक प्रसारित हैं, इसका भी कोई कारण होगा। इस कारण को चुम्बक के यौगिक अणु समूह में तथा ईथर आदि अन्य उपयुक्त चौखटे से खोजकर प्राप्त करना ही होगा। चुम्बक के जिस शक्तिकूट को यन्त्रों के माध्यम से जाना जाता है, वे शक्तिकूट अथवा यंत्र एक सूक्ष्मतर मौलिक शक्तिकूट (Subtler and more fundamental Stresses) के कार्य अथवा अभिव्यक्ति रूप हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उपयुक्त (Dynamic) चौखटे (Frame) और यौगिक अणुओं में जो शक्तिपिण्ड (Stresses) है, वही चुम्बक को दो ध्रुवों (Poles) वाला विशिष्ट यंत्र बनाता है। इन शक्तिपिण्ड के अभाव में चुम्बक में चुम्बकत्व का पूर्ण अभाव हो जाता। वह एक पत्थर ही होता। और फिर यत्र-तत्र विक्षिप्त शक्तिकूट के कारण चुम्बक की स्थूल यंत्र मूर्ति ही उसके अभिव्यक्त गुणों के मूल में है। यदि ऐसे शक्तिकूट बिखरी अवस्था में नहीं होते, उस स्थिति में चुम्बक लौहचूर्ण को कैसे खींचता?

स्थूल शक्तिकूट अथवा यंत्र ही स्थूल धर्मो का आश्रय अथवा कारण है। सूक्ष्म शक्तिकूट (जैसे मालिक्यूल) ही स्थूल शक्तिकूटों के कारण अथवा अधिष्ठान हैं। स्थूल का अधिष्ठान है सूक्ष्म यंत्र। इस प्रकार कार्य कारण की जंजीर को पकड़ कर हम अन्त में चरम-परम सूक्ष्म कारण तथा अधिष्ठान में पहुंच जाते हैं। यही है चरम अधिष्ठान अथवा यंत्र, प्रकृति अथवा प्रधान, जिसे शास्त्र ने "अमूलं मूलं" कहा है। इसे विज्ञान के दृष्टिकोण से आपने समझा? चुम्बक के Molecule

समूह के घरेलू शक्ति विन्यास के कारण ही चुम्बकीय ध्रुवों की स्थिति है। इसी ध्रुवों के कारण ही उसका चुम्बकत्व है। यह है एक सोपान। इसके पश्चात् हमने एक पत्ते को देखा। उसके यौगिक अणु चरम, अविभाज्य पदार्थ नहीं हैं। वे सूक्ष्मतम मसाले की अपूर्व पाक प्रणाली से प्रस्तुत किये गये हैं। (उस पाक प्रणाली का विशद वर्णन पाश्चात्यों ने किया है)। इन सूक्ष्म मसालों को अणु कहा जाता है। ये अणु अपनी शक्ति को जैसे संहत, संयोजिक करते हैं, यौगिक अणु वैसे ही हो जाते हैं। शक्ति के कार्यक्रम में Molecule मूलधनी किंवा पूंजीपति नहीं हैं। वे स्वयं अधिक से अधिक कम्पनी के भागीदार अथवा व्यवस्थापक (Managing Agent) हैं। जिन अंशीदार (भागीदार) ने यह कारोबार फैलाया है वे हैं अणु।

अतएव यह विदित होता है कि पेड़ के पत्ते में, चुम्बक में शक्तिकूट ही कारण एवं अधिष्ठान हैं। एटम के क्षेत्र में जो क्रिया चल रही है, उसी के कारण यौगिक अणु समूह का कार्य सम्पादित होता है। चूंकि हमने 'आदर्श अणुवीक्षण यंत्र' लेकर परीक्षण प्रारंभ किया है, अतः हम एटम पर्यन्त जाकर ही विश्रान्त नहीं होंगे। हमें देखना है कि प्रत्येक Atom एक-एक बालखिल्य सौर जगत् है। उसमें सूक्ष्मतैजस रेणु समूह विपुल शक्ति के साथ क्रीड़ा करते रहते हैं। ये कभी-कभी एटम के क्षेत्र से छिटक कर बाहर भी आ जाया करते हैं। अतः एटम के शक्तिकूट में हमें और भी सूक्ष्म तथा मौलिक यंत्र की प्राप्ति हो जाती है। यही यंत्र आणविक यंत्र का कारण है। अधिष्ठान रूप है। वर्त्तमान में ऐटम के केन्द्रीय (Nuclear) शक्तिव्यूह अथवा यत्रों की केवल परिकल्पना ही हुई हो, ऐसा नहीं है। वे व्यवहृत भी हो रहे हैं। जैव विद्या भी अपनी पारी लेकर चल रही है, तथापि मूल में शक्ति का क्या रूप है? उसका लेख कैसा है? इसका उत्तर पूर्ण अध्यात्म विज्ञान के अतिरिक्त कौन दे सकता है?

अतः आगे बढ़ने, अग्रसर होने का अन्त कहीं भी नहीं है। यंत्र में यंत्र, उसमें भी यंत्र, यह चलता रहता है। किसी भी यंत्र की परीक्षा करो, जैसे श्री यंत्र। हम इस सत्य का चेहरा वहां भी देख सकते हैं। वृत्त में वृत्त, उसमें त्रिभुज, उसमें फिर त्रिभुज। इसका विस्तार से वर्णन यहां नही कर सकता। मूल ग्रंथ में ही कुछ आभास मिलेगा। आज तो मूल सूत्रों को मुट्ठी में पकड़ो। हम विश्व के किसी भी पदार्थ की परीक्षा करके देख सकते हैं कि उसमें यंत्र, उसमें पुनः सूक्ष्मतर यंत्र, ऐसा कार्य-कारण भाव अधिष्ठित-अधिष्ठान रूप से सन्निहित रहता है। यंत्र—विन्यस्त Stresses अथवा शक्तिकूट। यदि भीतर का यंत्र नहीं है, तब बाहर का यंत्र कैसे रहेगा? यदि रसोई वाले नकारात्मक उत्तर दे दें, उस स्थिति में बाहर बैठे लोगों को पत्तलें कैसे परोसा जायेगा? आप भले ही स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म का, व्यक्त की

अपेक्षा अव्यक्त का वर्णन सुनकर चकित हो जायें, सन्दिग्ध चित्त कदापि न हों। पश्चिम के विज्ञान ने सूक्ष्म का महात्म्य कीर्तन करने में अपने गले का बेहद प्रयोग किया है। पश्चिम की 'काम में लगाई गई विद्या' अथवा **Applied Science** ने अभीतक बाहर के बड़े-बड़े कारखानों में ही अपनी ममता को खूब लुटाया है। इसने अंदर की खबर किंचित् पाकर भी उसे नहीं पाया है।

अब विज्ञान अणु के अन्तःपुर में सूक्ष्मातिसूक्ष्म की ही ओर इंगित करता फिर रहा है। पश्चिम इस इंगित को पूर्णतः समझे बिना कोयले, पेट्रोल आदि ईंधन के द्वारा जल, स्थल तथा अंतरिक्ष में विभिन्न उत्कट मशीनों को संचालित करता जा रहा है। उसने इन ईंधनों के प्रदूषण से धरती को गंदा करने में कसर नहीं छोड़ी है। उसने मनुष्य के सोने के सँसार को शैतानों का मुल्क बना छोड़ा! मानव के सूक्ष्म व्यवहार में भी स्थूल के दानव का प्रताप वर्द्धित है। केवल होम्योपैथी ने रोग के निदान में और भेषज के प्रयोग के क्षेत्र में स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म का सहाय्य लिया है। उन पाश्चात्य देशों में हिप्नोटिज्म, मेस्मेरिज्स प्रभृति क्रमशः लोगों को सूक्ष्म शक्तिकूट किंवा सूक्ष्म यंत्र में आस्था स्थापन का संदेश दे रहे हैं। यहाँ विपर्यय यह है कि यदि अनेक मोटे-मोटे भूत कन्धों पर चढ़ बैठें, उस स्थिति में अरेबियन नाईट के सिन्धबाद जहाजी को मिले विजन द्वीप वासी बूढ़े शैतान के समान ही, उन्हें कन्धों से उतारना अति कठिन है। क्योंकि जिस सरसो (सर्षप) के प्रयोग द्वारा भूतों को भगाया जाता है- वह मन रूपी सरसों भी तो भूतग्रस्त ही है।

जो कुछ भी हो सूक्ष्म शक्तिकूट ही स्थूलशक्तिकूट का अधिष्ठान है, 'तद्भावे सद्भावः तद्भावः' नियमानुसार। सूक्ष्म यंत्र के अभाव में स्थूल यंत्र की सत्ता नहीं रहती। अतः यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि यदि किसी भी पदार्थ को हम स्थूलतः देखना चाहें, तब हमें उसके सूक्ष्म शक्तिकूट अथवा यंत्र का संग्रह,-संधान करना ही होगा। जैसे हमे एक फौलाद के खण्ड को चुम्बक बनाना है। मुझे क्या करना होगा? मुझे वैद्युतिक शक्ति द्वारा अथवा अन्य चुम्बक स्पर्श के द्वारा उस फौलाद खण्ड के यौगिक अणुओं को एक ऐसे शक्तिकूट से सुसज्जित करना होगा, जिसमें चुम्बक की ही तरह दो ध्रुव इधर-उधर प्रसारित हों। इसके अतिरिक्त अन्य उपाय ही नहीं है। मैं जिस **Electric Current** द्वारा अथबा अन्य उपाय द्वारा फौलाद को चुम्बकभावपन्न करता हूं, उसका प्रमाण आप कैसे प्राप्त कर सकेगें? इसका प्रभाण मिलेगा लोहा को खीचने की शक्ति देखकर, यह देखकर कि क्या चुम्बक का समान ध्रुव अपने समान ध्रुव का वर्जन और विसदृश ध्रुव का आकर्षण करता है किंवा नहीं। अतः स्थूल यन्त्र पाने के लिये सूक्ष्म यन्त्र की प्राप्ति आवश्यक है। तन्त्र का उदाहरण देता हूँ। शक्ति की एक विशेष मूर्त्ति है त्रिपुर सुन्दरी।

तन्त्र में उनका ध्यान तथा बीज मन्त्र कहा गया है।

अब यह कल्पना करिये कि मैं उन्हें तंत्रोक्त ध्यान के द्वारा प्रत्यक्ष करना चाहता हूँ। मैं उनके मूर्त्त एवं व्यक्त रूप को ही देखना चाहता हूँ। अब क्या करना होगा ? पहले निर्देशित मूलसूत्र के अनुरूप मुझे उनके शक्ति कूट किंवा यन्त्र को उपस्थित करना होगा। सूक्ष्म यन्त्र ही स्थूल यन्त्र का कारण तथा अधिष्ठान है। माना कि वह सूक्ष्मयंत्र है श्रीयंत्र। यंत्र रूप में क्षेत्र में वह जो कुछ करता है, वही शब्द भी मंत्र के क्षेत्र में करता है। वह जिसका यंत्र अथवा मंत्र है, उसे पकड़ कर मेरे सम्मुख उपस्थित कर देता है। क्यों लाता है, उसका कारण पहले कहा जा चुका है। यंत्र और मन्त्र का संयोग मणिकांचन संयोग कहा गया है। इससे सिद्धि और भी सुकर हो जाती है।

हमने सूक्ष्मयंत्र के विभिन्न स्तरों को पत्ते तथा चुम्बक का परीक्षण करके देखा है। उनके पारस्परिक सम्बन्ध को भी लक्ष्य किया है। इस सात महलों वाली पुरी के बाहर वाले शक्तिपिण्ड को भी हम यंत्र ही कहते हैं। केन्द्रस्थ सूक्ष्मातिसूक्ष्म शक्ति को भी हम यंत्र कहते हैं। वटवृक्ष के पत्रक के बाह्य क्षेत्र में जो यंत्र है, वह है उस पत्ते के कोषाणु, शिरा-उपशिरा आदि के द्वारा घटित् जीवन यात्रा निर्वाह का परिणाम। इसे हम कियदंश में इन चक्षुओं द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं। शेष को अणुवीक्षण आदि के द्वारा देख लेते हैं। यही है पत्ते के शक्ति कूट के नित्य नैमित्तिक अनुष्ठान को चलाने वाला तथ्य। सात महलों के बीच, केन्द्र में कौन है ? वह क्या यौगिक अणु सम्बन्धित यंत्र है ? नहीं, तब क्या एटम सम्बन्धित ? नहीं, वह भी नहीं। तब क्या कोश (Corpuscle) अथवा Electron सम्बन्धित ? नहीं, वह भी नहीं। तब वह कौन है ? वह है शक्ति की चरम सूक्ष्म अवस्था, जिससे अधिक सूक्ष्म अन्य कुछ भी नहीं है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने पर भी वह है शक्ति की पूर्ण समर्थावस्था। यह अवस्था समस्त अवस्थाओं का कारण तथा अधिष्ठान है। जो कुछ इस केन्द्र में है, उसी का आश्रय लेकर सब कुछ विद्यमान रहता है। उसके और भाग, खण्ड नहीं हो सकते। यदि उसका भाग करना संभव हो सके, तब उसके भीतर एक और यंत्र ही मिलेगा।

शक्ति की ऐसी केन्द्रीभूत, चरम, सूक्ष्म, परम कारण और परमाधिष्ठान रूप अवस्था को हम बिन्दु कहते हैं। इसी का आश्रय लेकर ही सभी शक्तियां क्रीड़ा-रत हैं। समस्त यंत्र ऐसे विन्दु की ही अभिव्यक्त अथवा उच्छून अवस्थाये हैं। अनुसंधित्सुओं को इस संदर्भ में कामकलाविलास (पुण्यानन्द प्रणीत तंत्रग्रन्थ) आदि ग्रंथ देखना चाहिये। बिन्दु तत्त्व ही मूलतत्त्व है। केवल तांत्रिक श्रीयंत्र आदि का ही नहीं, यह समस्त चेतन-अचेतन, सजीव-निर्जीव, स्थूल-सूक्ष्म आदि यंत्रों

का मूल है। आज यही समझ लीजिये कि बिन्दु ही शक्तिकूट अथवा यंत्र की मूल प्रकृति का कारण भी है!

'यंत्रम्' शब्द में 'यम्' वायु बीज है। वायु का अर्थ केवल मात्र हवा नहीं समझना चाहिये। यह श्रुति के अनुसार ब्रह्मा का रूप है। इस तथ्य को 'वायुर्यंथैकः' इत्यादि विभिन्न मंत्रों में प्रतिपादित किया गया है। जो सर्वव्यापक सत्ता शक्ति है, उसके सचल भाव को वायु कहते हैं। यह सचलता केवल देश–काल (Space, time continum) में ही नहीं है। विराट मन, काम, संकल्प भी वायु संज्ञा से अभिहित होते हैं। यही शक्तितन्त्र की भाषा में स्पन्द है। इस वायु के अधिकार में जड़, प्राण, मन, बुद्धि, समष्टि तथा व्यष्टि भी है। यह मूल वस्तु का गतिरूप है। तदनन्तर यंत्रम् में रँ है। अग्निबीज है। यह भी ब्रह्म का एक रूप है। जिसके द्वारा रूप अथवा आकृति प्राप्त होती है, रूपान्तर साधित होता है, वह है अग्नि। अग्नि = Informing, Conforming, transforming cosmic Factor। यह रूप केवल वाह्य रूप ही नहीं है, प्रत्युत जड़, प्राण, मन के समस्त ग्रामों में अग्नि का साक्षात्कार करना ही होगा।

इस प्रकार से तत्वद्वय की उपलब्धि होती है। प्रथम है वायु किंवा–विश्व स्पन्द (Cosmic stress)। यह है समस्त गतिरूप तथा गति की सम्भावना का कारण। इसे आधार बनाकर ही अग्नि का रूपायण कर्म होता है। अर्थात् स्पन्द रूपा वायु ने उपादान (Material) प्रस्तुत किया और उसका निमित्त हुआ अग्नि (Informing Principle)। विश्वसृष्टि अग्निसख (वायु) तथा अग्नि को लेकर ही स्थित हैं। मानस संकल्प सृष्टि भी इससे परे नहीं है। 'तपसोऽध्यजायत' अथवा 'ज्ञानमयंतपः' में तपः = आदि अग्नि।

यहाँ प्रश्न है विश्वप्राण, श्रृंखला अथवा छन्दस् के सम्बन्ध में। तब क्या एक ही उपादान तथा निमित्त से काम चलता है? जिसका रूप गठित होगा, वह रूप विषम अथवा जैसा-तैसा बनने से तो कार्य नहीं चलेगा। उसका लक्ष्य एवं समग्र के साथ सामञ्जस्य तो होना ही चाहिये। सुसंगति तथा Harmony की आवश्यकता है। यन्त्रम् में 'त्' सन्धि बना रहा है। (त् = अमृत = इष्ट = श्रेय + प्रेयः)। यन्त्रम् शब्द का विश्लेषण करने पर हमने यन्त्र का वास्तविक तथ्य पाया। इस वास्तविक तथ्य के तीनों अंगों पर दृष्टि रखना चाहिये = उपादान, आकृति तथा छन्दः। अतः जहाँ सत्ताशक्ति, जड़, प्राण अथवा यजन रूप से अभिव्यक्त सस्पन्द क्रियमाण स्थिति में विद्यमान है, वहां किसी भी श्रेय-प्रेय सिद्धि के लिये उसके उपयोगी छन्दस् के आश्रय में एक निर्दिष्ट रूपायण (Shaping and adjusting the Material or energy) ही यंत्र है। वेद ने बारम्बार छन्दस से सृष्टि का

संकेत दिया है। उसने गायत्री आदि छन्दों का भी वर्णन किया है। श्रेयः तथा प्रेयः आपेक्षिक होता है। पराकाष्ठा की अवस्था में वह अमृत है।

गायत्री प्रभृति छन्दों ने इसी अमृत का दोहन देवताओं के लिये किया था। जैसे मन्त्र के लिये छन्दस् आवश्यक है, उसी प्रकार से यंत्र के लिये भी उसकी आवश्यकता है। छन्दस् की समर्थता पर ही यन्त्र-मन्त्र की समर्थता आधारित रहती है। रेडियो आईसोटोप की केन्द्रीण शक्ति उन्मुख (Prnoe) रूप से विपुला है। हमने अणुबम को ध्वंस के कार्य में समर्थ छन्दस द्वारा निर्मित किया है। यह तो महामारी वाला छन्दस है। अमृत छन्दस् कब आविष्कृत होगा ? उसके लिये भिन्न जाति का यन्त्र प्रयोज्य है, जो यंत्र जड़यंत्र (Mechanical Contrivance) नहीं होगा। जड़ अणु में अग्नि को कालाग्नि रूद्र के रूप में आविष्कृत किया गया है। यह कार्य किया है विप्रच्छन्दा बुद्धि से प्रसृत जड़यंत्र ने। शक्तियंत्र के मन्थन से हलाहल निकला है, परन्तु हमें अग्नि को कालाग्नि रूप में न पाकर दैवी सम्पत्ति के पुरोहित 'रत्नधातम्' रूप में (Supreme giver of all values) प्राप्त करना होगा। जो महान् शक्ति भण्डार जड़ाणु में, जीवकोष और व्यावहारिक चेतना के मूल में है, केवलमात्र उसके बहिःप्रकोष्ठ का प्रयोगकुशली होना ही पर्याप्त नहीं है। अतएव अग्नि के 'जातवेदा' और मधुच्छन्दाः' (Knower of all that exists and Functions) रूप से अधिगत होना होगा।

यन्त्रम् के 'यम्' को यमन तथा control के अर्थ में भी ग्रहण किया जा सकता है। वह प्रस्तावित शक्ति क्षेत्र (Given power field) जिसके द्वारा Trained, controlled होकर एक निर्दिष्ट आकृति अथवा रूप का गठन होता है, यंत्र है। यह यजन कर्म विभिन्न उद्देश्य को लेकर विभिन्न प्रकार से हो सकता है। (canalijing, redirecting, Focussing आदि)। अतः यंत्र विविध हैं। शास्त्रों ने १४ मनु, १४ यम तथा १४ भुवन का वर्णन किया है। ७×२= १४, यह एक रहस्य संख्या है। मनु से मंत्र और यम से यंत्र सम्बद्ध है। भुवन और तंन्त्र भी एक दूसरे से ग्रथित हैं। सर्वतंत्रेश्वरी का नाम ही है भुवनेश्वरी।

अब हमें शक्ति के भण्डारागार के बहिःप्रकोष्ठ के स्थान पर अन्तःप्रकोष्ठ में प्रवेश करना होगा। बहिःप्रकोष्ठ में शक्तिविन्यास की जो आकृति (Pattern) है, वह अन्तःप्रकोष्ठ में समाप्त अथवा प्रयोजन रहित नहीं हो जाती, बल्कि वह सामर्थ्य, प्रयोग, सम्भावना और व्यंजना के दृष्टिकोणानुसार और भी समृद्ध होने लगती है। यह तथ्य १९वीं और २०वीं शती के विज्ञान की तुलनात्मक विवेचना से स्पष्ट होगा। हम अणु, जीवकोष, मन के भीतर के (Pattern) मानचित्र की उपलब्धि करते हैं। इससे और भी आभ्यन्तरिक सन्धान प्राप्त हो सकेगा ! समष्टिगत दृष्टि (Macrocosmic appreciation) भी क्रमशः व्यापक होती जा रही

है। स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम पर्यन्त अथवा और भी आगे, इस प्रकार से क्या अन्वेषण की कोई सीमा है ? यदि सीमा मान भी लें तब 'क' नामक वस्तुनिरूपक शक्तिकूट (Determiniug stress system) की सबसे मूलीभूत (Basic) अवस्था अथवा संस्था है, उसका हृत् (core) अथवा नाभि ! उसकी हृत् का आश्रय लेकर 'क' सत्ताशक्ति की आकृति को उसकी हृल्लेखा (Basic causal pattern) कहा जाता है। यही है 'क' का मौलिक यन्त्ररूप ।

इसकी अवस्थिति के कारण ही 'क' भी बीज अथवा संभावना के रूप में अवस्थित रह सकता है। इसके अभाव में तो 'क' भी नहीं है। इस हृल्लेखा की तुलना में 'क' के सभी Pattern भी बाह्य ही हैं। मूल हृल्लेखा ही उसका स्वाभाविक रूप अथवा यंत्र है। मंत्र की स्थिति के ही समान यहाँ भी मूल आकृति (Pattern) क्रियाभिव्यक्ति के विभिन्न स्तरों में आकर आवृत एवं संकीर्ण (Velled and Confused) हो गयी है। विभिन्न आवरणों और विक्षेप समूह का अपोहन करते हुये शुद्ध सम्पूर्ण "रूप तन्मात्र" की प्राप्ति हो सकेगी। शब्द तन्मात्र अथवा मंत्र की ही भाँति रूप तन्मात्र (यंत्र) का स्ववस्तु के साथ 'तद्भावे तद्भावः तद्भावे तद्भावः' का सम्बन्ध सिद्ध है।

शक्ति अथवा सामर्थ्य के निरतिशय केन्द्रीण घनीभाव को बिन्दु संज्ञा प्रदान करने पर बिन्दु की ही सविशेष सृष्टि की ओर उन्मुख कारण यंत्र रूपा प्राथमिक अभिव्यक्त अवस्था को हृल्लेखा कहते हैं। (कारण यंत्र रूप — Causal Pattern)। बिन्दु निखिल सृष्टि का बीज (Cosmic Causal Potency) है। अब क, ख अथवा ग की सृष्टि होने के लिये मूल अवस्था में ही एक विशेष-विशेष आकृति (Pattern) की प्राप्ति उन्हें आवश्यक प्रतीत होती है। मूल में ये 'विशेष तत्व' वर्ण (Element) और कला (Aspect) के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। इसके अनन्तर संख्या और परिणाम अवस्थित है जो काल और देश की विशेष संस्था के रूप में अभिव्यक्त होता है। हृल्लेखा अपने आप में संख्या, परिणाम आदि की सम्भावना ही है। अभी इस स्थिति में (उसमें) संख्या-परिणाम आदि व्याकृत (Evolved) नहीं हो सके हैं। अतः विज्ञान जिसे एटोमिक नम्बर, क्रोमोजोम नम्बर आदि कहता है, वह सूक्ष्म स्थिति में भी जीवकोष तथा जड़ की हृल्लेखा कदापि नहीं है।

हृल्लेखा देशकाल से अनवच्छिन्न है। देश = Extentioon। इसे Physical Space नहीं समझ लेना चाहिये। जब हृत्, देश तथा काल में अवतीर्ण होता है, तब वह हृद्येश अथवा हृदय कहलाता है।

इस प्रसंग में प्लेटो और ह्वाईटहेड की विचारधारा तुलनीय है। सूक्ष्म और स्थूल के अवतरण में 'क' अथवा 'ख' की हृल्लेखा ने विचित्र आकार की परम्परा का परिग्रह किया है। ये शुद्ध अथवा सम्पूर्ण यंत्र नहीं हैं, ये=क अथवा ख। इनमें पारस्परिक संघर्ष (Interference) अभिभव (Encroachment) के कारण स्वाभाविक रूप का व्यत्यय और स्वाभाविक सामर्थ्य का संकोच हुआ है। जपसूत्र में भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यं रूपी सप्तलोक अथवा Plane विशेषतः व्याख्यात हो रहे हैं। इन्हें मुख्यतः Seven Planes and Orders of Experience अनुभव के सप्तस्तर कहा जाता है। यहीं जपसूत्रोक्त सप्तख्याति है। प्रत्येक की पुनः प्रत्यक (Positive) और पराक् (Negative) अवस्था है। इस प्रकार ७ × २ = १४ संख्यक स्तर हो जाता है। 'इदं' रूप से जो आकृतियां, रूप तथा यंत्रादि गोचरीभूत हो रहे हैं, उनका शोधन तथा सम्पूरण करने पर ही सत्य की प्राप्ति हो जाती है। वहां तत्व रूप में as it is in itself, तथा धारा रूप में (as a Process) उसे प्राप्त करना ही होगा। इस दृष्टिभंगी द्वारा ही 'सत्यं च ऋतं च' की सूचना मिलती है। विश्व का विचित्र उपकरण, apparatus तो मिला, परन्तु मूल क्या है?

शब्द के आयाम से हृल्लेखा की अनुकृति = मायाबीज, ह्रीं। ह कार = शक्ति की व्योमाकार विपुल-नादावस्था। र = जिस शक्ति से यह शक्तिव्योम (Power Continuum) मथित तथा रूपायित होता है। ई = मन्थनदण्ड = जिस axis धुरी का आश्रयण कर मन्थन और रूपायण चलता है। अनुस्वार, अर्थात ँ = नाद एवं विन्दु, जिनकी अध्यक्षता में इन दोनों की काष्ठाभिमुखीन क्रिया चल रही है। अर्थात् एक ओर Continuum है और दूसरी ओर Point (Dynamic), इन दोनों की रक्षा करते हुए समस्त व्यापार चल रहे हैं। जैसे इलेक्ट्रान के लिये रेणुरूप, आलोक के उर्मिरूप। प्राण और मन का व्यापार भी इसी प्रकार का है। अतः ह्रीं प्रभृति के बीजों के शक्तिक्षेत्र में एक फारमूला कार्यरत है। फारमूला में ही यंत्र का निरूपण सन्निहित रहता है। पूर्वोक्त विश्लेषण को प्राण प्रयत्न के मौलिक रूप में भी प्रदर्शित किया जायेगा।

अन्त में शारीरयंत्र का परीक्षण करो। शरीर विज्ञान (एनेटोमी और फिशियोलोजी) अणुवीक्षणादि उपकरणो द्वारा जो कुछ प्रदर्शित करता है, क्या वहीं अन्त है? उसके द्वारा प्राण और मन की व्याख्या तो दूर की बाते हैं, इस स्थूल शारीरयंत्र की भी पूर्ण व्याख्या नही हो सकती। अतः उनसे भी सूक्ष्म यंत्र खोजना होगा। प्रश्न है कि वह यंत्र किस उपादान से निर्मित होना चाहिए? तंत्रों ने जिसे सुषुम्ना, षट्चक्र कहा है वे कहां हैं? जिसे योगीगण सूक्ष्मदेह, निर्माणकाय, दिव्यदेह कहते हैं, वे क्या हैं? नित्यमुक्त सनत्कुमार प्रभृति की देह कैसी है? जरामृत्यु का क्षेत्र कहां तक

है ? सब के मूल में तो स्पन्द है ही। फिर भी स्पन्द के ऋतम् (रिद्म) के किस ग्राम में उन्नीत होने पर उसका छन्दस् किस **Antropy** अथवा **Cosmic Running down** के उर्ध्व में अपनी रक्षा करने में समर्थ हो जाता है, अजर-अमर बना देता है ? यंत्र तथा उसका छन्दस् कितने पाद और मात्रा द्वारा 'सत्यं च ऋतं च' की पराकाष्ठा में पहुंचेगा ? ये आवश्यक प्रश्न हैं। अन्नमय आदि कोषों के वर्गीकरण द्वारा जो यंत्र विभाग है, उसके मूल में क्या है ? जपादि साधनों के क्षेत्र में इन प्रश्नों का समाधान होना आवश्यक है।

जप—जप के सम्बन्ध में पूर्वकाल में प्रकाशित लेख भी भूमिका में संलग्न किया जा रहा है। जप ने 'जपात् सिद्धि' की तीन बार घोषणा करके जप कार्य को निसंदिग्ध उपाय बतलाया है। सन्त महाजन भी यही कहते हैं—नाम लो, नाम से सब होगा। नाम ही परम संबल है। नाम के अतिरिक्त गति नहीं है। नाम लेना ही भजन है। और भजन ही यथार्थ साधन है। 'नाम' कहने पर यह प्रश्न उत्थित होता है कि किसका नाम। कैसा नाम ? कैसे नाम जप करना होगा ? जो नाम इष्ट-नाम अथवा मन्त्र है उसे लेना होगा। नामदाता और नाम दीक्षा की एक प्रणाली होना आवश्यक है। सर्वत्र नामदाता को आचार्य गुरु, इष्टदेव कहा जाता है। नाम-दान ही दीक्षा है। दीक्षा के साथ अथवा पश्चात् काल में आवश्यक भजन साधनादि का नाम शिक्षा है। दीक्षा में शिष्य को एकनिष्ठ होना आवश्यक है। इस क्षेत्र में अरिछन्द-मित्रच्छन्द का विचार प्रयोजनीय है। अतएव उपदेश की उपादेयता तथा उपयोगिता है।

सब ने प्राय: यह सुन रक्खा है। जिन्हें मूलत: संशय है, उनके साथ बातें करने, तर्क वितण्डा से कोई लाभ नहीं होगा। यह स्मरण रखना होगा कि समझना बूझना नि:शेष करने के लिये (वाह्यत: समझना-बूझना) तत्व एवं तथ्य के क्षेत्रों में परीक्षण करना होगा। यह परीक्षण होगा वैज्ञानिक गवेषणा के तौर पर। थ्योरी तथा एक्सपेरिमेन्ट प्रयोज्य है। तत्व तथा तथ्य के मध्य संधि प्रयोज्य है। ये दोनों परस्परत: संवादी हों, विसंवादी न हों। यदि सत्य, यथार्थ ज्ञात 'प्रमा' है उस स्थिति में सत्यानुसन्धान ही प्रमाण है।

जप एक क्रिया है। कायिक (अजपा), वाचिक, मानसिक, विमिश्रादि इसके विविध रूप हैं। इससे सिद्धि मिलती है। सत्यानुसंधान पर ही विश्वास किंवा अविश्वास होता है। प्रमाण की ही व्याप्ति है तत्व (Principle) तथा तथ्य (Fact)। कर्म करने से अंगार भी हीरक में परिवर्तित हो जाता है। मात्र सुनने से विश्वास नहीं होता। प्रमाण प्रयोज्य है। तत्व क्षेत्र में प्रविष्ट होने से ज्ञात होता है कि उभय की (अंगार तथा हीरक की) मूल वस्तु तथा उपादान एक है, मूल वस्तु के दाने (कण)

जिस क्रम से अंगार में सजाये गये हैं, उस क्रम से हीरक में नहीं सजाये गये हैं। जब सजाने की रीति अंगार के अनुरूप न होकर हीरक के कण संयोजनानुरूप कर दी जाती है, तब अंगार भी हीरक हो जाता है। आजकल पदार्थ विज्ञान और अधिक अग्रसर हो चुका है। समस्त पदार्थो की मूल वस्तु है Energy (शक्ति), नाद (Continuum) तथा विन्दु (quantum)। शक्ति की विभिन्न अवस्थिति-परिस्थिति (संख्या तथा व्यूहन) से ही विभिन्न पदार्थ होते हैं। तत्व के क्षेत्र में जो उपलब्धि होती है, उसका जब तक तथ्य द्वारा समीक्षण एवं परीक्षण नहीं कर लिया जाता, तब तक पूर्णांक संस्थापक (Conclusive) प्रमाण नहीं मिल सकता। विश्वास भी सुस्थिर नहीं होता। स्थिरमति तथा स्थितधी भी नहीं होता।

जो तत्व जप के मूल में ये है, वह है रहस्य। तत्व = प्रिसपल। उपनिषद् का भी अर्थ है रहस्य। समस्त क्षेत्रों में तत्व गुहानिहित अथवा निगूढ़ है। ऐसा ही पदार्थ विज्ञान क्षेत्र में भी है। उस गुहा का भेदन करने का कौशल (टेकनिक) भी हम आयत्त करते जा रहे हैं। जो जप का रहस्य (सत्यस्य मुखं) है, वह 'पिहित' भी है। 'हिरण्मय पात्रेण' अथवा प्रस्तरस्तूपेन कैसे ढ़का है, पिहित है; यह नहीं समझ पा रहा हूँ। इसे 'गुह्य' 'गुह्यादपि गुह्य' 'राजगुह्य' इत्यादि रूप में रहस्यावृत ही रक्खा गया है। इसका हेतु पहले भी था, और अब भी है। हां, यह अवश्य है कि तब के ब्रह्मवर्चस् युक्त हिरण्यरेताओं (उर्ध्वरेताओं) के युग में हिरण्मय पात्र जुट जाता था। यह रहस्य रूप होने पर भी आधुनिक वैज्ञानिक बर्वरता के युग में अज्ञातव्य, अनधिगम्य नहीं है। अनुबन्ध चतुर्धा है, यथा—विषय, सम्बन्ध, अधिकार, प्रयोजन। अनुबन्ध का विचार करने के उपरान्त ही जपादि के रहस्य के अनुसन्धान में प्रवृत्त होना चाहिये। अन्यथा श्रेयः नहीं है। चरितार्थता भी नहीं है।

जैसे वर्त्तमान युग में हमें आणविक शक्ति भंडारागार की कुंजी मिल गयी है, तथापि इससे श्रेयः नहीं मिला। मिला है संभावित 'महती विनष्टिः'। जिस विपुल शक्ति भण्डार का सन्धान जप से प्राप्त होता है, वह शक्ति और भी मौलिक' विपुला तथा व्यापक रूपा है। इसकी साधना के लिये संयत सावधानता और स्वच्छ गांभीर्य का प्रयोजन अधिक है। अतः सिद्धगण रहस्य उद्घाटन (सर्वत्र) करने के पक्ष में नहीं रहते। इसी कारण उन्होंने वैद्युताग्नि का संधान (सहस्त्राब्दियों पूर्व) पाकर भी बिजली के बल्ब के बाजार नहीं सजाये। फिर भी साधक को तत्वानुसंधित्सु तो होना ही चाहिये। अन्य लोगों के लिये (साधकेतर के लिये) भी इसका कुछ न कुछ प्रयोजन रहता ही है। जो व्यक्ति आणविक शक्ति से कार्य नहीं लेता, उसे भी एटम के सम्बन्ध में कुछ न कुछ जानकारी होनी ही चाहिये। कहीं-कहीं जानने मात्र से ही इष्टसिद्धि मिल जाती है। जानने के पश्चात् ही कुछ करने की प्रवृत्ति का जन्म होता

है। परिणामतः प्रयोजन चाहे कुछ भी क्यों न हो, यदि वह यथार्थ आवश्यकता है, तब किसी न किसी उपाय से वह प्रयोजन पूर्ण होना ही है। अब यह विचार करना है कि जप रहस्य को जानने के लिये दर्दी, मर्मी, अधिकारी, गरजमन्द कितने हैं ?

अब जप को साथ लेकर कार्यतः परीक्षण में उतरना है। यदि पहले से ही जप तत्व अथवा जप रहस्य के बारे में कुछ उपदेश प्राप्त है, तब इसके प्रति श्रद्धा **(Working belief)** एवं प्रवृत्ति का होना सामान्य बात है। यही तथ्य विज्ञान के परीक्षागार के लिये भी प्रभावी होता है। यदि प्रस्तावित परीक्षण की **Theory** अथवा युक्ति का ज्ञान है, तब तो कोई बात नहीं। कम से कम इतना विश्वास तो होना ही चाहिये कि मूल में युक्ति है। अभिज्ञ व्यक्ति उस युक्ति को जानते हैं और अन्य व्यक्ति भी सम्यक् विद्या (टेकनीक) का प्रयोग करके परीक्षा की सफलता को प्रमाणित कर देते हैं। यह है आप्त प्रमाण। जपादि साधना क्षेत्र में इसी का आश्रय लेना चाहिये। समस्त वैज्ञानिक व्यवहार का यही नियम है। व्यवहारी जन को अपनी बुद्धि से एक प्राथमिक अनुमति का प्रयोजन होता है। यह पूर्णतः विश्वास अथवा श्रद्धा की अवस्था नहीं है। यदि बुद्धि प्रयोगरत होने के पहले ही कार्य की मूलस्थ युक्ति को जान अथवा जांच लेती है, तब प्राथमिक अनुमति पत्र और भी अधिक निःसंदिग्ध हो जाता है। यह मात्र अनुमति अथवा अनुमोदन **(Permit)** ही नहीं है, यह स्वीकृति (एप्रूवल) है।

इस स्वीकृति के कारण कार्य के प्रति लगाव बढ़ता जाता है, परन्तु इतने से ही कार्य की निष्पत्ति नहीं हो जाती। युक्ति, शास्त्र, महाजन वाक्य और आत्म प्रत्यय रूपी चतुः प्रयोगों के सम्यक् अधिगत होने से पर्याप्ति का पूर्णत्व सिद्ध हो सकता है। इस पूर्णता के अभाव में श्रद्धा और विश्वास भी अधूरे रह जाते हैं। स्वबुद्धि का परमिट (अनुमति पत्र) लेकर ही इन सब क्षेत्रों में अथवा समीक्षा किंवा परीक्षा के लिये प्रस्तुत होना। युक्ति की प्राप्ति के द्वारा अनुमोदन होता है। शास्त्र और महाजन वाक्य संस्कार करते तथा समर्थन देते हैं। आत्मप्रत्यय की विद्यमानता से सर्वसंशय समूह उच्छिन्न हो जाते हैं। चाहे ये सभी 'पर' हों अथवा 'अवर' ही क्यों न हों, उनके साथ साक्षात्कार हो जाने पर ही सभी संशय विदूरित हो सकते हैं। समीह रहने तक ही समीक्षा है। जब तक परोक्ष है, तब तक परीक्षा की आवश्यकता रहेगी।

जिसे जप के लिये स्वबुद्धि का 'परमिट' नहीं मिला है, उसके लिये तत्व और तथ्य का कोई मूल्य नहीं है ? किसी की चर्चा से उसे क्या लाभ ? फिर भी उसे जप के लिये अर्जी पेश करने की इच्छा उदित हो रही है अथवा हो चुकी है,

किंवा नहीं हो रही है, यह अवश्य विवेचनीय विन्दु है। पहले शुभेच्छा तब विचारणा, पहले चाहना तदनंतर पाना। जहाँ पर अनिच्छित रूप से, बिना चाहे मिल जाता है, वहाँ यह समझना चाहिये कि वह खजाना माल मालिक के नाम से मौजूद ही था। जहाँ परमिट की आवश्यकता है, वहाँ तो परमिट को सर्वप्रथम अपने आप में ही उपलब्ध करना होगा। फिर भी अपने आप में पाकर भी उसका इन्डोर्समेन्ट, किंवा मंजूरी बाहर भी कराना पड़ेगा। क्यों? भीतर ओर बाहर तो पारस्परिक रूप से साक्षी वनाकर अपना-अपना हस्ताक्षर करते हैं। अब मान लिया कि मंजूरी भी मिल चुकी। भीतर से किसी ने आदेश दिया "काम करके देखो! पता चले क्या होता है?" बाहर से कोई बोला "करो न! फल अवश्य मिलेगा।" अब बाह्याभ्यंतर दोनों की एकतानता हो गई। अतः निश्चित करता हूँ "लग ही जाऊँ।" इतने पर भी यह प्रत्यक्षतः प्रतीत होता है कि जो इस प्रकार से भीतर-बाहर मिलाकर काम में उतरा, वह भी सहज में सिद्धि फल नहीं पाता।

"मैं इतने समय से जप रत हूँ, परन्तु क्या मिला? वह व्यक्ति जीवन पर्यन्त जपरत था, उसको भी क्या मिला? रंग तक तो फिरा नहीं, और आन्तरिक विकार दूर हुआ नहीं।" इस सन्दर्भ में प्रथम समाधान तो यह है कि जप का वास्तविक कार्य सूक्ष्म तथा संस्कार के क्षेत्र में होता है, अतः हम बुनियादी बाजार के खाते में उसकी लाभ-हानि देख ही नहीं सकते, बल्कि देखने का प्रयत्न करने पर कुछ उलटा ही देख पायेंगे। इस क्षेत्र में उतावला बनने से कुछ नहीं होगा। जप कार्य में वैसे ही गंभीर स्तर से कार्यारंभ होता है, जैसे होम्योपैथी की उच्च शक्तिकृत (हाई पोटैंसी) दवा में होता है। गंभीर स्तर में, वहाँ मन्थन-आलोड़न के कारण अनेक सूक्ष्म, मूढ़, दृढ़ तथा अशुभ संस्कार समूह शिथिल तथा हल्के होकर ऊपरी सतह में तैरने लगते हैं। इससे होम्योपैथी औषधि के समान पहले रोग के लक्षण (**Aggravation**) वृद्धि को प्राप्त करते हैं। इससे रुग्ण एवं वैद्य को धैर्य नहीं खोना चाहिये। जप रूपी जँगली वाराह के सम्मुखीन होने पर 'मूषिकवृद्धि' नहीं होती प्रत्युत् गजक्षय होता है। (वाराह को मूषक का बड़ा रूप किंवा हाथी का छोटा रूप भी कहा जाता है)। यह गज बृहत्, बलवान, अशुभ, संकीर्ण है और उदग्र होकर भयभीत करता रहता है।

वैखरी जप की क्रिया अन्नमय से प्रारम्भ होती है। जब समर्थता प्राप्त होती है, तब जप की क्रिया प्राणमय, मनोमय आदि क्रम से और भी गंभीरतर स्तर पर्यन्त उठती चली जाती है। समर्थ जप का कार्य है शरीर के स्थूल-सूक्ष्म-कारण यंत्र पर्यन्त जहाँ-जहाँ पर स्पष्ट अथवा गोपन, विषम अथवा विषच्छन्द का दौरात्म्य

है, वहाँ-वहाँ वह सुषम अथवा मधुच्छन्द लाकर सौष्ठव एवं स्वाच्छन्द्य का आरोपण कर देता है। विषमःच्छन्द = डिसहारमोनी। अथवा असुर, सूक्ष्म क्षेत्रस्था 'पाप्मा'। समर्थ जप की क्रिया से असुर ही सुर बन जाता है। जप में यन्त्रशुद्धि का तात्पर्य है 'अपहतपाप्मा' होना। 'तारा कहती हैं कि मूलमंत्र तथा मूलयंत्र तक शोधन कर देती हूँ' (मूलमंत्र यंत्रभरा शोधन करिबले तारा)। तारा तो मां का तारक ब्रह्म नाम है। उसके अतिरिक्त तारा = तार अर्थात् ॐकार! जप द्वारा 'पाप्मा' अपगत हो जाता है। अपगत का अर्थ है अलग हो जाना, 'इलिमिनेशन'। मूल में यही होता है। पापपुरुष बाहर आकर हट जाता है। सर्वान्त में विज्ञानानन्द की भूमि में "पारस पत्थर' सब कुछ को सुवर्ण सम कर देता है। 'विषोऽपि अमृतायते'। मधु-कैटम ध्वंस हुआ, किन्तु उनके मेद से बनी मेदिनी। यही है ट्रांसफारमेशन, सब्लिमेशन। "व्याप्तिदेव्यै नमोनमः"। तब चितिरूप और भ्रान्ति रूप भी परस्परतः मिलकर एक हो जाते हैं।

असलियत है जप को समर्थ अथवा वीर्यवान् बनाना। जपवीर्य में अमोघ शक्ति है। जपवीर्य कैसे बनता है? श्रुति कहती है प्रत्येक कार्य विद्या, श्रद्धा अथवा उपनिषद् के द्वारा सम्यक् वीर्यवान् बन जाता है। (छान्दोग्य १।१।१०) समस्त वैषयिक अथवा आध्यात्मिक ऋद्धि के लिये इन तीनों का प्रयोजन है। यहाँ विद्या का तात्पर्य है प्रयोग पद्धति, व्यवहार विज्ञान अथवा आर्ट। जैसे प्राक्काल में मधुविद्या, दहरविद्या और पंचाग्नि विद्या आदि थी। वर्तमान में कोई कार्य सफल रूप से करने की जो सही प्रविधि है, उसे ही उसका आर्ट कहते हैं। श्रद्धा का अर्थ है कार्य के साथ हृदय का योग। कार्य के प्रति दर्द होने का अर्थ है, उसमें वास्तविक रुचि का होती। इससे आन्तरिकता, एकान्तिकता तथा विश्वास का उदय होता है। उपनिषद् अर्थात् रहस्य एवं अन्तर्निहित तत्त्व का ज्ञान। श्रुति ने कहा है—"विद्यया श्रद्धया उपनिषदा वा वीर्यवत्तरं भवति"। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि उपनिषदा के पश्चात् 'वा' का प्रयोग है। 'वा' = विकल्प अथवा समुच्चय। अर्थात् विद्या, श्रद्धा और उपनिषद् तीनों ही चाहिये, तथापि तीनों में से कम से कम एक में वीर्य बल होना आवश्यक है। जब श्रद्धा मूल है, तब मूल बलशाली होने पर शाखायें भी सुदृढ़ होगी। एक में भी जोर रहने पर जप कर्म वीर्ययुत् होगा, अन्यथा वीर्यहीन, निर्विष, ढ़ोढा साँप जैसा। ऐसे सर्प के शिर में सात राजाओं का धन सर्पमणि नहीं रहती। 'ढ़ोढ़ा जप' तो मामूली हो जाता है। और ध्यान दो, श्रुति ने वीर्यवत्तर कहा है। वीर्यवत्तम नहीं कहा।

इसका क्या तात्पर्य है? विद्या-श्रद्धा आदि की सहायता से अनुष्ठित समस्त वीर्यवत्ता की बलयुक्त होने वाली एक क्रमोन्नत धारा अथवा अभ्युदय है। अतः

उसकी प्रवणता है एक काष्ठा, पूर्णता अथवा निःश्रेयस की ओर। इसे शंकर धारा कहते है। यह शुक्ल धारा है। विद्या, श्रद्धा, उपनिषद् के शैथिल्य, वैकल्य, क्लैव्य के कारण यह धारा विपरीतता से आच्छन्न होने लगती है। उसकी धारा उल्टी हो जाती है। अब इस उल्टे स्रोत एवं तज्जन्य जड़ के समान उच्छृखल भाव को कहते हैं धूम्र मलिन संङ्करधारा। पहले वाले में तालव्य श है। इसमें दन्त्य स है। शंकरधारा वह शाश्वत गँगाप्रवाह है जिसे भगीरथ ने तप द्वारा आदि विद्वान् कपिल के अभिषप्त धरतीतल पर अवतीर्ण कराया था। हमें सभी साधन कर्म में यही करना होगा। अंगार को ही लेकर आरंभण होता है। अंगार ही अंङ्गीरस बन जाता है। गीता ने तप के रूपत्रय का वर्णन किया है, प्रकारान्तर से वे रूपत्रय हैं श्रद्धा-विद्या-उपनिषद्। यही है गंगा—यमुना—सरस्वती की त्रिवेणी। चिरकाल से सरस्वती बालुका में जा छिपी है। हमलोग दीर्घकाल से जपादि साधन का रहस्य सन्धान भूल चुके हैं। सन्धान तो अवश्य चाहिये। प्रचलित, अनुसृत विद्या तो खण्डित, कुंठित एवं कृपण है। क्या सिद्धविद्या को मौलिक बातों से आयत्त किया जा सकेगा? और श्रद्धा? प्रायः सभी अश्रद्धधानाः हो गये हैं। बुद्धि की परमिट अनेक क्षेत्रों में नकली हो चली है। सत्य का कारोबार बन्द प्राय: है। अनन्त: उतराई-चढ़ाई के पथ में अनन्त के यात्री का क्या होगा? किंचित् चलने के अनन्तर कृपा का सन्धान प्राप्त होता है। तब पंगु भी गिरिलंघन कर लेता है। प्रथमत: प्रयास तब प्रसाद। पहले 'रेस' तब 'ग्रेस'।

श्रद्धा मूलभूता है। 'निश्वास से कृष्ण मिलते हैं'। परन्तु तामसी श्रद्धा से तो कुछ भी नहीं मिलता। श्रद्धा-वीर्य रहना चाहिये। तभी विद्या और उपनिषद् की कृपा होगी। दर्दी, मर्मी तथा गरजी साधक के लिये समस्त द्वार उन्मुक्त हैं। जिसे गरज है, वह गरजी है। वह व्यस्तवागीश अथवा हठी नहीं होता। हृदय में व्यथा लिये फिरने वाला दरदी है। जिसके मर्म में कुछ झंकृत हो उठा, वह मर्मी है। उसके लिये सभी कपाट उन्मुक्त हैं। जो दो के बीच एकतानता ला देती है, यूनिसन लाती है, वह है श्रद्धा। जब नाम तथा नाम प्रदाता की शक्ति के साथ साधक की शक्ति की समच्छन्दता हो जाती है, तब नाम एवं गुरु में श्रद्धा का आविर्भाव होता है। श्रद्धा की थोड़ी सी मात्रा लिये बिना साधन-भजन प्रारंभ ही नहीं हो सकता। श्रद्धावीर्यता तो अनेक साधनों का धन है। श्रद्धा के आते ही समाधान तो सामने है। इसी विश्वास से इस व्याकुलता की कथा को श्रीमुख से सुना है। क्या यह सुनने पर "श्रीकर्ण" (कानों को) श्रद्धा हुई?

सभी व्यवहारों में इन्हीं लीनवज्र के मिलने पर सिद्धि सम्प्राप्त होती है। इसे हम स्वत:सिद्ध रूप से स्वीकार कर लेते हैं। समस्त सिद्धि के लिये रहस्यविद्,

प्रयोगकुशल, श्रद्धालु साधक चाहिये। आश्चर्य तो यह है कि जपादि साधन काल में हमे यह सब स्मरण ही नहीं रह जाता। तब हम नितान्त निरीह यंत्री के हाथ के यंत्र बनने का स्वांग रचकर कृपा की दुहाई देनें और निर्भर शरणागति की बात सुनाने लगते हैं। यह तो "कार्पण्य दोषोपहतस्वभावः" ही है। कृपा किसे कहते हैं? क्या जहाँ-तहाँ पतन तथा मूर्च्छा का भाव रखते मात्र से शरणागति हो जायेगी?

यद्यपि कृपा अहैतुक, शाश्वत और सर्वत्रग है, तथापि उसका सजीव संयोग अनेक साध्यसाधन द्वारा ही संघटित होता है। शरणागति तो भगवान के चरणों में मेरा श्रेष्ठ और चरम अर्घ्यदान है। जो अकैतव कातर और कृपा का भिखारी है, उसी के सम्मुख कृपाघनमूर्त्ति प्रकट होते हैं। सब कुछ छोड़े बिना 'सर्वधर्मान् परि-त्यज्य' 'तदेकशरण' नहीं हुआ जाता। अतः आत्मनिवेदन ही साध्यशिरोमणि है। अतएव विद्या-वीर्य-उपनिषद् के ही साथ-साथ पूरे जोश के साथ शरणागति और कृपाभिखारी का भाव आना चाहिये। अन्यथा श्रद्धा का मूल ही सड़ जायेगा। जपादि भी करूँगा और रोज जड़ खोद कर देखूंगा कि कितनी बढ़ी! मानों मूल हिसाब खाता रखने का भार उसी पर है जो स्वयं शाखापल्लवचारी है! यह त्रुटिपूर्ण है। मूल की चिन्ता वे करें जो मूल के मालिक हैं। "मनुष्य तुम नौका का पतवार चलाता जा। तेरे माँझी तो बैठे हुये हैं। तुझे क्या चिन्ता?"

जपरहस्य—अब तक हमने शब्द एवं रूप अथवा मंत्रशक्ति और यंत्रशक्ति के सम्बन्ध में आलोचना किया है। अब शब्द अथवा मंत्राश्रय से जो जपःक्रिया अनुसृत होती है उसकी चर्चा की जा रही है। जप कर्म का रहस्य प्रकाशित करने के लिये ही इस ग्रंथ की अवतारणा की जा रही है। अतः एक ढ़ाचा भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

जप का स्वरूप विश्लेषित करने पर यह विदित होता है कि जप तो ध्वनि (अव्यक्त ध्वनि तथा व्यक्त ध्वनि), संख्या और भाव (अर्थ) की त्रिपुटी है। ध्वनि का निर्वाहक है वाक्। संख्या का निर्वाहक है प्राण और भाव का निर्वाहक मन को माना गया है। श्रुति की सांकेतिक भाषा में वाक् = अग्नि, प्राण = आदित्य, मन—चन्द्रमा है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक भी विविध हैं यथा स्वानुगत, स्वगत तथा समष्टिगत्। मान ले कि 'गुरु' मंत्र है। ग + उ + र + उ = ४ अक्षर हैं। समर्थ जप में प्रत्येक अक्षर की स्पन्दन संख्या और स्पन्दक रीति (छन्दः) एक निर्दिष्ट आकृति के समान होना चाहिये। यही है 'गुरु' मंत्र की स्वानुगत संख्या (Elements of Rhythm)। इसके अनन्तर अक्षर की संख्या (संख्या + रीति) निश्चित रखने से ही नहीं होगा। उनका मिलन (Compounding) भी होना चाहिये, ताकि चारो अक्षरों का स्पन्दन अन्तरित एवं व्यवहित न हो। व्यवधान में विवादी स्पन्दों का

प्रवेश निषिद्ध रहता है। अत, ग+उ+र+उ के अतिरिक्त भी 'गुरु' नाम की एक संख्या किंवा स्वगत रीति है।

अब अन्य कल्पना करें कि मैं जप करता हूँ। १० बार १०८ बार। इससे समष्टिगत स्पन्दन की संख्या तथा रीति प्रस्तुत होती है। यदि वह एक आकृति और आयतन में (In type and Magnitude) एक निर्दिष्ट काष्ठा में उपनीत न हों, उस स्थिति में समर्थ जपकर्म नहीं हो सकता। कल्पना करो कि मैं लाल रंग देखना चाहता हूँ। आलोक तरंगों का आयतन (Wavelength) और संख्या जब एक निश्चित सीमा में हो तभी लाल रंग देख सकूंगा। शब्द तथा स्वर के साथ भी यही नियम प्रभावी रहता है। आकृति तथा परिमाण में न्यूनाधिक्य होने पर उसका अनुभव नहीं होता। यदि स्पन्दन परस्परतः भग्नांश में हों, तब भी सम्यक् अनुभव नहीं होगा। अतः एक पूर्ण कम्पोजिट रिद्म अथवा हारमोनी की सृष्टि होनी ही चाहिये। तभी उनका समर्थ संघात प्रकट हो सकता है। स्वानुगत तथा स्वागत के भग्नांश में, समाहार की स्थिति में, संघात का समुच्चय किंवा संग्रह (कम्युलेटिव इफेक्ट) नहीं हो सकता। जड़ विद्या का कथन है कि यदि एक मृदु कम्पन (आसिलेशन) एक ही ताल में क्रमगत रूप से प्रयुक्त होता रहे, तब वह विशाल पर्वत को भी एक दिन उखाड़ फेकेगा! मंत्रशक्ति अमोघा है। समर्थ समञ्जस ही अमोघत्व है। स्पन्दन भी त्रिविध हैं, यथा दीर्घ, ह्रस्व, मध्य (लांग, शार्ट, मीडियम)। इस प्रसंग में अनुदात्त, त्वरित, उदात्त, वाचिक, उपांशु, मानस प्रभृति भेद आलोच्य है। दीर्घायित स्पन्दन अर्थात् तरंग में यह उच्चता कम होने लगती है। ह्रस्व अधिक उच्चता युक्त है। मूल ग्रंथ में तल-लम्ब तथा वेध रूपी पर्वत्रय पर जपादि का विश्लेषण (एनेलिसिस) तथा उसकी द्योतना (इन्टरप्रिटेशन) सविशेष रूप से अंकित है। पाद (मैग्निट्यूड), मात्रा (मेजर्स), कला (मोमेन्ट, एसपेक्ट, पार्शियल), तथा काष्ठा (लिमिट, मर्जर, मोटिव) रूपी चतुःसूत्री का अवलम्बन लेने पर सर्वविध विश्लेषण प्राप्त हो जाता है। जैसे संख्या विषयक विश्लेषण होगा, उसी प्रकार ध्वनि और भाव से भी तदनुरूप विश्लेषण प्राप्त किया जा सकता है। यदि जप वैखरी प्रभृति चार प्रकार से हो तब उसका गणित यह होगा :—

$$३ \times ३ \times ३ \mid \therefore ४ \times ३ \times ३ \times ३ = १०८$$

पश्यन्ति में जप भावरूप है, पराजप ज्ञानरूप है। अव्यक्त क्रियारूप है। अतः स्पन्दनियामक नियम यहाँ पर भी निरवकाश नहीं है।

पूर्वोक्त स्पन्दन समताल में होना चाहिये। समताल द्वारा एक अनुरणन (रेसोनेन्स) होने लगता है। जपक्रिया का साफल्य प्रधानतः इसी रेसोनेन्स इफेक्ट पर आधारित रहता है। जैसे मैं वाद्य का वादन कर रहा हूँ। मेरी उँगलियों के द्वारा

तार की झंकार किस प्रकार के रेसोनेन्स इफेक्ट अथवा अनुगमन से किस मात्रा में समृद्ध (इनरिच्ड) हो रही है, इसे सहजता से समझा जा सकता है। यदि सितार के तार ठीक से मिले हैं, उस स्थिति में उक्त प्रभाव का सौष्ठव तथा पूर्णत्व प्राप्त हो सकेगा, अन्यथा व्यतिक्रम होगा। इसी प्रकार यदि अन्यान्य यन्त्र भी सम-अनुपात में मिलते हैं, तब सितार की झंकार उन सब में अनुरूप अनुरणन (रेसोनेन्स इफेक्ट) का उद्रेक करायेगी। चाहे किसी वाद्य को क्यों न बजायें, जहाँ भी अनुरूपता के बदले विरूपता होती है, वहाँ वाद्य के स्पन्दन (वाईब्रेशन) समञ्जसता नियामक अथवा हारमोनी नियामक छन्दों (इक्वेशन्स) में नहीं आ सकेंगे। फलतः उनका संघात (काम्बिनेशन), समञ्जस (हारमोनिक) न होकर अननुरूप, असमंजस और विषम (अन-हारमोनिक) होगा। विरूपता के कारण अनुरणन (रेसोसेन्स इफेक्ट) के स्थान पर तरंगे (वेव्स) भी वक्रीभाव-विषमता (रिफ्रैक्शन, डिफ्रैक्शन) इत्यादि में विभक्त होकर विविध जटिल विरोध (इन्टरफरेन्स इफेक्ट) की सृष्टि करेंगीं। परिणाम होगा पारस्परिक विरोध, उपमर्द, कोलाहल। मूल स्पन्दन का प्रतिस्पन्दन विवादी और विसंवादी होगा।

तरंगों के संवादी अथवा विसंवादी होने के सम्बन्ध में कतिपय नियम प्रभावी रहते हैं। गणित और शब्द विज्ञान ने इनका विश्लेष, विस्तार तथा परीक्षण किया है। गीत तथा वाद्य के अनुरूप जप करते समय भी उन नियमों को मानकर ही समञ्जसता (हारमोनी) और असमञ्जसता (डिसहारमोनी अथवा डिसकोर्ड) का शासन चलता है। जप के ज्ञान रूप और भाव रूप के साथ-साथ इन दोनों के आधार एवं उद्‌बोधक के रूप में कर्म अथवा क्रिया का अस्तित्व है और वह क्रिया स्पन्दनात्मिका है। जप के भावरूप तथा ज्ञानरूप में क्रिया का स्पन्दनात्मक रूप बिलीन अथवा अस्त हो जाता है। फिर भी वह स्पन्दरूप होने के कारण जपकर्म ही है। यह जपातीत किंवा अजप (अजपा नहीं) अवस्था नहीं है।

जप क्रिया होती कैसे है ? जप प्राणभूमि से प्राण के ऋतःच्छन्द में उत्थित होकर स्थूलतः परिलक्षित होने लगता है, फिर भी उसके स्पन्दनों को पूर्वोक्त अनुरूपता अथवा विरूपता में से किसी एक में जाना ही होगा। सूक्ष्म में भी आनुरूप एवं वैरूप्य का नियम प्रभावी रहता है। यह अवश्य है कि सूक्ष्म के ऋत की व्याप्ति (फील्ड) भी अधिक है। उसके वीर्य में 'शक्तिमान' भी अधिक है। स्थूल का कैलकुलेशन संकीर्ण सामग्री (रिस्टिक्टेड डाटा) को लेकर कार्यरत रहता है, अतः उसे पूर्णतः सूक्ष्म के क्षेत्र में चला सकना कठिन है। इतने पर भी यह कह सकते हैं कि[1] जपकारी का यन्त्र (अन्नमय अदिकोष) पूर्ण श्रद्धा से मिलित है,

(१) प्रथम में अनुरणन पूर्ण होने के कारण जपः क्रिया साधित होगी।

अनुरूप है,[1] अथवा पूर्णतः श्रद्धारहित विरूप है,[2] किंवा आंशिक भाव में ही अनुरूप है।

जड़ तथा प्राणराज्य के मौलिक परिवर्तन का यही क्रम है। यद्यपि एटामिक नम्बर, मालीक्यूलर डिस्ट्रिब्यूशन, क्रोमोजोम तथा जीन का परिवर्तन बाह्य कारणों से होता, तथापि उसका भी यही क्रम है। जो परिवर्तन आन्तर कारणों से होते हैं, वे भी इसी प्रकार से परिवर्त्तित होते हैं। यंत्र में जिस अनुपात में अनुरूपता होती है, उसी अनुपात में उसमें अनुरणन की संभावना रहती है। जप में ही नहीं, प्रत्युत् सभी अभ्यासों में यन्त्र की एक उपादानगत योग्यता तथा मौलिक उन्मुखता की सृष्टि होती रहती है। अर्थात् यंत्र को बजाते-बजाते उसमें एक स्वाभाविक सुरप्रवणता का प्रत्यक्ष होने लगता है। तब व्यक्ति अंगुलिस्पर्श मात्र से स्वर तथा ताल में बजा सकता है। वह बेसुरा और बेताला नहीं होना चाहता।

ऐसे समर्थ जप द्वारा अन्नमय कोष की तथा अन्य कोषों की विरूपता उच्छिन्न होती है और अनुरूपता परिलक्षित होती है। स्थूल देह में अनुलोम तथा अनुकूल पोषण (हारमोनिक सीक्रेशन्स), सूक्ष्म में कुण्डलिनी जागरण चक्रोन्मेष और कारण में आणवमल शुद्धि को इसी क्रिया का फल कहा गया है। जप का अभ्यारोह, लक्ष्याभिमुखी आरोहण अनायास ही नहीं होता। इसका कारण यह है कि चतुर्धा बाधायें विकास पथ को अवरूद्ध कर देती हैं। इन्हीं बाधाओं के कारण चरितार्थता असहज हो जाती है। वे बाधायें इस प्रकार से वर्णित हैं :—

(क) काल = उपस्थिति, निमित्त = प्रतिरोध, वेद के अनुसार—अहि
(ख) देश = परिस्थिति; निमित्त = अवरोध, ,, —पणि

---

(१) द्वितीय में विषमता, इन्टरफरेन्स इफेक्ट प्रबल रहेगा। फलतः स्तब्धव्यूह किंवा व्यामोह होगा। इस स्थिति में जप के माध्यम से जिन सब प्रतिस्पन्दनों (रीऐक्शन्स) की सृष्टि संस्थान (सिस्टम) तथा परिवेश (इनवायरनमेन्ट) में होगी, वे सब अत्यन्त विषम तथा विरुद्ध (Overpoweringly unharmonious and unhelpful) होते हैं। अतएव स्तब्धव्यूह (मूढ़रूप—Inert Staticity) और व्यामोह (Dissipating Excitability) परिलक्षित होता है।

(२) तृतीय में जप साधन की साधारण अनुकूलावस्था का भान होता है। आंशिक अनुरूपता का आश्रयण करते हुए जपक्रिया एक शलाका की तरह साधन यन्त्र तथा शक्ति क्षेत्र (Functional फील्ड) में प्रविष्ट होती है। वह क्रमशः यन्त्र के सूक्ष्मावयवों के विन्यास को एवं क्रिया छन्दः को तदनुरूप भाव से परिवर्त्तित कर देती है।

(ग) वस्तु = अवस्थिति; निमित्त = निरोध, वेद के अनुसार-वृत्त
(घ) छन्द = संस्थिति, संस्थान; निमित्त = विरोध, ,, -असुर =
(अ + सुर = बेसुर)

इसमें क और ख = Resistance due to space. Time Interval.
ग = Due to Ingress or Intrusion.
घ = Due to Interference.

किसी भी वाह्य अथवा आन्तर यंत्र के द्वारा साधनोद्यत होने पर साफल्य के लिये इन चतुर्धा प्रतिकूलताओं को अनुकूल करना ही होगा। जैसे दूरवीक्षण के सहाय्य से आकाशस्थ किसी ज्योतिश्चक्र को देखा। उसके लिये इनकी आवश्यकता है :—

(क) रात्रिकाल में एक निर्दिष्ट काल होना चाहिये।

(ख) Objective conditions suitable, परिस्थितियां आनुकूल्ययुक्त हों, जैसे मेघयुक्त आकाश आदि।

(ग) मंत्र अनुकूल दशा में हों (इन ए फिट कन्डीशन)।

(घ) मंत्र को सही दिशा (Correct orientation) में सन्निविष्ट (एडजस्ट) करना चाहिये।

अतएव इन सब का समाहार न होने पर प्रवृत्ति सफल नहीं हो सकती। मन का व्यापार भी ऐसा ही है। इस क्षेत्र का विवरण निम्नांकित है :—

(क) **काल सापेक्षता** है। अनुकूल वासना का उदय, प्रतिकूल का क्षय। शुभवासना का संस्थापन।

(ख) **दिक् सापेक्षता** है। मात्र शुभ वासना से ही कार्य सम्पन्न नहीं होगा। वाह्य परिस्थिति भी अनुकूल हो। यह है शुभ योग। जैसे जप करने को उद्यत होते हैं परन्तु बाहर अनेक विपर्यय हैं (इसमें स्थूलदेह भी वाह्य ही है)। अतः जप में विघ्न होगा।

(ग) **यंत्र सापेक्षता**, उपकरण सापेक्षता। शुभ वासना, शुभ योग तो आ गया, परन्तु आदि चित्त घृतिगृहीत अथवा रतिगृहीत होकर (अर्थात् धैर्यवीर्य समन्वित होकर, मतिगृहीत कार्य करने में अभ्यस्त नहीं है, तब साधन भी समर्थ एवं सफल नहीं होता।

(घ) **संधि सापेक्षता**, यद्यपि शुभवासना, शुभयोग तथा शुभग्रह रूपी अनुकूलता है जिसका (ग) में वर्णन किया गया है, तथापि अभीष्ट वस्तु के साथ जैसी संधि (करस्पान्डेन्स किंवा एकार्डेन्स) होनी चाहिए, वैसी नहीं है; तब भी साफल्य दूर ही रह जाता है। इष्ट

के साथ शुभ सन्धि (श्रद्धा) भी प्रयोज्य है। यह शुभ सन्धि एक बार में नहीं होती। इनकी विभिन्न भूमि तथा कल्प हैं।

अतः शुभवासना और शुभग्रह के आधार पर शुभाग्रह, शुभ सन्धि अथवा श्रद्धा (एडजस्टेड, एट्यून्ड) की अवस्था प्राप्त होते ही जप भी समर्थ हो जाता है। यह सत्य है कि भगवान की अनुग्रह शक्ति सूर्य रश्मि की तरह सर्वत्र एक समान विक्षिप्त होती है, फिर भी साधारणतः उस जीव का यंत्र 'परांचि' बहिर्मुखी होने के कारण (स्कैटरिंग, डिसिपेटिंग होने के कारण) रश्मिसमूह डाइवर जेन्ट, विक्षिप्त तथा अनभिव्यक्त से रह जाते हैं। जीव के अन्तः में आग्रह की जागृति होते ही उसका यन्त्र भी नत्तोदर दर्पण (कानकेव मिरर) की तरह बहिर्मुखता (पराञ्चि) को प्रत्यञ्चि (कनवरजेन्ट, संहत्-केन्द्रग) करने में समर्थ हो जाता है। कनवरजेन्ट होने पर उसकी धनीभूतता केन्द्र (Focus) में होती है। इस स्थिति में गुरुशक्ति भी निष्पन्न हो जाती है। अब उस केन्द्र के साथ श्रद्धा के सहयोग द्वारा शुभसन्धि (राईट एकार्डेन्स) करने का मार्ग आयत्त हो जाता है।

शुभ वासना, शुभयोग, शुभाग्रह तथा शुभसन्धि के द्वारा काल, देश, वस्तु एवं छन्दोगत बाधायें विदूरित होने लगती हैं। यद्यपि साधन की पूर्वभूमि में इन बाधाओं का पराभव हो जाता है, तथापि साधना की मध्य एवं उत्तर भूमियों में यही बाधायें रूपान्तरित होकर पुनः मार्गावरोध करने लगती हैं। मध्य एवं उत्तर भूमि क्या है, वहाँ बाधाओं का आधार क्या है, उन्हें किस कौशल के द्वारा पराभूत किया जाता है, यह सब ज्ञान आवश्यक है। योग-भक्ति तथा ज्ञान रूपी त्रिविध साधनों में भी इन बाधाओं की गतिविधि का स्वरूप विचारणीय है। श्री श्री चण्डी के तीनों प्रसंगों को साधन की पूर्व, मध्य तथा उत्तर भूमि के रूप में उपलब्ध करना ही होगा। मुख्यतः इस भूमित्रय की चेतना के त्रिस्तर हैं 'अव', 'सम' तथा 'अति'। (Sub, normal, super)। इन्हे त्रिस्तर की ही तरह त्रितल भी कह सकते हैं।

प्रथम तल में योगनिद्रा से उत्थित विशुद्ध सत्व ही है पराभव शक्ति (आत्मकृपा)। द्वितीय तल में अभिव्यक्त निखिल दैवी सम्पदा संग्रहीत होकर ही पराभव शक्ति, गुरुकृपा, दैवी सम्पदा = बहिर्विश्व में कास्मिक किरणों की भाँति अन्तर्बहि, सर्वत्र व्याप्त विक्षिप्ता अनुग्रह शक्ति। इन सबका केन्द्रीयभाव, फोकसिंग = गुरुशक्ति। साधक की आग्रहशक्ति (आत्मकृपा) के माध्यम से विपुल, विश्वजनीन दैवी सम्पदा को Canalize (धारारूप) करना पड़ता है। यही है श्रुति की भाषा में "दुहाना अमृतस्य धाराम्"। इसी के उद्देश्य से मृत्युरूपी तमास से उत्तरण (पार उतरने के लिये) हेतु देवताओं ने गायत्री का वरण किया है। तृतीय

तल में (चेतना के उर्ध्वतन में) क्रियमाणा दैवीसम्पत्ति (ज्ञानैश्वर्य आदि) की अद्वैतात्मिका स्थिति का प्रदर्शन करने के पश्चात् पराभव होता है। जैसे शुम्भ-वध में देवी ने कहा है 'एकैवाहँ जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा' यही है विशेष भगवत् कृपा। इसके अभाव में ग्रंथिमोचन नहीं हो सकता।

प्रथमत: आग्रह की स्थिति होती है। आग्रह = शुभवासना + श्रद्धा + वीर्य = आत्मकृपा। तदनन्तर प्रत्यक् प्रवण उज्वल धारा (अर्थात् संकर छंद का अवसान और शंकर छन्द का उदय) का पालन–पोषण, गुरुकृपा प्राप्ति होती है। सर्वान्त में आत्मनिग्रह बोज का लय हो जाता है। अर्थात् जो बीज जीव को विश्वबाधा वाले यन्त्र में आबद्ध करता है, उसका निग्रह हो जाता है। यही है भगवत् कृपा। इस एक कृपा का ही यह त्रिरूप है। जैसे एक चक्र में भागत्रय नाभि, अर (सेतु किंवा सन्धि) और नेमि (परिधि) की स्थिति होती है, यह त्रिरूप भी उसी प्रकार है। बाधाओं का प्रतिषेध चार प्रकार से होता है:—

(क) बाधा के समतल अथवा समसूत्र में रहकर अर्थात् परिवर्तित डाईरेक्शन में रहकर तुल्य प्रतिपक्ष द्वारा (By equal and opposite force) प्रतिषेध करता हूँ। यह अभ्यास योग है।

(च) बाधा के साथ समतल में हूँ किन्तु समसूत्र में नहीं हूँ। बाधा का प्रहार किसी ढाल पर नहीं रोकता हूँ, तथापि स्वयं की अवस्थिति (एँगिल आफ रिऐक्शन) को ही दूसरी ओर कर देता हूँ। यह है वैराग्य योग।

(ग) स्वयं के तल को ही बदल देता हूँ। यह अनासक्ति योग।

(घ) बाधा का बाण जिस धनुष से छूटकर मुझे बिद्ध करता है, उसकी ज्या (डोर) काट देता हूँ। जिस मूल अज्ञान अथवा स्वरूप विस्मृति पर बाधा की नींव पड़ी है, वह आधार ही काट देता हूँ। यह है अस्पर्श योग।

बौद्ध साधना में उपदिष्ट नवम् ध्यान (जिसमें संज्ञा–वेदना का पूर्ण अभाव है), वह अस्पर्श योग तथा माण्डूक्य कारिका का अस्पर्श योग यहाँ विवेच्य है। यहाँ केवल $X+Y+Z=O$ ही नहीं है, प्रत्युत् $Z=O$, $Y=O$ और $X=O$ है। प्रथम समीकरण $X+Y+Z=O$ में फल 'नित्य' नहीं होता। वहाँ X, Y, Z में से कोई भी व्यक्तिगत रूप से अपगत (इन्डिवीजुअली वैनिश) नहीं हैं, अतएव उनके पारस्परिक अनुपात के व्यतिक्रम की आशंका अवशिष्ट रह जाती है। यद्यपि यह उक्ति प्रसिद्ध है कि योगीगण अस्पर्श योग से भयभीत रहते हैं, तथापि वस्तुतः अस्पर्श योग ही "अभय" है। इन चारो योगों में बाधा हटाने अथवा

उससे बचने का प्रयास ही मुख्य है। सभी कुछ आत्मा अथवा ब्रह्म है, अतएव विष भी अमृत है, भय भी अभय ही है। इस प्रकार के सामरस्य तथा तादात्म्य की उपलब्धि के द्वारा आहुति चतुष्टय का समापन करते हुये पूर्णाहुति देनी चाहिये।

यह पूर्णाहुति ही समापत्ति योग अथवा सामरस्य योग है। इसके अभाव में सर्वावस्था में नित्योदित आनन्द का उदय नहीं हो सकता। भक्ति साधना के दृष्टिकोणानुसार भी इन सब की अनुरूप विवेचना करना चाहिये। इस क्षेत्र में सम्बन्धगत् दृष्टिकोण के अनुसार ४ प्रकार के सम्बन्ध सिद्ध होते हैं :—

(क) तदारोपित सम्बन्ध
(ख) तत्प्रपन्न सम्बन्ध
(ग) तदेकाश्रित सम्बन्ध
(घ) तद्भावभावित सम्बन्ध

इन सम्बन्धों की सिद्धि होती है चतुर्धा बाधाओं के निवारण के पश्चात्। अष्टाँग योग ने बाधा निवारणार्थ निम्न उपायों का अंकन किया है :—

(क) देशगत बाधा के लिये धारणा
(ख) कालगत बाधा के लिये ध्यान
(ग) छन्दःगत बाधा के लिये सविकल्प समाधि
(घ) वस्तुगत बाधा के लिये निर्विकल्प समाधि

अन्य मत से चतुर्विध बाधाओं के निवारणार्थ सविकल्प के अन्तर्गत सविचार आदि भूमियाँ भी कही गयी हैं। सानन्द समाधि द्वारा छन्दोनिमित्त बाधा का और सास्मित समाधि के द्वारा वस्तुनिमित्त बाधा का निवारण होता है। यह निवारण होता है सापेक्ष (कन्डीशनल) रूप से। सापेक्ष-निरपेक्ष का विचार मूल-ग्रंथ में करूँगा।

प्राक्काल में क्रिया के साथ ही उसकी विद्या का उपदेश देना आवश्यक था। श्रुति में इसके प्रमाण भूरिशः प्राप्त होते हैं। उपासना ज्ञानक्रिया का मिलित रूप है। अतः ज्ञान-क्रिया का निबिड़ सम्मिलन अथवा परिणय हुये बिना जपादि साधन 'समर्थ' नहीं हो सकते। क्रियाहीन ज्ञान पंगु है, ज्ञानहीना क्रिया अन्ध है। इस अन्धता तथा पंगुता के कारण व्यक्ति अवास्तविक कल्पनालोक में विचरण करता रहता है और यान्त्रिकता की चक्की में बँध कर बैल की तरह घूमता रहता है। "श्रम एव हि केवलम्"। अतः इस विच्छिन्न स्थिति में (क्रियाहीन ज्ञान तथा ज्ञानहीना क्रिया में) सिद्धि का आलोक विकिरित ही नहीं हो सकता और रस का निर्गमन भी नहीं होता। प्रज्ञालोक तो पूर्णतः अन्तर्हित रह जाता है। क्योंकि प्रज्ञालोक उत्सरित होता है प्राण और प्रज्ञा के मिथुन द्वारा। इस विच्छेद के संबंध

में श्रुति ने 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' के द्वारा सावधान एवं सतर्क भी किया है। श्रुति की दृष्टि में मूल भय है 'भूयः तमः' से ।

क्रिया में किंचित् सचेतनता, सचेष्टता रहती है। अतएव क्रिया की स्थिति में अन्धकार उतना प्रगाढ़ नहीं होता। केवलमात्र ज्ञान में जब विनियोग (एप्लिकेशन) नहीं है, तब वहाँ अपरिसीम निश्चेष्ठता के कारण अन्तहीन अन्धकार छा जाता है। तभी श्रुति ने विचार एवं आचार का सम्मिलन कराने पर "उभयं सह" कह कर अत्यन्त वल दिया है। इस सम्मिलन से ही मृत्यु विजित होने पर अमृतत्व में विश्रान्ति प्राप्त होती है, अन्यथा मृत्यु के अन्धकार में ही आवर्त्तन होता रहेगा।

अब तक हम ने उस जप विद्या तथा विज्ञान का वर्णन किया है, जिसकी आवश्यकता जपकर्म के आधार रूप में है। जपकर्म के मूल (बैकग्राउण्ड) में स्थित महाविज्ञान के तत्व को उद्‌घाटित करने का उपक्रम भी किया है। जप-ध्यान-कीर्त्तन आदि क्रिया के लिये तत्व सम्बन्धित (थ्योरी) आधार आवश्यक है। अब इसकी विवेचना की जा रही है :—

(क) जपसिद्धि एवं जपक्रिया का मूल = गुरुशक्ति। श्री भगवान पंचधाराओं द्वारा अपनी सृष्टि में प्रवेश करते हैं। यही है पँचगँगा। यह है संग्रहाख्या, प्रतिग्रहाख्या, विग्रहाख्या एवं अनुग्रहाख्या। यह चरम परम धारा है गुरुशक्ति ! उपोद्घात् में यह भी अंकित किया गया है कि श्रीगुरु ही श्री भगवान के पंचावतार और प्रणव के पंचतत्वों के एकाधार तथा सम्मिलित मूर्ति हैं। यह गुरु शक्ति जीव में शलाकावत् प्रविष्ट होकर अशुद्ध, मलिन, आविल कोषों को क्रमशः शुद्ध, स्वच्छ, भास्वर करती रहती है। अतः इनका आश्रयण ही साधक का प्रधान कर्त्तव्य है।

जपारँभ में हृदय-ललाट में श्रीगुरु का ध्यान भगवान की अनुग्रह शक्ति के शाश्वत तथा सर्वंग मूर्त्त विग्रह के रूप में करे। इस ध्यान द्वारा शिष्य को नव कलेवर प्राप्त होता है। यही है गुरुकृपा से प्राप्त अभिनव साधन देह की प्राप्ति। इसके लिये इस व्यावहारिक देह बोध का दूरीकरण (थाट इलिमिनेशन) और गुरुकृपा जन्य शुद्ध साधन देह प्राप्ति के लिये भावना अथवा आत्मनिर्देश (आटो सजेशन) आवश्यक है। इससे हमारे यन्त्र (एपरेटस) की ट्यूनिंग (श्रद्धधानता) होती है। सुर मिलाये गये यन्त्र पर ही सुविधाजनक अनुरणन (Resonance effect) हो सकता है। गुरुशक्तिरूप शंकरधारा में स्थित मूलस्पन्द में जब वैरूप्य दोष आता है, तभी वह शंकर धारा में परिवर्त्तित हो जाती है। (वैरूप्य है मल-अशुद्धि-दोष-कार्पण्य-अपराध) संकरधारा का रूपान्तरण शंकरधारा में करना ही होगा। इसका

उपाय है मूल तत्व के साथ अनुरूपता। "गुरु के साथ सुर भरो" गुणी स्वरशिल्पी के स्वर में स्वर मिलाना ही होगा। प्रथमतः अनुरूप, क्रमशः प्रतिरूप-एकरूप-समरूप होते हुये पादमात्रा से कलाकाष्ठा में, तदनन्तर 'परम' में जाना ही होगा।

(ख) पूर्वोक्त साधन प्राप्ति का अन्य मार्ग तंत्रादि की संध्या में देखा जाता है। वह भी सहायक प्रक्रिया है। जैसे बीज जप और प्राणायाम के द्वारा इस पाप्मानुविद्ध देह को दग्ध करे। अमृतमय नवकलेवर प्राप्ति की भावना करे। यही है साधारण भूतशुद्धि। यह आरम्भ में अभ्यारोप (पाईन्टेड सजेशन) ही है, परन्तु अभ्यास की दृढ़ता और भाव की प्रगाढ़ता द्वारा यही है अभ्यारोह (**An actual ascent towards the supreme object**)। जपसूत्र में वर्णित है कि यही अभ्यारोह कर्म क्रमशः कृच्छ्रोदय, अभ्युदय, महोदय रूपी सोपानक्रमेण अग्रसर होता जाता है। परम में उपनीत होना उदय नहीं है। वह है नित्योदय। यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि दहन से पूर्व शोषण करना चाहिये, अन्यथा गीले (आर्द्र) ईंधन में अग्नि जल ही नहीं सकेगा। केवल धूम्रोत्थान होकर व्याकुल करेगा। अतः पहले क्लेशों का 'तनुकरण' करने का उपदेश पतंजलि ने दिया है (योगसूत्र २/२)। तदनन्तर है 'समाधिभावन्'।

(ग) कभी-कभी व्यञ्जनात्मक प्रतीक अथवा प्रतिकृति द्वारा भावोद्बोधन होता है। जैसे कोई प्रतीकात्मक चित्र है। सप्त वर्णाली चक्रवेष्ठित एक महान् केन्द्र ज्योति है, नीचे एक शतदल प्रस्फुटित सा है। उसके मध्य से अग्निशिखा, उठ कर उक्त सप्तचक्र का भेदन करते हुये अन्तर्ज्योति से मिलित होना चाहती है। प्रतीक का रहस्य स्पष्ट है—आत्मा की आकांक्षा की उर्ध्वगतिमयी ज्योतिशिखा। (**The flame of the souls aspiration leaping upto**)। जप के समय अपना देहबोध विस्मृत करके यह धारणा करे। अल्प के सन्धान की समाप्ति होती है भूमा में। जैसे पार्वत्य तटिनी समुद्र में मिल जाती है। जीव की मूल आकृति (एसपिरेशन पैटर्न) अनेक अनियत आसँग से घिरी हुई है।

इसी प्रकार समस्त जपादि कर्मों का व्यावहारिक आधार (प्रैक्टिकल आधार) प्राप्त करो। क, ख, ग में अपकर्म के ही आधारत्रय का वर्णन है। ये तीनों मात्र उदाहरण ही हैं। व्यावहारिक आधार कार्यतः अनेक प्रकार से परिकल्पित होता है। समस्त क्षेत्रों में निम्नोद्धृत पंचसूत्रों को स्मरण रखना होगा :—

(अ) मित्रच्छन्द में जपक्रिया करने से साधक के शक्तिपिण्ड (पावरफील्ड) में गाढ़ता, निबिड़ता आती है।

(ब) जो आरंभ में चपल है, विक्षिप्त तथा बहुमुख है, वह जब एक केन्द्र में संहत होता है, तब उसमें स्थैर्य आता है। साधक में धीरता आती है।

(स) उस प्रस्तुत संहृति की रक्षा-पुष्टि के लिये उसके चतुर्दिक एक रक्षा कवच निर्मित होता है। (**A belt or barrage of protective vibrations, a sort of potential field**) यही है भूतापसारण तथा दिक्बंधन ।

(द) केन्द्रीय धनीभाव के कारण स्पन्दन क्रमशः सूक्ष्म-सूक्ष्मतर होता जाता है । फलत अतिगस्पन्दन (सुपरसानिक) का आविर्भाव होने के कारण साधक का यन्त्र 'समर्थ' रूप धारण करने लगता है ।
अतिगस्पन्दन द्वारा अरि एवं उदासीन भी मित्रच्छन्द बन जाता है । रूपान्तरण (ट्रान्सफारमेशन) तथा उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) भी इसी स्पन्द के द्वारा घटित होता है। जड़ में भी यही परिलक्षित करता हूँ ।

(य) अतः स्थूल वैखरी जप अब मध्यमा सेतु को पार करते हुये पश्यन्ति तथा परा में, ज्योतिः तथा आनन्द में उन्नीत हो जाता है। यह महोदय प्राण-मन-विज्ञान तथा आनन्द के शुद्धभाव (पाजिटिव फेज) को ग्रथित करके ही घटित होता है ।

जप-ध्यानादि कर्म तभी सफलीभूत होते है, जब वे अपने उपयोगी आधार को प्राप्त करके समर्थ हो जाते हैं । अब इस प्रकार के आधार का परिचय नीचे के वृक्ष में मिलेगा । जप के आधार निर्माण में इस जपकरण सम्पात को स्मरण रखना ही होगा । इसीलिये इसका उपदेश शास्त्र आचार्य एवं गुरुवर्ग ने प्रदान किया है । इष्ट मन्त्र के जपारम्भ के समय मनः, वाक् तथा प्राणरूपी त्रिविधकरण का सम्पात (कोलैबोरेशन), सम्बन्धी भूमि (एप्राप्रियेट फील्ड) तैयार करना चाहिये । जैसे वैदिक संन्ध्यावन्दन में आचमन-अपोमार्जन-प्राणायामादि क्रिया द्वारा क्षेत्र तैयार करते हैं । शुद्धि-बुद्धि तथा ऋद्धि से फील्ड निर्मित होती है । तब यथा-क्रमेण महाकाली, महालक्ष्मी तथा महासरस्वती का अनुग्रह मिलता है । विद्या से शुद्धि, श्रद्धा से ऋद्धि, उपनिषदरूपी रहस्य ज्ञान से बुद्धि की प्राप्ति होती है । विद्या केवल सैद्धान्तिक (थियोट्रिकल) दिशा नहीं है । वह व्यावहारिक दिशा भी है ।

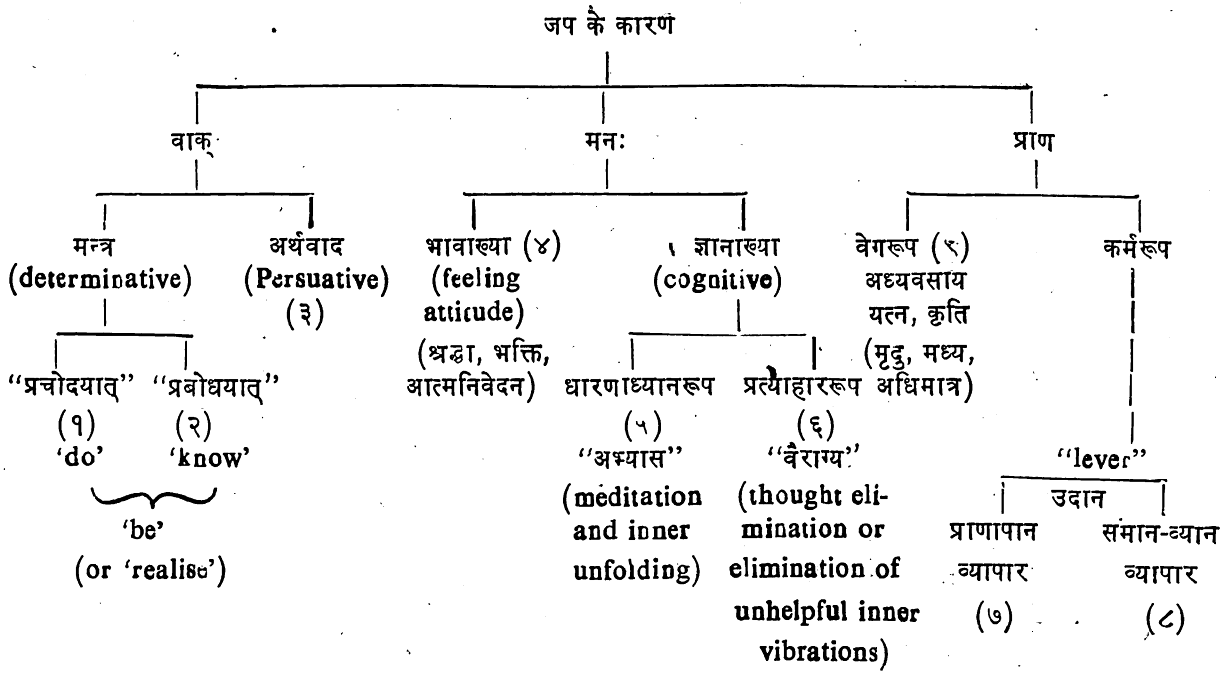
जप के कारण
वाक्
मनः
प्राण
मन्त्र
(determinative)
अर्थवाद
(Persuative)
(३)
भावाख्या (४)
(feeling
attitude)
(श्रद्धा, भक्ति,
आत्मनिवेदन)
ज्ञानाख्या
(cognitive)
वेगरूप (९)
अध्यवसाय
यत्न, कृति
(मृदु, मध्य,
अधिमात्र)
कर्मरूप
"प्रचोदयात्"
(१)
'do'
"प्रबोधयात्"
(२)
'know'
'be'
(or 'realise')
धारणाध्यानरूप
(५)
"अभ्यास"
(meditation
and inner
unfolding)
प्रत्याहाररूप
(६)
"वैराग्य"
(thought eli-
mination or
elimination of
unhelpful inner
vibrations)
"lever"
उदान
प्राणापान
व्यापार
(७)
समान-व्यान
व्यापार
(८)

अतः आवश्यकता है—**right (and enlightened) procedure, right attitude or dispositon and right understanding and intuition** की।

ऊपर अंकित आधार में से (१) एवं (२) के दृष्टान्त यथाक्रम से इस प्रकार हैं—

(१) "**आप्यायन्तु ममाङ्गानि**......" इत्यादि उपनिषद् का शान्तिपाठ, "**असतो मा सद्गमय**......" इत्यादि उपनिषद् का मन्त्र।

(२) "**तद् विष्णोः परमंपदम्**......" इत्यादि श्रुति-मन्त्र। "आविरायुर्मयि धेहि......" इत्यादि।

(३) स्तव-स्तुति-वन्दनादि।

(४) Right feeling attitude (उचित भाव-प्रवणता) का बना रहना आवश्यक है। क्योंकि feeling (भाव) है इस **apparatus** (मन्त्र) का 'tuning factor' (मिलाने वाला)। भाव के द्वारा विशेष-रूप से छन्दोनिमित्त बाधा दूर होती है। भाव के द्वारा ही 'छन्दोग' बनता है।

(५), (६) अभ्यास और वैराग्य (यथोक्त अर्थ में) आवश्यक हैं। क्योंकि उसके द्वारा विशेष रूप से 'यन्त्र' की देश-काल-वस्तु-निमित्तक बाधाएँ दूर होने में सहायता मिलती है।

(७), (८) प्राण के दो मुख्य व्यापार हैं। उदानवृत्ति के द्वारा lever की भाँति दोनों की सहायता करनी होती है (प्राणायाम, भूतशुद्धि, न्यासादि इसी के अन्तर्गत हैं)।

(८) प्राण or driving force—जपादि कर्म में इस वेगाख्य शक्ति के मृदु, मध्य होने पर समर्थ आधार का उपयोग घटित होने में विलम्ब होता है। इस समग्र करणसम्पात के संघात के फल-स्वरूप भावना (**auto-suggestson**) होने पर महावीर्य होता है। संकलपक्ति की समृद्धि होने पर कुण्डलिनी की जागृति होती है। जागृति जब भूमि-विशेष पर पहुँच जाती है तब वह महा-कुण्डलिनी की सत्य और अमोघ संकलपशक्ति धारा में अवगाहन करती है। प्राण व्यक्ति या **Individual** के रूप में नहीं, अपितु अखण्ड समग्र भाव से—'प्राण' के रूप में क्रियाशील होता है। सृष्टि के अवसान में या लय में महाकुण्डलिनी की 'निद्रा' (योगनिद्रा) कल्पित होती है अवश्य, किन्तु यह शक्तिरूपिणी है, इसलिये स्वरूप में इसका नित्योदित या अव्यय भाव है ही। अतः 'मूलस्पन्द' (**basic harmony, structure and function**) भी है; साधक को जपादि साधन द्वारा अपने प्राण-स्पन्दन की सृष्टि करके उक्त मूल स्पन्दन के साथ पहले अनुरूपता और परिणाम में समरूपता सिद्ध करनी होती है। क्रिया द्वारा स्पन्दन वर्त्मग या अध्वग होता है, भाव

द्वारा छन्दोग एवं ज्ञान द्वारा धामग होता है। इन तीनों को यथाक्रम से नामग, कामग और धामग भी कह सकते हैं। संघात फल की बात कहते समय और एक प्रसंग मन में उठ रहा है—जप-ध्यानादि के 'एकान्त' फल और 'संघ' फल (congregational) हैं। एकान्त साधना ही साधारणतः प्रशस्त है, तब भी देश (यथा तीर्थादि), काल, (यथा योगादि), पात्र तथा वस्तु (यथा देवताविग्रह, गुरु अथवा अपर—महापुरुषसान्निध्य) एवं छन्दः (यथा, भाव, बुद्धि और कर्म की समतानता)—इन चारों की विशेष-विशेष अवस्था में संघकर्म विशेष फलप्रद है। उससे resonance effect (अनुरणन) को गुणित (multiplied) होने का सुयोग मिलता है। minor (गौण) को छोड़ major (प्रधान) discordance factors (विषम तत्त्व) अधिक होने पर resonance (अनुरणन) के बदले interfeence efects (व्याघात) ही अधिक हो सकते हैं। मूल बात—total effect (समग्र प्रभाव अथवा कार्य) 'विषम' न होकर 'सुषम' होना चाहिये। श्रीवास के आँगन में श्रीगौराङ्गदेव के कीर्त्तनरस में भी बाधा हुई थी, क्योंकि बहिर्भाग में कोई बहिरंग व्यक्ति आ गया था। Symphony या synthesis of the elements of harmony के लिये इतने mathematically precise conditions आवश्यक हैं। (संवादमय प्रभाव के लिए विशुद्ध गणितिक रूप से यथानिर्दिष्ट सन्निवेश आवश्यक है)।

अब जप के सम्बन्ध में व्यावहारिक समस्या (practical problem) यह है—जप समर्थ होगा किस प्रकार? अर्थात् जप किस प्रकार पूर्वालोचित आधार के अन्नमय, प्राणमयादि के शुद्ध (पूरक '+') भागों को अशुद्ध, मलिन (हरक '—') भागों के आक्षेपादि से मुक्त करके उन्हें संयुक्त, सक्रिय, एकतान बना देगा? अथवा संक्षेप में प्रश्न यह है कि अधोमुख, तिर्यक्, रजस्तमोविशाल, संकर स्रोत को ऊर्ध्वमुख, सत्त्वविशाल, ऋजु, शंकरधारा में कैसे परिणत करेगा? अर्थात् मूल प्रश्न यह हैं कि—कौन कैसे बुद्धि को भावरूप और बोध (अथवा ज्ञान) रूप में कुण्ठा-कार्पण्य-दोष-मुक्त शुद्ध, 'युक्त' बनायेगा?

श्रीभगवान् की अनुग्रहशक्ति, जीव की पूर्वालोचित शुभवासना, शुभयोग, शुभाग्रह और शुभसन्धि—इन चारों द्वारा आकृष्ट और केन्द्रीभूत (अतः घनीभूत, मूर्त) होकर गुरुशक्ति के रूप में प्रकट होती है। वे जीव के 'प्रथम पुरुष' (surface consciousness) का अवलम्बन लेकर उसके क्रिया-कारक-फलात्मक अथवा पञ्चकोषात्मक संघात (apparatus) में प्रविष्ट होती हैं। प्रथम पुरुष की श्रद्धा का पोषण करके उसको 'श्रद्धावीर्य' बनाती हैं। 'मध्यम पुरुष' (subconscious के अधिवासी) को 'मित्रच्छन्दः' में आपूरण करने के लिए प्रस्तुत कर लेती हैं। 'उत्तम पुरुष' (super के अधिवासी) को प्रसन्न भी

करती हैं। यह आवश्यक है कि 'प्रथम पुरुष' को आवश्यक और यथेष्ट परिमाण में 'सहयोग' करना ही होता है। व्यापार एकतरफा नहीं होता। गुरु ही सब कर देंगे—मैं तो कुछ भी नहीं—यह शरणागति और समर्पण एक निष्क्रियता (passivity) मात्र नहीं है। अतः आरम्भ से ही 'युध्यस्व विगतज्वरः' होने के पहले ही यह स्वभाविक, स्वास्थ्यबोधक नहीं है। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' श्रद्धावीर्य के सहयोग से अभ्यासयोग की परिपक्वावस्था में ही स्वाभाविक है। 'धर्म' जब तक 'सर्व' न होकर 'खर्व' है, तब तक उसका 'त्याग' त्याग ही नहीं है, त्याग का मिथ्या गर्व-मात्र है।

अच्छा, तीनों पुरुष गुरुशक्ति द्वारा अनुगृहीत होकर त्रिविध 'वीर्य' लाभ करते हैं। यह वीर्य ही प्रतिष्ठित होने पर पूर्वोक्त वज्र बन जाता है। प्रथम पुरुष देते हैं श्रद्धावीर्य। मध्यम देते हैं भाव अथवा संस्कारवीर्य (संस्कार=state of being regrouped, rearranged, reformed), उत्तम देते हैं विद्या या ज्ञानवीर्य। गुरुशक्ति प्रथम पुरुष पर 'आक्रमण' करती है, साधारणतः एवं बाह्यतः अक्षर (मन्त्र) रूप से। अर्थात् जीव का व्यावहारिक संघात व्यावृत्ति में, हरण में, कृपण-संकीर्ण छन्द में विन्यस्त और अभ्यस्त है। प्रकाश और आनन्द के सागर का, उसके परिपूर्ण ऋतच्छन्द और सत्यच्छन्द का संधान देने में वह अभ्यस्त नहीं है, उस सन्धान से वञ्चित रखने में ही वह अभ्यस्त है। सागर की बात भुलाकर नहर, नाला, तलैया आदि की बात में उसने जीव को पागल बना रखा है। इस क्रिया-कारक-फलसंघात को समावृत्ति, पूरण, उदार, शुद्ध, मुक्त, छन्द में विन्यस्त करने वाली (positive process) है गुरुदत्त क्रिया। यही मुख्यतः जप-किया है।

जपकर्ता 'normal, (सामान्य) 'sub' (सामान्य से निम्न) एवं ,super' (सामान्य के उच्च) भेद से तीन प्रकार का होता है। इनको ही हमने 'प्रथम', 'मध्यम' और 'उत्तम' पुरुष नाम दिया है। अब, 'आठ पहर' के कर्ता हैं 'प्रथम पुरुष'; गुरु उन्हीं को मन्त्राक्षर सुनाते हैं। साथ-साथ मध्यम और उत्तम-पुरुषद्वय को बोधित करने का संकेत भी समझा देते हैं। मध्यम पुरुष जागकर वृत्तियों का प्रवाह घुमा देते हैं अर्थात् sudconscious mind का आपूरण जपक्रिया के 'प्रतिकूल' से हटाकर 'अनुकूल' कर देते हैं। विराट संस्कार भूमि का अरिच्छन्द मित्रच्छन्द होने लगता है। फल्गुरीति से—behind the screen—मध्यम पुरुष का कर्म-निर्वाह होता रहता है। प्रथम पुरुष ने जप किया, रुक गया, मध्यम पुरुष ने अलक्षित रूप से जप की माला हाथ में ली और जपक्रिया को श्वासादि स्वाभाविक (involuntary) क्रिया के साथ मिला कर उसे 'प्राणन' व्यापार

बना दिया। मूल में, जो मुख्यतः आयास-साध्य आस्य अथवा वाक्-प्रयत्न-सौष्ठव है, उसे यथासम्भव अनायास प्राण-प्रयत्न-सौष्ठव बना देते हैं। इसकी भित्ति पर होता है चित्त (मन और बुद्धि) का प्रयत्न-सौष्ठव। केवल इस एक दिशा में ही कार्य समाप्त नहीं होता। Super-consciousness के तल (plane) में जो उत्तम पुरुष हैं, उनका प्रसारित हस्त कस कर पकड़ने का उपाय भी कर देते हैं। अर्थात् जपक्रिया में sub, super, normal (नीच, उच्च, सामान्य) तीनों palnes (स्तरों) पर एक-एक co-ordinated, concerted action (संयुक्त क्रिया) की सम्भावना उत्तरोत्तर उत्कृष्ट रूप से बनती है। समर्थ वैखरी जप में गुरुशक्ति से सहायता-प्राप्त, श्रद्धावान् प्रथम पुरुष, धृत्युत्साहसमन्वित, अभ्यास परायण होते हैं। उनकी निष्ठा-तपस्या से 'भूः' एवं 'स्वः' इन दो लोकों की 'ताड़ितशक्ति' मानों घनीभूत होती रहती है। मध्यम प्रस्तुत होते हैं, उत्तम प्रसन्न होते हैं। तीनों की 'अवस्था' एक सीमा-विशेष में आने पर तीन वज्रों का एकत्र मिलन होता है।

द्रष्टव्य :—(१) प्रथम पुरुष—'पशु'→मध्यम पुरुष—'वीर'—उत्तम पुरुष—'दिव्य' →सम्मिलित पुरुष त्रिपुटी। (२) जापक = प्रथम पुरुष; जपयिता (गुरु) = मध्यम पुरुष; जप्य (मन्त्र) = उत्तम पुरुष। (३) तन्त्र (समर्थ क्रिया) = प्रथम पुरुष; यन्त्र = मध्यम पुरुष; मन्त्र = उत्ताम पुरुष। इस प्रकार विभिन्न रूप से तीनों पुरुषों को यदि मिला न सकें तो जो 'क्षर' के अतीत एवं 'अक्षर' से भी उत्तम हैं—उन 'पुरुषोत्तम' में मिलित होना सम्भव नहीं होता।

उक्त वीर्यत्रय से सहकृत होकर जप क्रिया जितनी चलती रहती है, वर्तमान 'कारोबारी' यन्त्र अथवा **apparatus** के **systems of veilers** (आवरक) **and inhibitors** (अवरोधक) साँचे उसी परिणाम में स्वतः सिद्धः, विपुल प्रकाश, आनन्द एवं उसके परिपूर्ण ऋतसत्य छन्द के **releasing** (उन्मोचक) **revealing** प्रकाशक साँचों में रूपान्तरित (**transformed**) होते चलते हैं। अर्थात् मन्त्र द्वारा यन्त्र शुद्धि, यन्त्र द्वारा तन्त्रशुद्धि, तंत्र द्वारा पुनः मन्त्र शुद्धि—इस प्रकार **vicious** ('पापचक्र') नहीं, **virtuous circle** ('धर्म चक्र') चलता है। यह क्रिया पूर्वोक्त 'तीन लोक' एवं उनके अधिवासी पूर्वोक्त तीन पुरुषों को खींच कर लिए चलती है।

इस प्रकार क्रिया उत्तरोत्तर पूर्णतर और शुद्धतर 'भावरूप' और 'ज्ञानरूप' से उद्भूत होती रहती है। क्रिया अब भी भाव और ज्ञान रूप में उद्भूत होती है; भाव क्रिया और ज्ञान रूप में और ज्ञान का उदय क्रिया और भावरूप में।

जो 'असत्' है, उसे 'सत्' बनाकर क्रिया उद्भूत नहीं होती, वस्तुतः जो सत् है, उसे release, reveal, recognise, reaffirm करके ही उद्भूत होती है। क्रिया किसी भी रूप में उद्भूत हो, उसके 'प्राञ्चि' (पूर्व) और 'प्रत्यञ्चि' (उत्तर) कितने ही रूप बन जाते हैं।

जैसे कोई जपक्रिया भावरूप और ज्ञानरूप में उद्भूत होगी। एक छलाँग में ही वैसा नहीं होता। कर्म अवश्य छलाँगों में ही (in definite quatnta of energy) होता है, तब भी अनेक छलाँग भरनी पड़ती हैं। जैसे-जैसे कर्म एक-एक शक्ति के स्तरविशेष (critical value) में पहुँचता चलता है, वही एक-एक छलाँग है। यह कुछ-कुछ आकस्मिक परिवर्तन, (sudden change) रूपान्तर (transformation) जैसा है, जैसा कि बीज अंकुरित होने के समय होता है, अथवा बालक के वयःसन्धि (age of puberty) पर पहुँचने पर जैसा होता है—इस प्रकार की 'छलाँग' प्रकृति के नियम से चलती है; इतना ही भला है, नहीं तो बूंद-बूंद करके सिन्धु का आहरण कौन करता ?

निष्ठा के साथ कुछ समय बिन्दु का आहरण (यथा वैखरी जप) चलाने के बाद देखता हूँ कि बिन्दु-आहरणकारी के भीतर 'कुम्भयोनि' अगस्त्य 'भूमिष्ठ' हो रहे हैं (पूर्वोक्त प्रथम + मध्यम + उत्तम-वीर्य-समन्वित 'वज्र' जो गण्डूष में, एक चुल्लू में ही सिन्धु को आत्मसात् कर लेंगे)। कर्म तो वास्तव में मोचन (release) करना ही है, ढक्कन हटा लेना है। **'हिरण्मयेण पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'**—इसीलिए ठीक स्थल (point) पर पहुँचने से पहले तक विशेष कुछ समझना सम्भव नहीं होता। भाद्र की घनघोर घटा है, 'घर-घर' पुकार रही है, वर्षण कहाँ ? हठात् एकदम 'कड़-कड़—कड़-कड़', उसके बाद 'झम-झम—झम-झम'। ऋग्वेदादि में यह कहानी न जाने कितने प्रकार से सुनाई गई है।

जप का वैखरी-मध्यमा में 'प्राञ्चि' अथवा 'पूर्वरूप' है, पश्यन्ती और परा में उसके 'प्रत्यञ्चि' या उत्तर रूप 'उद्भूत' हुआ करते हैं। प्रत्येक में पुनः चार पाद हैं। Mechanics (यन्त्रगणित) में जैसे किसी भार (load) को (१) खींचना, (२) किसी समतल (smoomth) frame पर खींचना, (३) pulley द्वारा, (४) lever लगा कर, (५) incline plane बना कर (जैसे मिस्रदेश में पिरामिड बना कर), एवं (६) भार को विशीर्ण (resolve) करके। उसे इन सब उपायों द्वारा आयत्त करना होता है। जपक्रिया में भी resistance system को अनुरूप भाव से जीतना होता है। जप के प्रारम्भ में ऊपर लिखे प्रथम और द्वितीय उपाय द्वारा जपक्रिया का यथासम्भव सहज अभ्यास कर लेना होता है। तब जप प्रायः mechanical (यान्त्रिक) होता है। तृतीय एवं चतुर्थ उपाय से प्राण और मन उपयुक्त रूप से सक्रिय सहायक होते हैं।

पञ्चम उपाय में अर्थात् plane को अलग करके बुद्धि अर्थात् विज्ञानमय सत्ता सहायक होती है, और षष्ठ में आनन्द या उज्ज्वलरस-संभार को, आयास या समग्र प्रतिरोध (resistance) को जप निःशेष रूप से विशीर्ण (finally resolve) अर्थात् 'गलितकषाय' बना देता है। पंचम उपाय से ही विशीर्ण करने (resolution) का आरम्भ हो जाता है। वहाँ 'मृदितकषाय' होता है। अविपक्वकषाय में कुयोगी होता है। अतएव जप चलाओ। अभ्यास जिससे धीर, स्वस्थ, श्वासक्रिया की भाँति सहज, सरल बने, उसका यत्न करो। प्रास की pulley और अन्तः का lever लगाओ। बुद्धिविज्ञान, विद्याविचार, मनन-निदिध्यासन द्वारा क्रिया का plane (स्तर) बदलो, ताकि वह भाव और ज्ञान के रूप में उद्भूत हो सके। प्रेम और आनन्द में पहुँचाओ; तब सर्वबाधाविनिर्मुक्त, अप्राकृत, अमायिक, स्वच्छन्द, स्वाभाविक उल्लास और प्रकाश होता है।

जपसाधन 'केवल' और 'सहित'—इस प्रकार द्विविध है।

अनेक महापुरुष केवल निष्ठापूर्वक (कर्मनिष्ठा एवं भावनिष्ठा-पूर्वक) जपक्रिया में ही उत्तरोत्तर भूमियों को प्राप्त हुए हैं। नाम या जप ही केवल आश्रय है। 'हरेर्नामैव केवलम्' अथवा, शुद्धप्रणव। सब कुछ ही इस एक में ही प्रस्फुटित हुआ है (everything else shall be added unto it)। यह जप-सूत्र में आलोचित 'शुश्रूषा' जप है। शुश्रूषा के—श्रवणेच्छा, एवं सेवा संस्कार दोनों अर्थ हैं। नाम की जो 'मर्मवाणी' है, उसे सुनने की एकान्त साध रहने पर नाम ही उस साध को पूरी करें और नाम की प्राणपण से 'सेवा' करने पर नामी को मिली इस एक अभिन्न शुश्रूषा 'काण्ड' से ही विज्ञानभाति एवं भजनरसमाधुरी—ये दो साधिष्ठ शाखा निकल कर तत्परमोज्ज्वलरस-समापत्ति—रूप परम प्रयोजन का निर्वाह करेंगी। पूर्वशाखा के प्रसार में विविदिषा-जप एवं विद्वज्जप। दूसरी शाखा में वैधी, रागानुगा, रागरूपा का प्रसार है। दो शाखा एक में ही आकार मिलित होती हैं। इन सबके मूल में ही नाम है, नाम का ही सर्वतोभाव से आश्रय लो। 'निरपराध' होकर आश्रय लो। जो 'अपरा' है, जो 'प्राकृत' है उसके 'अधः' यानी अधीन होने पर तो जो अधोक्षज हैं वे मिलेंगे नहीं। किन्तु ऐसी एकाग्र श्रद्धा और एकनिष्ठा सब आधारों में संभव नहीं होती। इसीलिए 'सहित' mixed प्रक्रिया (method) विहित (prescribed) है। उसमें जपक्रिया पूर्वोक्त क्रम से स्वयं ही जो कुछ करना चाहती है समर्थ होने पर स्वयं ही जिसको करेगी, उसे अन्नमय, प्राणमय, मनोमयादि कोशों के शोधन-बोधन आदि अन्यविध उपायों (auxiliary means) के द्वारा अनुकूल बना लो। किन्तु सावधान! जपक्रिया के co-ordinating accumu-

lating work (समावृत्ति-साधन) को व्यावृत्ति से विच्छिन्न या विक्षिप्त करना नहीं चलेगा !

अब यह समझ कर वैखरी जप अथवा अनुरूप साधन-भजन चलाना होगा। जपविद्या या विज्ञान समर्थ सहायक और साधन है। इसीलिए श्रुति में क्रिया के साथ विद्या या विज्ञान की इतनी स्तुति मिलती है। पूर्वोक्त प्राण के पाँच मुख्य ऋतच्छन्द और पाँच अनुगत ऋतच्छन्द के अनुवर्तन से क्रिया को 'शुक्ला गति' पथ पर चलाना होगा। अनुवृत्ति होने पर जप ही जपकर्ता का गुरु, गति, भर्त्ता, सहाय, शरण, सुहृद् होगा। क्योंकि जो प्रभु हैं, जो साक्षी हैं, जो निवास' है, जो 'निधानं बीजमव्ययं' हैं, वे स्वयं जप के अक्षर में समासीन हैं।

परिशेष में इन कुछ-एक बातों पर ध्यान दीजिए।

(१) प्रथमतः जप के 'आगमापाय' के अनुपातगत अनुकूल, पोषक (positive) समत्व की रक्षा के लिए यत्न होता है। 'प्राणापानौ समौ कृत्वा'। जप को प्राण की एक उदासीन भूमि ("मध्ये वामनमासीनं") से निर्गत करके छन्दःक्रम से पुनः उसी में लय करना होगा। शनैः शनैः। पुनः पुनः। इंजन में जैसे बारी-बारी से (alternate क्रम से) vacuum (शून्यता) की सृष्टि की जाती है, उसी प्रकार। अनुपात की समता को साधने के लिए कभी 'आगम' (प्राण) में 'अपाय' (अपान) की 'आहुति' देना होता है और कभी विपरीत क्रम से 'अपाय' (अपान) में 'आगम' (प्राण) की। यह सब धीर-भाव से आलोच्य है। फलतः जपक्रिया के समग्र system (अनुष्ठान) में आदान-प्रदानगत 'संख्या' (अर्थात् Proportional deposit) को धनराशि होना चाहिए।

(२) जपक्रिया की प्रतिक्रियाओं (re-action) के फलस्वरूप जो रूपान्तर, आक्षेप-विक्षेपादि (transformations, dissipations, एवं 'running down') होते रहते हैं, उनमें जपक्रिया का "उद्वृत्त" (surplus credit) रहे, इस ओर ध्यान रख कर जपक्रिया, जप का आधार इत्यादि ठीक करके रखना होगा। अन्यथा जप व्यर्थ या नष्ट भले ही न हो, उसका "फल" गोचर होने में विलम्ब होगा। जप की प्रतिकूल (negative) प्रतिक्रियाएँ (reactions) क्लान्ति, अवसाद, प्रमाद, तन्द्रा इत्यादि के रूप में होती रहेंगी। ये तामस प्रतिक्रियाएँ (reactions) हैं; राजस (unhelpful) प्रतिक्रियाएँ (reactions) भी हैं। यथा—चित्त चाञ्चल्य, रिपुओं का प्राबल्य इत्यादि।

द्रष्टव्य—(१)–जप को "सुर" या छन्दोग क्रिया, भाषा, जितनी बलिष्ठ और सक्रिय होती रहती हैं, जपकर्ता के संघात (system) के, उसके परिवेश (enviro-

nment) के 'अ-सुर' भाव उतने ही प्रबल आकार में 'उत्थित' होते रहते हैं। क्योंकि प्रकृति (nature) का एक प्रकार का आलोड़न (general stirring up) उससे होता है। अनेक क्षेत्रों में होमियोपैथिक औषध के फल से रोग लक्षण वृद्धि (aggravation) जैसी अवस्था भी आती है। प्रकृति की प्रवृत्ति धारा में जो लोग स्वत्व से भोग पर दखल किए बैठे हैं, उनका उच्छेद सहज नहीं होता। इसीलिए सुरासुर संग्राम साधनसमर की यथार्थ बात है। वे सब (असुर) रक्तबीज के पेड़ है ! जिह्वा पर रखकर, अर्थात् समर्थ-जपास्त्र द्वारा उनका संहार करना होगा।

द्रष्टव्य—(२) उसी प्रकार दूसरी ओर, मधुच्छन्द में मन्त्रजप के फल से सभी अन्तःकोश मधुच्छन्द में विन्यस्त होते रहते हैं,—संवादी तत्त्व (concordant elements) संहृत और विवादी तत्त्व (discordant elements) विच्युत होते रहते हैं,—यह समझ में आता है अनेक चिह्नों और निदर्शनों द्वारा। यथा, सदृश रूप से उद्भूत नानाविध, मधुर और गम्भीर छन्दोबद्ध आन्तर ध्वनि के श्रवण द्वारा। विसदृश रूप से उद्भूत नानाविध विचित्र, अपरूप, सुन्दर रूप और वर्णमय मानस प्रत्यक्ष (vision) द्वारा। ये उद्भूत आन्तर ध्वनि, रूप, वर्ण, गन्ध आदि इतने अपरूप और सजीव (alive and vivid) होते हैं कि उन्हें किसी बाह्य प्रत्यक्ष आदि की प्रतिकृति से (images) किसी भी प्रकार नहीं समझा जा सकता। वे सब किसी 'अप्राकृत-धाम' (upper world of eternal freshness and pristine purity) से हमारे इस कारोबारी 'धूसर लोक' में 'प्रक्षेप' (projection) ही प्रतीत होते हैं।

(३) जपक्रिया का समाहार संगति, समन्वय आवश्यक है। वैखरी और मध्यमा में यह काम बहुत कुछ 'यन्त्र-तन्त्र' में ही चलता है, श्रद्धावीर्य के साथ दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कारासेवित विधि द्वारा। यह काम जब तक बुद्धिपूर्वक और आनन्दसिक्त (शुद्ध विज्ञान और आनन्द-कोश के अनुग्रह से युक्त) नहीं होता, तब तक परिपूर्ण तुष्टि-पुष्टि नहीं होती। (Realisation and satisfaction की भूमि आनन्द है, यह ध्यान रखना होगा)। सत्, चित्, आनन्द, ये तीनों एक होने पर भी आनन्द को "हृत्सत्ता" (the core, the inmost) कह सकते हैं। "ज्ञातुं द्रष्टुं प्रवेष्टुं" सत्, चित् आनन्द को प्राप्त करना है। साधन-जीवन में यह क्रम स्पष्ट ही देखने में आता है। उसे 'अस्ति'-रूप में जाना, 'भाति'-रूप में देखा, तब भी मानों एक 'शून्य' (न्यूनत्व) रह गया। 'प्रियं' या रसरूप के उसमें प्रवेश न होने तक परिपूर्णता और चरितार्थता नहीं है। यह शेष ग्रन्थि पार करने में देर लगती है। जीवन में कृष्टि आई, दृष्टि भी प्रस्फुटित हुई; तब भी तुष्टि नहीं है। उसकी प्रतीक्षा में कृष्टि और दृष्टि को और भी उदार और अग्रचा (श्रेष्ठा)

होना पड़ता है। शेषकाल में, कुछ ऐसा एक आता है, जिससे सब कुछ की परिपूर्णता और समाप्ति हो जाती है। हाँ, किसी प्रकार मध्यम पुरुष को प्रस्तुत करके मध्यमा का सेतु पार करा सकें तो जपक्रिया मुख्यप्राण के अपने समाहार समावृत्ति छन्द में आपतित हो जाती है। अब समाहार इत्यादि अपेक्षाकृत अनायास, सहज और स्वाभाविक हो जाते हैं। इस प्रकार जपक्रिया समाहृत, सुसम्भूत, सुसंबद्ध होकर एक महावीर्य छन्दः (harmony) की सृष्टि करती है। वह है सुरब्रह्म या छन्दोब्रह्म। यही जपसूत्र का "आधिकारिक" कल्प है।

(४) अन्त में जपक्रिया की सिद्धि में धैर्य और वीर्य, प्रकाश और आनन्द का ऐसा एक 'अच्युत पद' (permanent solvency) प्राप्त होता है, जहाँ से इस निरन्तर हरण (ruuning down process) के फल-स्वरूप फिर 'दिवालिया स्थिति (insolvencey) में गिरने का भय नहीं रहता। यह जपसूत्र का 'आनपायिक' कल्प है।

द्रष्टव्य—(३) :-जप का 'फल' अमर है, किन्तु वह साधारणतः जमा होता है, प्रथम पुरुष के कारोबारी बैंक में नहीं, मध्यम पुरुष के गोपन 'रिजर्व बैंक' में। यदि जमा ठीक-ठीक होता रहे तो 'चक्रवृद्धि' सूद भी जुड़ जाता है मूल के साथ। उस बैंक की 'पासबुक' प्रारंभ में प्रथम पुरुष को दिखाई ही नहीं देती। वह समझता है शायद सब कुछ पानी में जा रहा है। मानो अपने घर के अपने कारोबार की सब खबर उसके नख दर्पण में है। श्रद्धा, विश्वास रख कर जपक्रिया चलाते रहें तो कभी-कभी, पासबुक, दिखाई भी दे जाती है—स्वप्न के रूप में, अनिच्छा जप के रूप में (साक्षात् क्रिया रूप में ही; इसके अलावा नानाविध अभूतपूर्व, असाधारण भाव-रूप में ही); इसके अलावा नानाविध अभूतपूर्व, असाधारण भाव-रूप में, और दर्शन-रूप में भी। तब समझ में आता है कि जपफल केवल जमा हो रहा है ऐसा नहीं, भारी सूद भी दे रहा है। सूद = अनुरणनात्मक प्रभाव (resonance effect)। हाँ, जपकर्ता को इस बारे में होशियार रहना चाहिए कि कहीं 'cverdraft' (जमा रकम से अधिक निकालना) न कर बैठें।

(५) सब प्रकार की समर्थ जपक्रिया की एक "अवसानभूमि" भी है। समर्थ जप 'महान आत्मा' है, एवं 'यच्छेत्' भी। उसके बाद 'शान्त आत्मनि'—सब ठण्डा। यह 'शान्त' वह नहीं है जिसे वैष्णवादि रसशास्त्र ने 'शान्त-दास्यादि' कह कर आरम्भ में स्थान दिया है। शुद्ध क्रिया, शुद्ध ज्ञान, शुद्ध भाव की अभेद-पराकाष्ठा में जो 'महामौन' है, वही यह है। यहाँ तक आये बिना महाप्रभु रामानन्द राय का मुँह पकड़ कर बन्द नहीं करेंगे। कठश्रुति के इस प्रसिद्ध साधन को जिसने केवल 'ज्ञान-

मार्गी का साधन समझा है, उसका—उसी श्रुति की भाषा में 'शिरः' (मूर्धा) 'पतित' होने की आशंका है।

कोई सोच सकते हैं कि जब जप का भाव एवं ज्ञान—(feeling attitude and consciousness of the meaning) रूप ही 'असली' है। वही जब लक्ष्य (end) है, तब केवल जपक्रिया पर (संख्यादि का नियम रख कर वाचिकादि जप पर जोर देने की क्या आवश्यकता ? ध्यान (वाक्, प्राण और मन जिनके निर्वाहयिता हैं)—ये तीनों मिल कर एक अविभाज्य त्रिपुटी हैं। ये वस्तुतः एवं कार्यतः परस्पर निरपेक्ष नहीं हैं। एक के साथ दूसरे के उदय, लय, स्थिति का घनिष्ठ सम्पर्क (organic relationship) विद्यमान है। जैसे वृक्ष की 'सफलता' शाखा में होने पर भी काण्ड (तने) के बिना उस सफलता की संभावना ही नहीं रहती, उसी प्रकार यथार्थ भाव एवं ज्ञान में जप की परिणति यदि अपेक्षित हो, तब जपक्रिया-रूप शुश्रूषा-काण्ड का आश्रय लेना पड़ता है। भाव और ज्ञान की परिपक्व दशा में 'क्रिया' (व्यक्त स्पन्दन रूप) लीन अवश्य हो जायेगी, किन्तु अव्यक्त स्पन्दन (अर्थात् स्पन्द, अतः 'कर्म') के रूप में वह बनी रहती है। पूर्वोक्त 'शान्त आत्मनि', 'महाभाव, में 'यच्छेत्' (पूर्णाहुति) जब तक नहीं होती, तब तक वह क्रिया रहती है। उसके नीचे, विशेषतः प्राथमिक भूमियों में, जोर लगा कर जप-क्रिया को रोकने जाएँ, तो फल शुभ नहीं होता; पहले जिस सफलता की बात कही गई है, वही व्याहत हो जाती है। भाव एवं ज्ञान दोनों ही सुविन्यस्त, सुगठित क्रिया के ढाँचे में अपने 'वास्तवी तनुं' (real form and character) को प्राप्त करते हैं। स्पन्दनादि की अनुरूपता एवं अनुरणन (resonance effect) के समञ्जस समुच्चय (harmony integration) की उपेक्षा करके ऐसा ढाँचा तैयार नहीं हो सकेगा, जो कि स्थायी-भाव का उद्दीपक और अकुण्ठ ज्ञान का उन्मेषक हो। इसलिए विधिपूर्वक (श्रद्धावीर्य और धृति के साथ) जपक्रिया चलाते ही रहना होगा। आरम्भ से ही 'भाव कहाँ' ? 'ज्ञान कहाँ' ? कह कर व्याकुल होकर क्रिया छोड़ देने से या उसमें ढील देने से नहीं चलेगा। पक्षी जैसे अपने अण्डों को सेता है, उसी प्रकार मित्रच्छन्द का आश्रय लेकर और अरिच्छन्द का त्याग करके "जपाक्षर" को सेते रहना होगा। "जपाक्षर" में साधारण "अनृत" अक्षरबुद्धि का त्याग करना होगा। पक्षी यदि अपने अण्डे को "जड़पिण्ड" मात्र समझे तो उसे क्योंकर सेता रहेगा ? साथ-साथ भाव का "ताप" और ज्ञान का "प्रकाश" जितना भी जुटा सको उतना ही अच्छा होगा, किन्तु उसे जुटाने में मूल असली काम (सेने की क्रिया) में कहीं शैथिल्य या विच्युति न हो जाए ! आक्षेप-विक्षेपादि (dissipation, defraction प्रभृति) यथासंभव वर्जनीय हैं। विच्युति होने पर भाव का आभास थोड़ा बहुत भी रहेगा तो मिट जायेगा, प्रकाश की छटा जरा-बहुत खिची भी रहेगी तो पुनः आवरण में लीन हो जाएगी।

योग एवं क्षेम का उपयुक्त ढाँचा न मिलने पर भाव अपनी चपलता, तरलता, आविलता छोड़ कर शान्त, प्रगाढ़ एवं स्वच्छ नहीं होता। ज्ञान भी अवास्तव कल्पना, आरोप, संशय आदि को काट कर अपने उरु (श्रेष्ठ) निर्मल प्रकाश को प्राप्त नहीं करता।

'कच्चे' ढाँचे में असमञ्जस (misfit) भाव और ज्ञान, दोनों ही प्रतिक्रिया (unhelpful reactions) की भी सृष्टि करते हैं। अतः जप-क्रिया को अपने स्वाभाविक छन्द और गति में चल कर भाव की गम्भीरता में एवं प्रकाश की उज्ज्वलता में अपने आप शान्त होने दो। वैखरी जप को सहज भाव से मध्यमा का सेतु पार करके पश्यन्ती और परा में जाने दो। 'सेतु' उड़ा देने का यत्न मत करना। वह गलत चाल (bad strategy) है। यदि वैसा करोगे तो एक महावीर हनुमान् को छोड़ कर और कौन इस पार से उस पार छलाँग मारने का साहस कर सकेगा? स्वयं श्रीरामचन्द्रजी को भी तो जैसे-तैसे करके एक सेतु बाँधना ही पड़ा था न! कटहल के पेड़ के तने में (मूल के पास) भी कटहल फल सकता है किन्तु वैसा तो सब में नहीं होता, आम-जामुन के पेड़ में भी वैसा नहीं होता। इसलिए मालाजप अथवा करजप जबर्दस्ती मत छोड़ना-माला ही तुम्हें छोड़ देगी समय होने पर। **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** मन्त्र के जप से ही उसका अर्थ (वाच्य एवं साथ-साथ भाव और ज्ञान) प्राप्त होगा। जप को 'समर्थ' बना लेना चाहिए। सूत्र में **'भावन'** (होने देना) कहा है, **'भावना'** (चिन्तन करना) नहीं कहा, ध्यान देना।

उपसंहार में, जप-कर्म के मूल आधार को फिर एक बार संक्षेप में स्मरण करा देता हूँ—

मनुष्य के कार्य-करण-संघात के स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन 'स्तरों' में पाँच कोश (अन्नमयादि) व्याप्त हैं। इनमें से प्रत्येक पुनः त्रिविध है। (१) पराग्वृत्ति ('निगेटिव'—भूः=पृथ्वी); (२) प्रत्यग्वृत्ति (पौजिटिव=स्वः=द्यौः); (३) परस्पर व्यावर्त्तक अन्तरालवृत्ति (मीडियम=भुवः=अन्तरिक्ष)। भूः, भुवः, स्वः एवं अन्यान्य व्याहृति का मौलिक विश्लेषण मूल ग्रन्थ में द्रष्टव्य है। वहाँ देखोगे कि भूः=पृथिवी, स्वः=द्यौः। ये दो समीकरण दोनों व्याहृतियों के अर्थ-विशेष से ही बनाए जाते हैं। जो कुछ भी हो, सभी में 'पौजिटिव' (धन+) संयुक्त होने पर अविच्छेद से प्रत्यङ्मुखी धारा (शुक्ला सृति) होती है और निगेटिव (ऋण—) संयुक्त होने पर पराङ्मुखी धारा (कृष्णा सृति) होती हैं। विश्व में शुक्ला और कृष्णा धारा, पूरण और हरण प्रवाह का परस्पर मिश्रण एवं संकर (mixture and confusion) होते देखता हूँ। उन्हें शुद्ध रूप से नहीं पाता हूँ। इसलिए सर्वत्र धन-ऋण (plus+minus—) का आकर्षण है। शुक्ल एवं कृष्ण

ने मिल कर एक 'धूम्र'-धारा (प्राकृत-धारा) प्रवाहित कर रखी है। "ख्यात्यै तथैव कृष्णायै धूम्रायै सततं नमः"। उस धूम्र (कुटिल-जटिल गति, संकर छन्दः) प्रवाह के साथ ही जीव का साधारण परिचय और व्यवहार है। दो शुद्ध धाराओं के परस्पर वेध के कारण जो मलिन सँकर धूम्र धारा और जटिल संकर छन्दः है, उसी में जीव पतित हुआ है। अब जप का काम है—अन्नमय का जो शुद्ध सात्त्विक 'भाग' है, उसमें क्रिया (स्पन्दन) की सृष्टि करके उसे प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द के शुद्ध (positive) पक्ष में पहुँचा देना। इनमें से प्रत्येक की शुद्ध, अशुद्ध, दो दिशायें हैं। प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द की शुद्ध (positive) दिशा क्या है, वह भी गम्भीर भाव से चिन्तनीय है। जप भावरूप और ज्ञानरूप उत्कृष्ट भूमि में आरूढ़ होकर जीव को भीतर के नित्य प्रकाश और आनन्द धाम में पहुँचा देता है।

इस प्रकार समझ में आया कि इस संकर मलिन छन्द को शुद्ध उज्ज्वल छन्द में ले आने में ही कल्याण है। यह शुभ परिणाम (transformation) जिस छन्द द्वारा घटित किया जाता है, उसे कहते हैं मित्रच्छन्दः; जिससे रोध अथवा व्याहति होती है, उसे कहते हैं अरिच्छन्दः। फलस्वरूप जीव की महती विनष्टि होती है। संकरधारा के बीच-बीच कहीं-कहीं 'शान्तभूमि' (zone of placidity) मिलती है। वहाँ शुद्ध ऊर्ध्वाभिमुख धारा मानों एक बाहु प्रसारित कर देती है। वही बाहु होता है सेतु या 'सन्धि'। उस सन्धि को पकड़ पाने पर संकर के असामान्य खिंचाव से निकल कर शंकरधारा में (अनायास, अनामय, निरुपद्रव प्रशान्तवाहिता में) गिरा जा सकता है। उस सन्धि का सन्धान जो छन्द देता है, वही है मित्रच्छन्द। सृष्टि का चक्र घूम रहा है, जीव भी उसमें घूम रहा है। आवर्तन के बीच-बीच कहीं-कहीं एक 'अवकाश' (point of escape), व्यावृत्ति या आवृत्ति-वेग के सामयिक अभिभव (exhaustion) के कारण समावृत्ति (release और return) का एक बाहु (positive component) मानो आवृत्ति में से ही 'प्रकट' होता है—वहाँ एक 'अवकाश', 'सन्धि', 'शान्तिभूमि' की सृष्टि होती है। फलस्वरूप एक 'शुद्धोन्मुखता', प्रसाद-स्वच्छता,प्रकाशावरणक्षीणता, उज्ज्वलता आती है। आवर्त्त में पतित वस्तु अपनी आवर्त्तन-गण्डी (routine of life) को काट कर बाहर निकलने का सुयोग पाती है।

किन्तु साधारणतः अशुद्ध मलिन स्तरों (अन्न, प्राण, मन) में ही जीव का कारोबार (normal function) चलता है। इस धूम्र-धूसर स्रोत के संकर छन्दः (complex, confused rhytms या स्पन्दन) पाप्मा-विद्ध, असुरविद्ध, अव्यवसायात्मिक, ससंभावना, विपरीत-भावना से समाकुल हैं। जप इस संकर-क्षेत्र में एक मित्रच्छन्दः-शलाका (wedge) के रूप में प्रविष्ट होकर जटिल, कुटिल, संकीर्ण छन्दों

को तोड़ कर अमृत या मधुच्छन्द (शुक्ल+) के अंश को मृत्यु या विषच्छन्द (कृष्ण—) के आलिङ्गन से मुक्ति देता है, उसे शुद्ध भाव से सक्रिय बना देता है। यही संसृति का (घूम्रधारा का) 'मन्थन' है। इस मन्थन, शोधन, मोचन या मुक्ति का काम जप के स्पन्दनों से सिद्ध होने पर 'जपात् सिद्धिः' अवश्य ही होगी। गुरुगण संकर छन्द के बीच शलाका की भाँति प्रविष्ट होकर शुद्ध, उज्ज्वल, शंकर (शिव) छन्द को ग्रहण करने का उपाय कर देते हैं। इस मन्थन के प्रसाद से मलिन, मिश्र, संकर से उज्ज्वल, शुद्ध, शंकर भाग और 'विष' भाग से 'अमृत' अलग हो जाता है। इस मन्थन-क्रिया के साधक-बाधक के रूप में सुर-असुर (मित्रच्छन्द और अरिच्छन्द)—ये दो पक्ष(compcnents) युगपत् सक्रिय हैं। शुद्धधारा के आश्रय से अभिरोह (outgrowing ascent) होना हो तो मित्रच्छन्द का जयी होना आवश्यक है। जयी न होने पर अवरोह अथवा जाड्य (stagnation) होगा। मन्थन के अवसान में शिवशंकर फिर 'विष' को अलग नहीं करते, 'आत्मसात्' कर लेते हैं। तब वे द्वन्द्वातीत चिदानन्दैकरस हैं। कालियनाग का रहस्य भी चिन्तनीय है।

भूमिका के अन्त में मौलिक कथ्य

अन्त में कुछ स्मरण कराना उचित है। इतना 'ईन्धन' जुटा कर तब जप करना होगा। ऐसी स्थिति में जप को एक असाध्य साधन सोच कर भय ग्रस्त हो जाना उचित नहीं है। स्मरण रखना ही होगा कि उपयुक्त 'ईन्धन' के अभाव में कोई भी सिद्धि नहीं मिलती। जीवन की श्रेष्ठतम निधि की प्राप्ति के लिये "बिना पैसे लगे एक सहज मुष्टि योग बना लेना" अथवा 'पांच पैसे का एक सस्ता ताबीज बना लेना" और इन्ही से काम चला लेने की कल्पना करते लोगों को देखकर यह लगता है कि इससे महान् आश्चर्य और क्या होगा? 'किमाश्चर्यमतः परम्'। जिस परिमाण में लक्ष्य उच्च होगा, उसका साधन भी अनुपाततः उतना ही उच्च होना चाहिये। सर्वदेश और सर्वकाल में इस तथ्य का प्रमाण है साधकों का जीवन। उनमें कहीं भी, किसी भी क्षेत्र में, सस्ते में, किश्तों में हिसाब कदापि नहीं हुआ है।

कोई भी साधन सहज नहीं है। आरंभ सदोष तथा प्रयास बहुल होता है। बाधा और ग्रंथियां तो अन्त तक मार्गावरोध करती ही रहती हैं। उनका रूप बदलता जाता है। आरंभ का कठिन अब बाद में सरल लगने लगा, परन्तु वहां भी कभी-कभी एक नूतन और कठिन आकर अपनी झलक दिखला जाता है। गणित सीखें, चाहे जो क्यों न सीखें, सब कहीं ऐसा ही है। प्रथम शिक्षार्थी की बाधा कौन मिटाये? इतना जोड़-तोड़ करके जप किस लिये? 'उनके नाम में, दया में भरोसा करो, सरल बनों, शुद्ध बनों, ध्यान धरो-प्रेम करो' इन सबमें से कौन सा उपाय 'सहज' है, क्या बतला सकोगे? मन्तर-तन्तर क्या करते हो? जब तक 'मन मोर

तन तोर' नहीं, तबतक कुछ भी नहीं। सभी बातें उचित हैं, परन्तु क्या बातचीत से ही मामला तय हो गया ?

'बिना प्रेम न मिले नन्दलाला' परन्तु प्रेम मिलता है किससे ? कोई भी उपाय सहज नहीं है। बौद्धयुग से सहज अवस्था दिलाने वाला जो सहज साधन चला आ रहा है, वह स्वयं सहज नहीं है। इसकी अपेक्षा तो एक नियम से, विश्वास-पूर्वक जप करना अवश्य सहज लग रहा है।

सारांश यह है क्रियाप्रधान, भावप्रधान अथवा ज्ञानप्रधान रूप से चाहे जैसे साधना क्यों न हो वीर्यवत्तर होने के लिये विद्या (विधि-पद्धति), श्रद्धा तथा उपनिषत् (रहस्य) का यथारूप सम्मिलन कराना ही होगा, अन्यथा सिद्धि दुष्प्राप्य रह जाती है। इन तीनों का मूल है श्रद्धा तथा भाव। भाव की विद्यमानता से ही क्रिया 'स्वच्छन्द' स्थिति की ओर, अपने पथ की ओर चलेगी। नामग-अध्वग बनेगी। ज्ञान भी स्वच्छन्द में परमोपलब्धि तथा परमास्वादन प्राप्त कर सकेगा। धामग बनेगा। धृति तथा उत्साह के साथ पथ पर चलना ही होगा। परिपूर्ण उपलब्धि के अवरोधकों को एक के बाद एक हटाते हुये अग्रसर होना होगा। प्रारंभ में श्रद्धा तथा भाव दृढ़ नहीं रहता। आरंभ में रुचि तथा रति भी लज्जालु होती है। चल-चपल-चंचला (Fickle, Variable) होती है। अतः उसे एक ओर विद्या तथा दूसरी ओर उपनिषद् के सम्पुट में रखकर रक्षा करनी पड़ती है। जैसे चिड़िया अण्डे सेती है, वैसे ही इसकी सम्भावनाओं को से कर प्रस्फुटित करना पड़ता है।

इस ग्रंथ के ४।४।३० कारिकासूत्र में कल्पतरू की चर्चा अंकित है। श्रद्धा तथा भाव के द्वारा उसके मूल को अपना आश्रय बनाते हुये, निष्ठा के साथ उसके काण्ड (तनें) की शरण में जाना होगा। अब उसके काण्ड से दो 'साधिष्ठा' शाखायें निकलेंगी। प्रथम होगी उत्तरोत्तर उज्वल परिपूर्ण प्रकाश के प्रति उन्मुखता, द्वितीय होगी भावभक्ति अथवा भजन रस माधुरी की उत्तरोत्तर रसघन गाढ़ता ! ये शाखायें जिस सामरस्य में सम्मिलित हैं, वहीं से 'सान्द्रामुकुलमंजरी' का निर्गमन होता है। यहीं पर पूर्ण समापत्ति तथा सफलता आयत्त होती है। यह महोदय होने दो। आरंभ में ही अनावश्यक वृद्धि काटने के उद्येश्य से कुठारपाणि होना उचित नहीं है। अन्यथा कहीं अमृत कल्पतरू तुम्हारे लिये 'ठूंठ कल्पतरू' न हो जाये।

मान लो यह सब हो गया। अब जपकर्त्ता को समर्थ जप के लिये स्पन्दन तथा वीचिविज्ञान का 'बोद्धा' होना पड़ेगा। क्या यह कहकर साधना के साथ एक असंभव शर्त्त जोड़ दिया है ? वैसी कोई शर्त्त नहीं है। भारत में तानसेन तथा पश्चिम में वैग्नर, विथोवन, मोजर्ट जैसे प्रतिभावान् सुरशिल्पी शब्दविज्ञान (Acoustics) सूक्ष्मध्वनि विज्ञान (Supersonics), वीचिविज्ञान (वेव मैकेनिज्म)

का गंभीर अध्ययन किये बिना ही रह सकते हैं, परन्तु यह सत्य है कि उनका सुरशिल्प चाहे जैसा हो, इन्हीं विज्ञानों के आधार पर रचित है। अर्थात् **Melody, Harmony**, इत्यादि के सूत्रों के आधार पर ही उनका सुरशिल्प है, जबकि किसी ने भी उपर्युक्त विज्ञान समूह का अध्ययन ही नहीं किया है !

शरीर तथा जीव एवं जैवविज्ञान, जैवरसायन विद्या इत्यादि से अनभिज्ञ व्यक्ति भी स्वास्थ्यरक्षा और शरीर का सुपोषण कर लेता है, परन्तु स्वास्थ्य तो इन सभी विज्ञान समूह द्वारा निरूपित सूत्रों पर ही निर्भर है। अतः जपरूपी महाविज्ञान से अनभिज्ञ भी जप कर सकता है, तथापि विज्ञान ज्ञाता हो जाने से जप में सुविधा हो जाती है। तब अंधेरे में टटोल कर चलने की आवश्यकता नहीं रहती। फिर भी यह सत्य है कि जप के समय उसके पथप्रदीप को फिजिक्स की भाति गणितीय विश्लेषण अथवा प्रयोगशाला के यंत्रों द्वारा जांचने का कोई भी प्रयोजन नहीं है।

जप के समय जो प्रासंगिक विश्लेषण (रिलवेन्ट एनालसिस) है, वह मुख्यतः आश्रयगत (सब्जेक्टिव) है तथापि उसका विषयगत् (आब्जेक्टिव) ढाँचा अवश्य है। जप मूलतः स्थूल का अवलम्बन लेकर किया जा रहा अभ्यारोह कर्म है। यह अभ्यारोह घटित होता है साधक की अपनी स्पृहा (आकांक्षा) और उर्ध्वतन लोक के अनुग्रह जनित सुसंगत परिणय द्वारा। इस परिणय द्वारा जप भी छन्दोग होने लगता है। जिस परिमाण में जप स्थूल स्तर पर है, उसी परिमाण में वह स्थूल का शासन मान कर चलता है। वह शासन कैसा है, यह जानने में लाभ ही है। कारण यह है स्थूल का अतिक्रमण जो करना है। जिसका अता-पता नहीं मालूम, उससे कैसे बचूंगा ? और बचकर निकलना कैसा ? मैं तो उसे भी, उसके स्थूल छन्द के शासन को भी अपने निजी छन्द में ही प्राप्त करूँगा।

जब जप प्राण-मन-विज्ञान तथा आनन्द की भूमि में जाता है, तब वह उनके अपने-अपने ऋत (Law) अथवा नियमों को भी अपना मित्रछन्द बनाता चलता है। इसके लिये मूल में श्रद्धा और भावभक्ति आवश्यक है। वहाँ विद्या, एवं उपनिषद् का भी साक्षात् प्रयोजन है। इस क्रिया के फल से इस जगत से एक-एक सेतु द्वारा उत्तीर्ण होते-होते-नूतन-नूतन अनुभूति के जगत् में गन्तव्याधिकार मिलने लगता है। यदि हम इस प्राकृत अनुभूति को 'भूः' संज्ञा प्रदान करें, इससे अतीत दिव्य अनुभूति तथा दैवी सम्पत्ति को 'स्व' कहें, तब दोनों का सेतु हैं भुवः'। ये हुये तीन भूः भुवः स्वः। अब जो दैवी सम्पदा की पराकाष्ठा है, वह है 'तुरीय'। इस प्रकार जप चतुःष्पात् है। सेतु तो पग-पग पर पार करना होगा। एक-एक सेतु पार होने पर आगे का वातावरण बदल जाता है। जहाँ प्रारंभ में विधिनिषेधात्मक नागपाश था, सेतु पार करके देखता हूँ कि नागपाश शिथिल हो चला है। एक स्वतःस्फूर्त

उन्मेष के राज्य में आ पहुँचा हूँ। और बढ़ो, सेतु पार करो। कृपा का जो संधान पूर्व में कुंठित प्रतीत हो रहा था, वह अब उन्मुक्त है। पूरा-पूरा मिल रहा है। ऐसे ही चलना होगा। पूर्व-पूर्व भूमि के नियम आगे की भूमि में कैन्सिल नहीं हो जाते, बदल कर एक और प्रकार के हो जाते हैं। वे 'तनुरजाः' एवं 'सत्वविशाल' हो जाते हैं। अच्छा ! क्या यह यात्रा मेरी है अथवा तुम्हारी ?

"यावन्नद्या नदीनाथे नैकान्तिक समर्पणम् ।
मामकस्तावकस्तावदुच्छ्वासो वेति जल्पना ॥"

(जपसूत्र कारिका)

नदीनाथ (सागर) में एकान्तिक समर्पण से पूर्व नदी सोचती है कि 'मेरे हृदय का उच्छ्वास क्या मेरा है या तुम्हारा ? किन्तु पूर्ण समर्पण में ?

—०—

ॐ

श्रीश्रीगुरुपादाब्जदल पञ्चकम्

तिस्रो मात्राः प्रसन्नास्त्रितयमपि भृशं घ्नन्ति शिष्ये मलानां
कोशा निर्म्मोकजाड्यं जहति च विमला भर्गसे भान्ति पञ्च ।
सेतुर्योऽप्यर्द्धमात्रा नयति च परमं व्यक्तमव्यक्तभावं
मात्राक्लृप्तस्त्वमात्रो नियत उरुयशाः श्रीगुरुस्तारमूर्त्तिः ॥१॥

अन्वय—उरुयशाः (श्रेष्ठ यश से मण्डित) श्रीगुरुः, तारमूर्त्तिः ('तार' अर्थात् प्रणव की मूर्त्ति हैं) तिस्रो मात्राः ('अ' 'उ' एवं 'म्' ॐकार की तीन मात्राएँ) प्रसन्नाः शिष्ये मलानां त्रितयमपि (प्रसन्न होने पर शिष्य के स्थूल, सूक्ष्म और कारण मल, अथवा अणु, तनु, और पृथु मल को) घ्नन्ति (नष्ट करती हैं) पञ्च कोशाः (ॐकार की पाँच मात्रा) निर्म्मोकजाड्यम् (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय रूपी कोषों की जड़ता) जहति (दूर करती हैं); विमलाः (मात्राः) भर्गसे (विशुद्ध ब्रह्मवर्चस् के लिये) भान्ति च (प्रकाशित होती हैं अर्थात् 'भर्गस्' को प्रकाशित करती हैं); यः अपि अर्द्धमात्रा नियतः सेतुः परमं व्यक्तमव्यक्तभावं च नयति (ॐकार की अर्धमात्रा व्यक्त में से अव्यक्त तत्त्व में ले जाने का सेतु है, मात्रा-ग्राह्य या व्यक्त एवं मात्रातीत या अव्यक्त के मध्य में स्थित है ॐकार की अर्द्धमात्रा) मात्राक्लृप्तः (अ, उ, म्—इस त्रिमात्रा द्वारा गृहीत) तु अमात्रः (मात्रातीत) (ये विशेषण—'मात्राक्लृप्त' और 'अमात्र' 'अणव' और 'गुरु', दोनों के साथ जायेंगे) ॥१॥

भाष्य—श्रीगुरु 'तार' अथवा प्रणव अथवा ॐकार की मूर्ति हैं। ॐकार की तीन मात्रायें अ, उ, एवं म् यदि प्रसन्न हों तब शिष्य के विविध मल—अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म, कारण मल, अथवा अणु, तनु एवं पृथु मल, अथवा तन्त्रोक्त आणवादिक संज्ञाओं से निर्दिष्ट त्रिविध मलों का नाश कर देती हैं। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय—इन पञ्चकोशों की जड़ता का परिहार घटित कर के अतिविशुद्ध ब्रह्मवर्च्चस् अथवा तेज को प्रकाशित कर देती हैं।

ओंकार की अर्द्धमात्रा व्यक्त से अव्यक्त तत्त्व की ओर ले जाने के लिये सेतु-स्वरूपिणी है। इस अर्द्धमात्रा का आश्रय लिये बिना किसी प्रकार भी परम अव्यक्त तत्त्व में प्रवेश नहीं पाया जा सकता। एक ओर व्यक्त रूप अ, उ, म्—त्रिमात्रा द्वारा गृहीत होता है और दूसरी ओर परम अव्यक्त अमात्र या मात्रातीत है, अर्थात्

जो किसी मात्रा द्वारा गृहीत नहीं होता—इन्हीं दोनों के मध्यस्थल में अवस्थित है ॐकार की अर्द्धमात्रा। यह नित्य एवं विशेषरूपेण अनुच्चार्य है। यह दोनों का संयोगकारक सेतु है। अर्थात् इसका आश्रय लेने पर ही व्यक्त से अव्यक्त का लाभ होता है।

ॐकार में छन्दः, प्रयोग आदि सब हैं एवं उसी से उत्पन्न ब्रह्माण्ड सम्पुटित रहता है—इस प्रकार कही जाने वाली ॐकार की शक्ति सामान्य व्यक्ति को दृष्टि-गोचर नहीं होती, किन्तु श्रीगुरुरूप में प्रकट प्रणवमूर्त्ति नियत यशोमण्डित है। उस में समस्त शक्तियाँ सम्यक् रूप से प्रस्फुटित हैं। वे सर्वलोकनयनगोचर हो कर अपनी अनन्त महिमा का ख्यापन करते हैं। ॐकार का यह प्रकृत (गुरुरूप) स्वरूप मात्रातीत अथवा अमात्र है। इस मात्रातीत स्वरूप को अक्षुण्ण रखते हुए ही वह (ओङ्कार) त्रिमात्रा एवं अर्धमात्रा में क्लृप्त अथवा कल्पित है।

ॐकार की त्रिमात्रा, अर्द्धमात्रा एवं अमात्रा—इस पञ्चावयव के साथ श्रीगुरु की अभिन्नता का निर्देश ही इस प्रथम श्लोक का अर्थ है ॥१॥

गन्धेन स्थूलसूक्ष्मं यदशितमितरद् वा पुनीतेऽसवश्च
यस्यास्याब्जप्रकाशादमृतरसकणैराचरन्तीह साधु।
रूपं चेतः पुनीते रुतिरवति धियं स्पर्श आनन्दमात्रा
गन्धाद्यैः पञ्चशुद्धीर्वहति स परमोऽस्पर्शशब्दादितत्त्वः ॥२॥

अन्वय—स्थूलसूक्ष्मम् यदशितम् ('भोग्यम्'—स्थूल-सूक्ष्म जो भोग है, उसे और) इतरद् वा (इतर जो कुछ है, उसे) [तद् यः] गन्धेन पुनीते (गन्ध से शुद्ध करता है); यस्य आस्याब्जप्रकाशात् (जिनके मुखकमल के प्रकाश से) अमृत-रसकणैः (श्रीगुरु के मुखकमल से क्षरित अमृत-रस-कणों के द्वारा) असवश्च इह साधु आचरन्ति (प्राण की शुद्धि होती है और वे शुद्ध आचरण करते हैं); रूपं चेतः पुनीते (जिन का रूप चित्त को शुद्ध करता है); रुतिः धियम् अवति (जिनका वाक्य धी अर्थात् बुद्धि की रक्षा करता है); स्पर्शः आनन्दमात्राः [अवति]; (जिनका स्पर्श आनन्दमात्रा का पोषण करता है); गन्धाद्यैः पञ्च-शुद्धीः वहति (इस प्रकार गन्धादि से जो पञ्च शुद्धि का वहन करता है) स परमः अस्पर्शशब्दादितत्त्वः (वह शब्द अस्पर्श आदि तत्त्वमय है)। ॥२॥

भाष्य—श्री गुरु की दिव्य अङ्गगन्ध समस्त इन्द्रियवर्ग के स्थूल व सूक्ष्म भोग्य को शुद्ध करती है। जो अन्न-रूप में खाया या पिया जाता है, केवल वही नहीं, अन्याय इन्द्रियो द्वारा भी जिन का आहरण किया जाता है, वह समस्त आहार ही श्रीगुरु की दिव्य अङ्गगन्ध द्वारा शोधित हो जाता है। समस्त इन्द्रियवर्ग की आहार

शुद्धि ही श्रीगुरु के दिव्य अङ्गगन्ध के आस्वादन का फल है, यह क्षितितत्त्व की शुद्धि है।

श्रीगुरु के वदनकमल का जो मधुर हास्य है, उनके नयनकमल की जो प्रसन्न (प्रसादमय) दृष्टि है, उनके मुखकमलावयव की जो स्निग्ध, शान्त, मधुर भङ्गी है—ये सभी जिस अमृतरस का क्षरण करते रहते हैं, उन के द्वारा शिष्य का आचार शुद्ध हो जाता है। तव वह साधु, शोभन अनुष्ठान करने में प्रवृत्त होता है। श्रीगुरु की परम सुन्दर, परम रमणीय, शुद्ध, मधुर, विमोहन भङ्गी के दर्शन से प्राण पुलकित एवं शुद्ध होते हैं। प्राणशुद्धि के फल से समस्त आचार, अनुष्ठान पवित्र हो जाते हैं। जिसने एक बार श्रीगुरु की प्रसन्न भङ्गिमा का दर्शन किया है, उनके प्रसाद का अनुभव किया है, जिस ने श्रीगुरु के मुखकमल से क्षरित अमृत-रस-कणों के पान का आस्वादन पाया है, उसके द्वारा असाधु, अशोभन कर्म अनुष्ठित हो ही नहीं सकते। यह अप् तत्त्व की शुद्धि है।

श्रीगुरु का विश्वविमोहन रूप जिसके मन में प्रतिफलित होता है, जो सर्वदा उसी मनोहर मूर्त्ति का ध्यान करता है, जिसका चित्त उसी शुद्ध अपापविद्ध परम पवित्र मूर्त्ति द्वारा सर्वदा भरित रहता है, उसके विचार तथा चित्त शुद्ध हो जाते हैं। अन्य कोई भी चिन्ता या विचार उसके मन में स्थान पाते ही नहीं। श्रीगुरु की विशुद्ध मूर्ति के ध्यान में उसका मन निविष्ट रहता हुआ पवित्र हो जाता है। यह तेजस् तत्त्व की शुद्धि है।

श्रीगुरु के मुखनिःसृत वाक्यों द्वारा शिष्य की धी अर्थात् बुद्धि बढ़ती है। श्रीगुरु ही सर्व धी साक्षी हैं। श्रीगुरु के वाक्य द्वारा, उपदेश द्वारा शिष्यों की बुद्धि सत्पथ पर चालित होती है। श्रीगुरु का वाक्य ही महामन्त्र है। मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यम्। श्रीगुरु का वाक्य, उनका उपदेश हृदय में रह कर बुद्धि का प्रेरक बनता है। बुद्धि को शुद्ध करने में, प्रस्फुटित करने में श्रीगुरुवाक्य की भाँति शक्तिधर और कोई नहीं है। श्रीगुरु का वाक्य हृदय में धारण करने पर बुद्धि विपथ पर चालित या प्रचारित नहीं हो सकती। श्रीगुरुवाक्य ही आचारशुद्धि का हेतु है। यो बुद्धेः परतस्तु सः—बुद्धि के पार जो परतत्त्व है, उसकी उपलब्धि का उपाय भी गुरुवाक्य से ही होता है। यह आकाश-तत्त्व की शुद्धि है।

उसके पूर्व, श्रीगुरुपादपद्म का दिव्य स्पर्श शिष्य के सर्व्वाङ्ग में आनन्दलहरी उत्पन्न कर देता है। श्रीचरणस्पर्शमात्र से ही शिष्य मानो एक दिव्य आनन्द, एक मधुर सिरहन, एक दिव्य पुलक का अनुभव करता है। मानो एक शक्ति का संचार इस स्पर्श के फलस्वरूप घटित होता है। जीव की स्वाभाविक आनन्दमात्रा के पोषण और परिपूरण में यह सर्वोत्तम है, यही वायुतत्त्व की शुद्धि है।

यद्यपि श्रीगुरु की यह अङ्गगन्ध, मुखपद्म के अमृतरस-कण, अपरूप रूप, शुद्ध शान्त हृत्कर्ण-रसायन शब्द आनन्दमय स्पर्श आहार, आचार, विचार, प्रचार तथा सञ्चार की पञ्चविध शुद्धि करते हैं; परमार्थतः श्रीगुरु अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अगन्ध, अरस अर्थात् ब्रह्मस्वरूप ही हैं। इससे मूल शुद्धि अर्थात् मूला अविद्या की शुद्धि होती है। श्रीगुरु-तत्त्व में शुद्ध सच्चिदानन्द तत्त्व का पर्यवसान होने पर भी श्रीगुरु भगवान् के प्रकृतित्रय (अपरा, परा, परमा), शक्तित्रय (अन्तरंगादि) के त्रिवेणीसंगम हैं। अतः स्थूल से परम पर्यन्त सभी 'ग्रामों' में गुरु-तत्त्व का प्रकाश एवं प्रभाव है। कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।

अतएव मूलसहित पञ्चशुद्धि के कारक श्रीगुरु हैं, यही इस द्वितीय श्लोक में दिखाया गया है ॥२॥

वाग्बुद्धिप्राणमूलं गमयति कृपणं भ्रष्टमूलं गवर्णो
मूर्द्धन्येनापि धाम्ना रसयति विधुरं क्षय्यतृष्णं रकारः।
उच्छेदं मोहमूलं विमलसमुदयं नेष्यतो द्वावुवर्णौ
हीयात् शीर्णं श्रियै श्रीः परममुपरमं श्रीगुरौ यो विसर्गः ॥३॥

अन्वय—श्रीगुरौ ('श्रीगुरौः' इस पद में) गवर्णः (गकार) भ्रष्टमूलं (मूल से भ्रष्ट हुए) कृपणं (दीन जीव को) वाग्बुद्धिप्राणमूलं (वाक्, बुद्धि और प्राण के मूल में स्थित आत्मतत्त्व को) गमयति (प्राप्त कराता है); रकारः क्षय्यतृष्णं ('क्षय्य' विषयों में तृष्णायुक्त को अथवा 'क्षयि+अतृष्ण'—'क्षयी' विषयों में जिसकी तृष्णा क्षयप्रवण हो चुकी है ऐसे जीव को) विधुरं (कातर जीव को) मूर्धन्येनापि धाम्ना (मूर्धस्थित तेज के द्वारा) रसयति (संजीवित करता है); द्वौ उवर्णौ (दो उवर्ण) मोहमूलम् उच्छेदं विमलसमुदयं (मोह के उच्छेद एवं विमल ज्ञान के उदय को) नेष्यतः (प्राप्त करायेंगे); श्रीः शीर्णं ('श्री' शीर्णं या श्रीहीन जीव को) श्रियै नीयात् (श्री प्राप्त कराए); यः विसर्गः [सः] परमम् उपरमं [नीयात्] (विसर्ग समस्त प्रपञ्च का उपशम करे) ॥३॥

भाष्य—'श्रीगुरुः' पद में पाँच वर्ण हैं। श्री, ग्, उ, र्, उ एवं विसर्ग। दोनों 'उ' को एक ही वर्ण मानना होगा। गकार का उच्चारण-स्थान है जिह्वा-मूल। यह क्या सूचित करता है? मूल से भ्रष्ट दीन जीव को वाक्, बुद्धि और प्राण के मूल मे जो श्रुतिसिद्ध आत्मतत्त्व स्थित है, उस आत्मतत्त्व की प्राप्ति कराता है यह गवर्ण; और रकार का उच्चारण-स्थान मूर्धा है, इसलिए यह मानो बताता है कि 'गुरु'-शब्दस्थ रकार क्षयशील विषय में तृष्णायुक्त, अथवा जिसकी तृष्णा क्षय-प्रवण हो गयी है, ऐसे कातर जीव को मूर्धास्थित तेजः या प्रकाश द्वारा संजी-

वित करता है। दोनों उकारों में से एक, मोह के मूल में जो अविद्या है, उसे उत्पाटित करता है अर्थात् समूल विनाश करता है, और दूसरा विमल ज्ञान का उदय कराता है। एक उकार द्वारा अज्ञान का उच्छेद और दूसरे उकार द्वारा ज्ञान का उदय समझना चाहिये। इसके द्वारा एकभक्तिरूप उत्कृष्ट ज्ञान को समझना होगा। उकार की यह द्विविध वृत्ति है। उकार का उच्चारण-स्थान है ओष्ठ। इस ओष्ठ के द्वारा ही सब वर्ण नियन्त्रित हैं। अर्थात् ओष्ठ के द्वारा किसी-किसी स्थल में वर्ण छिन्न (inhibited) होते हैं, उसके द्वारा ही वर्ण का बहिःप्रकाश या उदय (exhibition या expression) भी होता है। ओष्ठ हमारे मुख में (एवं लक्षणा से सृष्टि में सर्वत्र) valve की तरह काम करता है। सब कुछ की गतागति यही नियन्त्रित करता है।

यहाँ यह भी लक्ष्य करना होगा कि 'नेष्यतः' पद में भविष्यत्काल के प्रयोग द्वारा यह दिखाया गया है कि अज्ञान + उच्छेद और ज्ञान + उदय बाद में क्रमशः होगा। किन्तु प्रथम दो पदों 'गमयति' 'रसयति' में वर्तमान काल के प्रयोग द्वारा समझाया गया है कि वृथा, अमूलक वस्तु के पीछे भ्राम्यमाण जीव का मूलाभिमुख में गमन और विषयतृष्णाकातर जीव का दिव्यरसास्वादन, ये दोनों श्रीगुरुकृपा-लाभ के साथ-साथ ही घटित होते हैं।

आदि में 'श्री' शब्द, जो शीर्णता के कारण श्रीहीन हो गया है, श्रीसम्पन्न सौन्दर्यमण्डित कर देता है—उसे समझाता है। 'श्रीगुरुः' पद में सबके अन्त में विसर्ग है। उसके द्वारा समस्त प्रपञ्च का उपशमात्मक परम उपरम या 'शान्तं शिवम् अद्वैतम्' रूप परम तत्त्व सूचित होता है। तदनुसार 'श्रीगुरुः' पद के पाँच वर्ण क्रमशः १—मूलतत्त्वप्रापण (गमयति), २—तेजःसञ्चार, बलाधान (रसयति), ३—अज्ञान का उच्छेद एवं ज्ञान का उदय, ४—अभ्युदय (श्री) और ५—उपशमात्मक ज्योतिरसाभिन्न परम मुक्ति निःश्रेयस् (विसर्ग)—इन पाँच को सूचित करते हैं। 'श्रीगुरु' मन्त्र अथवा शब्द में ही इतना अपूर्व रहस्य है।।३।।

प्रत्यङ्निष्ठः स धीरः परिहरति सनात् सङ्ग्रहाद् वै पराञ्चि
यस्याङ्गीकारलेशात् प्रभवति विशदं ब्रह्मसौख्यं च दौःस्थ्ये।
लीयेतामूर्तमात्रं घटपटविषयं विग्रहाद् यस्य मूर्तं
कारुण्येनावतीर्णं जयतु शिवगुरोरङ्घ्रिजं पञ्चगङ्गम् ।।४।।

अन्वय—(शिष्य, श्रीगुरु की शक्ति से, उनकी) संग्रहात् (संग्रहशक्ति के कारण) प्रत्यङ्निष्ठः (अन्तर्मुख, एवं) धीरः (धीर हो कर) पराञ्चि (बाह्य विषयों को सनात् (सदैव) परिहरति (छोड़ देता है)। यस्य (जिन श्रीगुरु के) अङ्गीकार-लेशात् (स्वीकार-मात्र से, शिष्य-रूप में परिग्रह-मात्र से) दौःस्थ्ये (दुर्दशाग्रस्त

स्थिति में) विशदं (प्रसन्न) ब्रह्मसौख्यं (ब्रह्मानन्द) प्रभवति (प्रभावित होता है); यस्य (जिन श्रीगुरु की) विग्रहात् (विग्रहशक्ति-द्वारा, शरीर धारण कर लेने से) घटपटविषयं (घटादिसम्बन्धी) मूर्तं (दृश्य) अमूर्तमात्रं (अमूर्त की स्थिति में) लीयेत (लीन हो जाय, उन श्रीगुरु का) कारुण्येन (संग्रह, प्रतिग्रह, विग्रह, एवं परिग्रह, इन सब अनुग्रह-शक्ति की लीलाओं द्वारा) अवतीर्ण (उत्पन्न) शिवगुरोः (शिव-रूपी गुरु के) अङ्घ्रिजं (चरण से उत्पन्न) पञ्चगङ्ग (संग्रह, प्रतिग्रह, विग्रह, परिग्रह एवं अनुग्रह-रूप पञ्चगङ्गा) जयति (सर्वोत्कर्षशील है, अर्थात् श्रीगुरु की यह शक्तिधारा भी परम-पावनी मन्दाकिनी धारा के समान ही शुद्ध करने वाली है)।

भाष्य—श्रीगुरु-शक्ति पराङ्मुखी अथवा बहिर्मुखी समस्त वृत्तियों को प्रत्यङ्मुखी अथवा अन्तर्मुखी करके शिष्य को धीर बना देती है, जिससे वह बाहर के विषयों में आवृतचक्षुः (ढकी हुई आँख वाला) हो कर अन्तरात्मा का, प्रत्यगात्मा का दर्शन करने में समर्थ होता है और अमृतत्व-लाभ कर सकता है। बाहर बहुदिशाओं में प्रसारित, बहु-विषयों में प्रधावित, शक्ति-निचय को संग्रह-शक्ति द्वारा श्रीगुरु प्रत्यङ्मुखी कर देते हैं। दुर्दशाग्रस्त दुःस्थ जीव को शिष्यरूप में अङ्गीकार ही करके उसे परम प्रसन्न, ब्रह्मानन्द के अनुभव योग्य बना देते हैं। शिष्य-रूप में इस स्वीकार या प्रतिग्रह के द्वारा, इस अङ्गीकार के लेशमात्र द्वारा, त्रिविधताप-क्लिष्ट दुःखतप्त जीव को सर्वोत्तम भजनानन्द एवं अपार ब्रह्मानन्द के अनुभव योग्य बना देते हैं। यही उनकी प्रतिग्रह-शक्ति की महिमा है।

श्रीगुरु अपनी विग्रहशक्ति द्वारा मूर्त हो कर, प्रकट रूप में दिखाई दे कर, अर्थात् देह रूप विग्रह धारी बन कर मूर्त या स्थूल घट-पट आदि विषय को अमूर्त परम-तत्त्व में लीन करा देते हैं। स्वयं स्वरूपतः अमूर्त होते हुए भी मूर्ति धारण करके, मूर्त को अमूर्त में ले जाने का कारण बनते हैं। ऐसा ही उनका मूर्ति-धारण का विचित्र रहस्य है। जो मूर्ति धारण करते हैं—वह भी अमायिक, अप्राकृत है।

मूर्त्त-विग्रह के रूप में उनका यह अवतरण ही उनकी परिग्रहशक्ति है। श्रीभगवान् के अवतार रूप परिग्रह नैमित्तिक हैं, किन्तु श्रीगुरु का विग्रह में रूप में अवतरण नित्य है। 'कालेनानवच्छेदात्'। 'मद्गुरुः श्रीजगद्गुरुः'।

उनका संग्रह, प्रतिग्रह, विग्रह, परिग्रह सभी कुछ उनकी करुणा है, उनकी अनुग्रहशक्ति की ही लीला है, अनुग्रहशक्ति का ही रूपायण है।

शिव के मस्तक से माँ गङ्गा का प्रादुर्भाव हुआ, किन्तु शिव की प्रकट-मूर्ति श्रीगुरु के श्रीचरण से ही गङ्गा का उद्भव है। हर-जटाजाल से तो एक ही गङ्गा की उत्पत्ति है, परन्तु यहाँ साक्षात् शंकर मूर्ति श्रीगुरु के श्री पादपद्म से पंचगंगा का आविर्भाव हुआ है।

संग्रह, प्रतिग्रह, विग्रह, परिग्रह और अनुग्रह पंचशक्तिरूपा पञ्चगंगा, श्रीगुरु की शक्तिधारा है। परमपावनी मन्दाकिनी धारा के समान ही शुद्ध करने वाली है ।।४।।

भारं कर्मार्पितमतिगुरुं घोरतादिप्रवृद्धं
मग्नामूर्वीमिव पयसि यो लीलयाऽप्युद्दिधीर्षुः ।
धत्ते बीजं श्रुतिपथचरं वर्चसे चात्ममन्थं
क्लेशव्यूहच्छिदुरुमखभृच् श्रीगुरुः पञ्चमूर्तिः ।।५।।

अन्वय—पञ्चमूर्तिः (मीन, वराह, कूर्म, नृसिंह एवं वामन इन पाँचों अवतारों के प्रकट रूप) यः श्रीगुरुः (जो गुरुदेव), कर्मार्पितं (अनन्त जन्मार्जित कर्मों के कारण) अतिगुरुं (अत्यधिक) घोरतादिप्रबृद्धं (घोरता, मूढ़ता प्रभृति गुणों के द्वारा बढ़े हुए) भारं (शिष्य पर के भार को), पयसि (समुद्र-जल में) मग्नां (डूबी हुई) उर्वीं (पृथ्वी को—भगवान् वराह की भाँति) लीलया (अनायास) उद्दिधीर्षुः (उद्धार करना चाहते हैं—उद्धार करते हैं); [मत्स्यावतार की भाँति] श्रुतिपथचरं (कर्णपथ में) बीजं (बीज मन्त्र को) धत्ते (धारण करते हैं); [जिस प्रकार कूर्म अवतार में भगवान् ने समुद्र का मन्थन-दण्ड स्वयं धारण किया था, उसी प्रकार श्रीगुरु भी] वर्चसे (ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति के निमित्त), आत्ममन्थं (शिष्य की आत्मा का मन्थन करने के लिये दण्ड) [धारण करते हैं], [पुनः जिस प्रकार भगवान् ने नृसिंह अवतार में पृथिवी का पाप हरण किया, उसी प्रकार श्रीगुरु शिष्य के] क्लेशव्यूहच्छिद् (पञ्चक्लेश की समष्टि का निःशेष, विनाश करते हैं); [वामन अवतार में भगवान् ने जिस प्रकार बलि के यज्ञ का पालन किया था, उसी प्रकार श्रीगुरु भी शिष्य के अभ्युदय के लिए] उरुमखभृत् (विस्तीर्ण यज्ञ का पालन करते हैं) ।।५।।

भाष्य—जब शिष्य अनन्त जन्मार्जित कर्मों के गुरु-भार से बिल्कुल अतल जलधि-जल में डूब रहा होता है, धीरता, मूढ़ता प्रभृति गुणों के द्वारा यह कर्म-भार जब क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होता रहता है, तब प्रलय-पयोधि-जल में पृथ्वी के मग्न हो जाने के समय श्रीभगवान् ने वराहरूप में अवतीर्ण होकर जैसे दंष्ट्रा द्वारा वसुन्धरा को ऊर्ध्व में धारण किया था, वैसे ही श्रीगुरु भी गुरु-भाराक्रान्त पृथ्वी की भाँति अनन्त भाराक्रान्त शिष्य को 'लीलया' अर्थात् अनायास अथवा करुणावशतः ऊर्ध्व में धारण करते हैं, उसका उद्धार करते हैं।

श्रीगुरु श्रुति पथ में बीजमन्त्र धारण करते हैं। इस मन्त्र से ही आत्म-चैतन्य उद्भासित होता है। मीन अवतार में श्रीभगवान् ने समस्त पृथ्वी का बीज धारण किया था। उसी से समस्त पृथ्वी पुनः आविर्भूत हुई थी, श्रीगुरु भी उसी

प्रकार इस बीजमन्त्र को धारण करते हैं और उसे शिष्य के श्रुति-पथ का गोचर बनाते हैं। इस बीज से भी मूलतत्त्व आविर्भूत होता है। (यहाँ पृथ्वी 'earth' नहीं है। पृथु अर्थात् विस्तारित भाव से रहने वाली 'भूमि' ही पृथ्वी या पृथिवी है)। आत्मवस्तु सर्वदा विद्यमान है, तथापि उसका मानो बीजमन्त्र से आविर्भाव होता है। उपलब्धि ही उसका आविर्भाव है। समस्त सृष्टि भी बीजाकार में रहती है, बाद में इस बीज से पुनः आविर्भूत होती है।

कूर्म्म अवतार में श्रीभगवान् ने समुद्रमन्थन के समय मन्थनदण्ड धारण किया था। श्रीगुरु भी उसी प्रकार ब्रह्मवर्च्चस् प्राप्ति के निमित्त शिष्य आत्मा का मन्थन करने का दण्ड स्वयं धारण किये रहते हैं।

नृसिंहावतार में श्रीभगवान् ने जैसे हिरण्यकशिपु को विदीर्ण करके पृथिवी का पाप-हरण किया था, तदनुरूप श्रीगुरु भी शिष्य के क्लेश-व्यूह अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष ओर अभिनिवेश रूपी पंच क्लेश की समष्टि का निःशेष रूप से विनाश करते हैं।

वामनावतार में श्रीभगवान् ने उरुक्रम से जैसे बलि के यज्ञ का भरण किया था; उसी प्रकार श्रीगुरु भी शिष्य के, 'उरु' विस्तीर्ण पद अर्थात् अभ्युदय-लाभ के लिये जो 'मख' अर्थात् यज्ञ है उनका भरण-पालन किया करते हैं।

इस प्रकार शिष्य के ऊर्ध्वधारण, उसके बीजमन्त्र का संरक्षण, उसका मन्थन दण्ड-धारण, उसका क्लेश-विदारण एवं स्वाध्यायादि यज्ञभरणरूप पञ्चकर्म के द्वारा श्रीगुरु की एकाधार में वराह, मीन, कूर्म्म, नृसिंह और वामन—इन पच अवतारों की प्रकट मूर्ति दिखाई गई।

मन्तव्य—'ऊँकार' शब्द को अनेक स्थलों पर इस प्रकार लिखने का कारण है—शेषप्लुत ध्वनि का निर्देश। अर्थात् मकार पर ही जाकर प्रणव की ध्वनि सहसा विराम नहीं पाती, पुनश्च 'भर्ग' शब्द को अकारान्त न करके सकारान्त करने से मूलीभूत प्राण के प्रयत्न-विशेष की आकृति (Pranic function pattern) सुस्पष्ट निर्दिष्ट होती है। वेदादि मन्त्रशास्त्र में इस प्रकार की 'मूल आकृतियाँ' देखने में आती हैं। लौकिक प्रयोग में शक्ति और आकृति का सङ्कोच देखा जाता है।

श्रीगुरुपञ्चक में जो 'अर्द्धमात्रा' है, वह जपसूत्र में विशेष सूत्र द्वारा लक्षित है। कारिकाओं में उसकी आलोचना की गई है। यह एक मौलिक रहस्य है। 'अर्द्ध' का अर्थ 'आधा' नहीं है। यहाँ एक परिचय श्लोक सानुवाद दिया जाता है, जिसकी बाद में विशेष व्याख्या होगी:—

अव्यक्तस्फोटयोनिः स्फुटमुदयमिता चोर्म्मिरूपास्ति मात्रा
स्फोटञ्चाव्यक्तमाप्ता स्वरसलिलचये वीचिविश्रान्तिमेति।

व्यक्तेर्ग्रामानतीत्य प्रसरति तनुगा यध्यमाना स्ववृत्तौ ॥
द्वे काष्ठे नादबिन्दू त्वसकलयुगला साऽर्द्धमात्रा ह्यमात्रम् ॥

हमारे बोध में जो अव्यक्त है, किन्तु पूर्ण बोध में जो नित्य अकुण्ठित स्फुटीभाव (स्फोट) है, वह एक निस्तरङ्ग, अगाध महोदधि के समान है। अथच विश्वबोध में असंख्येय शब्द, अर्थ और प्रत्यय के रूप में वह पुनः तरंगायित भी हो रहा है। अव्यक्त स्फोट के आधार पर ऊर्मिरूप से उत्पन्न हो कर जो स्फुट आकार में उदित होती है, उसे मूल आकृति के भाव से (as Pattern) देखने पर 'मात्रा' कहा जाता है। सब कुछ ही मूलतः स्पन्द एवं ऊर्मि के रूप में उदित हो रहा है। उदित होने पर उसे अपने वीचि-रूप की विश्राम-भूमि कहाँ मिलती ? निखिल अभिव्यक्ति स्वरादि का 'सलिलचय' लीनता का स्थान जो अव्यक्त स्फोट है, उसी को वह पुनः प्राप्त होता है। जिससे उत्पत्ति होती है, उसी में लौट कर शांत हो जाता है। इस उत्थान एवं अवसान के मध्य में जो अभिव्यक्ति है, वह नाना 'ग्राम' में नाना परदों में हो रही है। जब किसी भी 'ग्राम' में अभिव्यक्ति होती है, तब उस 'ग्राम' के ऊर्ध्व एवं अधः (ultra एवं infra) रूपी उभय दिशा में अतिक्रम करके मात्रा (maasure Principle) सूक्ष्म-गति (तनुगा) होकर स्वकीय वृत्ति में (स्वकीय सामर्थ्य और छन्द में) 'ऋध्यमान' होती रहती है। ऋध्यमानता (Progression) की दोनों दिशाओं में सीमा (काष्ठा) है—पहली सीमा है विस्तार की दिशा में (नाद), दूसरी है केन्द्रीण घनीभाव की दिशा में (बिन्दु)। दोनों काष्ठाओं की अभिमुखी असंख्य अभिव्यक्त 'कला' में मात्रा की इस प्रकार ऋध्यमानता है अर्द्धमात्रा।

अर्द्धमात्रा एक ओर नाद और दूसरी ओर बिन्दु तक ऋध्यमानता का परिपूर्ण रूप है। पुनः 'असकलयुगला' अर्थात् नाद विन्दुकलातीत रूप से यह 'अमात्रं' मात्रातीत है ॥५॥

—

उपोद्घातः

[भूम-स्तुतिः]

नास्त्यस्तीति प्रतीतौ नियतमनुगतं श्रौतसत्यं ह्यनन्तं
भानेऽभाने विभाति प्रतिपदविदितं ज्योतिषां ज्योतिराविः ।
भूयस्त्वेनैव काष्ठा श्रुतिगणशिखयाऽदर्शि यो वै रसः स
भूमेति प्रत्यगात्माऽस्त्वनपिहितमुखः श्रेयसे प्रेयसे वः ॥१॥

अन्वय—नास्त्यस्तीति प्रतीतौ ('अस्ति' और 'नास्ति' इस द्विविध प्रतीति में) [जो सत्] नियतम् अनुगतं (नियत रूप से घटादि-पदार्थ में मृत्तिकादि की भाँति अनुगत) [रहता है, वही] श्रौतसत्यं अनन्तं (उपनिषत्-प्रतिपाद्य सत्य, ज्ञान और अनन्तस्वरूप ब्रह्म है)। भाने (जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाओं में जब विषय का भान होता है), अभाने (सुषुप्ति, मूर्छा आदि में जब विषय का भान नहीं होता, तब भी) प्रतिपदविदितं (साक्षात् निरवच्छिन्न स्वप्रकाश) ज्योतिषां ज्योतिः (सभी ज्योतियों का ज्योतिःस्वरूप वह) विभाति (विद्यमान रहता है) श्रुतिगणशिखया (वेदशिरोमणि छान्दोग्य उपनिषद् ने) भूयस्त्वेनैव ('ततो भूयः' इसी क्रम से) काष्ठा (सीमा) अदर्शि (दिखाई है) यो वै रसः स भूमेति (जो साक्षात् सुख या रसस्वरूप है वही भूमा है); [वह] प्रत्यगात्मा (सत्य, अन्तरात्मा) वः (आप लोगों के) श्रेयसे (स्वरूप ज्ञान रूप श्रेयोलाभ के निमित्त) प्रेयसे (परमानन्द प्रेयोलाभ के निमित्त) अनपिहितमुखः (निरावरण) अस्तु (हो)।

भाष्य—घटशरावादि पदार्थ में मृत्तिका नियत अनुगत रहती है। उसी प्रकार 'अस्ति' एवं 'नास्ति' इस उभय प्रतीति में अस्तिता-मात्र-रूप जो सत् नियत अन्वित है, वही उपनिषत्प्रतिपाद्य सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप ब्रह्म है। देश, काल, वस्तु और सम्बन्धजन्य परिच्छेद उसमें नहीं है। वह किसी प्रकार के अभाव का प्रतियोगी विषय भी नहीं है। वह सत् अनन्त है। पुनश्च, जाग्रत् स्वप्नादि अवस्था में जब विषय का भान होता है, अथवा सुषुप्ति-मूर्च्छादि में जब किसी विषय का भान नहीं होता, तब भी यह चिज्ज्योति-रूप में साक्षात् निरवच्छिन्न स्वप्रकाश है; यह सब ज्योतियों की ज्योति है। इसी के प्रकाश में ही अन्य सब कुछ प्रकाशित होता है। इस स्वप्रकाश संवित् का उदय-अस्त भी नहीं है। यह संवित् प्रतिबोध विदित है, अथच, यह विदित और अविदित इन दो में से कोई भी नहीं है। वास्तव में यह शुद्ध ज्ञान-स्वरूप है। श्रुतिगणशिखा वेद-शिरोमणि छान्दोग्य उपनिषद् में नारद-सनत्कुमार

संवाद में 'ततो भूयः' इस क्रम से जो शेष सीमा है, वह है साक्षात् सुख-रस-स्वरूप भूमा। अल्प, खण्डित, परिच्छिन्न में वह नहीं है। अतएव सद्वस्तु केवल, अनन्त ज्ञानस्वरूप हो, ऐसा नहीं है, वह पुनः निरतिशय सुखस्वरूप है। भूमा प्रत्यगात्मा (Inner self) के रूप में सर्वभूत में प्रविष्ट है। प्रविष्ट होकर उसने अपनी माया-शक्ति से उस सत्य प्रत्यगात्मा के स्वरूप (साक्षी, चेतयिता, रसयिता, विभर्त्ता) का आवरण किया है। तुम लोगों के स्वरूपज्ञानरूपी श्रेयोलाभ के निमित्त परमानन्दरूप प्रेयोलाभ के लिये, सत्य का मुख निरावरण हो ॥ १ ॥

[ह्रौंस-स्तुतिः]

हंसो यो हंसवत्यामृचि घृणिरिति वा प्राण इत्येवमूचे
गायत्र्या यद्वरेण्यं प्रणव इति गिरोदीरितं चापि भर्गः।
गा माध्वीरिन्दुबिन्दूनृगपि मधुमती मन्त्रवर्णैरदुग्ध
सूर्यो वन्हिश्च सोमः सपदि विजयतामैकपद्येन ह्रौंसः ॥ २ ॥

अन्वय—यः (जिसे) हंसवत्यां ऋचि ('हंसवती' नाम की ऋक् में) 'हंसः' ('हंस' इस नाम से), [अन्यत्र] घृणिः ('घृणि' या भास्वान् इस नाम से) 'प्राणः' ('प्राण' इस नाम से) इत्येवं (इस प्रकार) ऊचे (कहा है); गायत्र्या (गायत्री मन्त्र ने) यत् वरेण्यं भर्गः (जिस वरेण्य ज्योति को) प्रणवः (ॐकार) इति गिरा (इस वाणी से) [कहा है]। मधुमती (इस नाम की ऋक् ने—'मधुवाता ऋतायते'—इन) मन्त्रवर्णैः (मन्त्रवर्णो द्वारा) [जिस] माध्वी गा (मधुमयी गौ' से) इन्दुबिन्दून् (अमृत-कणों का) अदुग्ध (दोहन किया—वही), हंसः (हंस) वह्निः (अग्नि) सोमः (सोम) ऐकपद्येन (एक स्थान में) 'ह्रौंसः' (इसमें मिल कर) [जययुक्त हों] ॥ २ ॥

भाष्य—हंसवती ऋक् ने जिन्हें 'हंस' नाम द्वारा अभिहित किया है, अन्यत्र जो 'घृणि' अथवा भास्वान् प्राण के रूप में कहे गये हैं, गायत्री ऋक् ने ॐकार वाक् के द्वारा जिस 'वरेण्य' ज्योति का कीर्तन किया है, मधुमती ऋक् ने 'मधुवाता ऋतायते' इत्यादि मन्त्र-वर्णों के द्वारा जिस अमृतवर्षिणी गौ का दोहन करके सोम-विन्दु की वर्षा की है, वे श्रुतिप्रतिपाद्य, गुह्यातिगुह्य, हंस, वह्नि और सोम 'ह्रौंसः' इस महाबीज में एकत्र, एक पद में मिलित होकर जययुक्त हों ॥ २ ॥

[पञ्चभूत-तत्त्वम्]

आवीरूपेण नादः समजनि विततं व्योम विश्वाश्रयं यद्
गत्यात्मा सोऽपि हंसो जगदुदयलयक्रान्तवृत्तिश्च वायुः।
रूपाणां चित्रशालां स मनसि च बहिर्निर्म्ममे नाम वह्निः
सर्व्वेषां लीनतोकः सलिलमिति पुनर्धारणेऽभूद् धरित्री ॥ ३ ॥

अन्वय—नादः (सृष्टि की मूलभूता परावाक्); आवीरूपेण (ब्रह्म की आदिम अभिव्यक्ति के रूप में) समजनि (अर्थात् प्रणव उत्पन्न हुआ); विततं (विस्तृत) व्योम (आकाश) समजनि (प्रणव की मूल अभिव्यक्ति के रूप में उत्पन्न हुआ), यद् (जो आकाश) विश्वाश्रयं (सूक्ष्म और कारण का भी आधार है); सोऽपि (मूल आवीरूप) गत्यात्मा (क्रियोन्मुख कारणता-रूप गति से युक्त होकर) हंसः (अथवा प्राण है); (यह प्राण या हंस) जगदुदयलयक्रान्तवृत्तिश्च (जगत् के उदय, स्थिति एवं लय-व्यापार के रूप में वृत्तिमान् होकर) वायुः (वायु होता है); सः वह्निः (उस अग्नि ने) मनसि बहिश्च (अन्तर्बहिः) रूपाणां चित्र-शालां (जगत् में अपरूप चित्रशाला) निर्म्ममे (बनाई है); सलिलं (जल) इति (यह) सर्व्वेषां (सब कुछ की) लीनतौकः (लीनता या लय का स्थान है); पुनः (और) धरित्री (पृथिवी) धारणे (इन सबके धारण के लिए) अभूत् (हुई)।

भाष्य—सृष्टि के अभिमुख में ब्रह्म की जो आदिम अभिव्यक्ति है, वह है 'आविः'। सृष्टि की मूलभूता परावाक् के रूप में ब्रह्म हैं (परम) नाद। इन दोनों के सम्मिलन में परावाक् आवीरूप में प्रणव है। इस प्रणव की मूल अभिव्यक्ति सर्वाश्रय एवं सर्वव्यापी आकाश है। वह सर्वाश्रय, सर्वव्यापी आकाश परिदृश्यमान भूताकाश, अथवा महाकाश-मात्र नहीं है, वह ब्रह्माकाश है, आकाशरूप सच्चिदानन्द सामग्री है। इसलिए यह केवल स्थूल सृष्टि का आधार नहीं है, सूक्ष्म कारण का भी आधार ही आकाश है। यह ब्रह्म का अथवा तद्‌वाचक प्रणव का मूल आवीरूप है। इस मूल अभिव्यक्ति में जब क्रियोन्मुख कारणतारूप गति दिखाई देती है, तब वह होता है हंस अथवा प्राण। आश्रयरूप में देखने से जो आकाश है, गतिरूप में वह प्राण है। स्वरूप में वह आनन्द है। यह प्राण या हंस जगत् के उदय, स्थिति एवं लय-व्यापार के रूप में जब वृत्तिमान् होता है, तब काल और वायु है। जगत् में अन्तर्बहिः रूप जो अपरूप चित्रशाला है, उसके निर्माता हैं दिग्देशादि पटचित्रक अग्नि या वह्नि। इस अनन्त वैचित्र्य की लीनता का जो स्थान है, अर्थात् जहाँ जाकर सब लय को प्राप्त होते हैं वह है सलिल। जो इन सबको धारण कर रही है, वह है धरित्री, पृथिवी।

एक दृष्टान्त द्वारा इन पाँच तत्त्वों को समझने का यत्न करें। मान लें 'बायोस्कोप' का चलचित्र देख रहे हैं। वहाँ प्रथमतः एक आधार-पट या 'स्क्रीन' की आवश्यकता है, जिस पर छवि पड़ेगी। इसकी आकाश के रूप में कल्पना कर सकते हो। उसके बाद छवियाँ एक के वाद एक आ रही हैं, और चली जा रही हैं—यह जो संचरमाणता या गति है, इसे ही वायुरूप में देखें। छवियों का एक विशिष्ट प्रकार या रूप न रहे तो वे नयन-गोचर नहीं हो सकतीं। जो छवियों को सुस्पष्ट,

मूर्त्त करके हमारी आंखों के सामने रख रहा है, उस principle या तत्त्व को अग्नि समझें। इसके बाद छवियाँ दिखाई दे रही हैं, किन्तु कोई भी रहती नहीं, सब चली जा रही हैं, किन्तु वे जाकर कहाँ विलीन हो रही हैं ? निश्चय ही किसी जगह जाकर आश्रय ले रही हैं या जमा हो रही है। लय या आश्रय का स्थान है सलिल या अप्। अन्त में देखें कि प्रत्येक चित्र या वस्तु का एक विशिष्ट रूप है, प्रत्येक ही अन्य से स्वतन्त्र हैं, उनकी इस निजस्व विशिष्टता को बनाये रखता है कौन ? उनमें से प्रत्येक के निजस्व वैशिष्टच का धारक यदि कोई तत्त्व न रहता, तब तो सब मिलजुल कर एकरूप (confused) हो जाता। वैसा तो होता नहीं है; प्रत्येक ही अपने स्वकीय वैशिष्टच को बनाये हुए चलता है। यह संभव होता है मूल में एक धारक तत्त्व रहने के कारण। यही धरित्री है। पहले कहा गया है कि आकाश सब-कुछ का धारक है, फिर धरित्री को भी धारक तत्त्व कह कर उसकी व्याख्या की गयी। यहाँ यह समझना होगा कि आकाश सब कुछ का धारक सामान्य भाव से है और धरित्री विशेषभाव से। अर्थात् निखिल पदार्थव्यष्टि को धरित्री धारण करती है। आकाश उन सबके सामान्य आधार, common ground अथवा basis के रूप में है और धरित्री प्रत्येक के निजस्व रूप को, विशिष्ट रूप को, धारण किये हुए है। सब कुछ का परम आधार प्रथम श्लोकोक्त सच्चिदानन्द तत्त्व है। उसके बाद सामान्य आधार आकाश है, अन्त में विशेष आधार धरित्री है। प्रथम सर्वाधार है, द्वितीय विश्वाधार है, तृतीय कृत्स्नाधार (supprot of individuality) है। प्रकारान्तर से, धरित्री = 'यह' प्रतीति का आधार, व्योम = 'यह' और 'वह' दोनों प्रतीतियों का आधार, और अक्षरपरम = 'यह', 'वह' एवं 'न यह न वह' इन तीनों का आधार है। (इसकी व्याख्या बाद में होगी)। अतएव परम अव्यक्त आवीरूप हुआ प्रणव। प्रणव का आवीरूप है आकाश। प्रणव का प्राणरूप में प्रकाश है 'हंस' मन्त्र। प्रणव का आकाशादि पञ्चतत्त्व के रूप में प्रकाश है 'हं, यं, रं, वं, लं' मूलबीज। क्षराक्षर सर्वविध तत्त्व इन का आश्रय लेकर स्थित हैं ॥३॥

[गायत्री स्तुतिः]

मीनो बीजानि धृत्वा प्रसरति पयसि प्रैधते गूढसन्धि-
र्नाभावासीन ईष्टेऽखिलमिह कमठः संजरीगृह्यते च।
उच्चैर्धत्ते वराहो भुवमशनिनखैर्हन्ति दैत्यान्नृसिंहो
यौष्माकीणं सुभद्रं सपदमपि शिरश्छन्दसां मातुरव्यात् ॥४॥

अन्वय—छन्दसां मातुः (छन्दों की माता गायत्री का) सपदमपि (सप्तव्याहृति एवं त्रिपादसहित भी) शिरः (शिर) यौष्माकीणं (आप के) सुभद्रं (सुमङ्गल की) अव्यात् (रक्षा करे); मीनः (मीनरूपा छन्दोमाता गायत्री) पयसि (लीनता के आश्रय

सलिल में) बीजानि (निखिल बीजों को) भृत्वा (धारण करके), गूढसन्धिः (स्वयं निगूढ़सन्धि रह कर) प्रसरति (विद्यमान रहती हैं) प्रेधते (अभिव्यक्ति की अपेक्षा रखती हैं); च (पुनः), नाभौ आसीनः (निखिल बीजों की नाभि में आसीन होकर), कमठः (कूर्म), इह (यहाँ) ईष्टे (शासन करता है); अखिलं (सब कुछ) संजरीगृह्यते (संग्रह करता है); वराहः (शूकर-रूप में यह), भुवं (पृथिवी को) उच्चैः (ऊर्ध्व) धत्ते (धारण करते हैं) नृसिंहः (भगवान् नृसिंह जिस प्रकार) दैत्यान् (हिरण्यकशिपु को) हन्ति (मारते हैं, उसी प्रकार यह छन्दोमाता नारसिंही तनु में समस्त व्यूढ बाधा को विदीर्ण करती हैं)।

भाष्य—छन्दों की माता गायत्री है। उनका जो शिर है, वह सप्तव्याहृति एवं त्रिपादसहित सबके सुमङ्गल की रक्षा करे। जीव की सुषुप्ति में अथवा प्रलय में, जब सब पदार्थ लीनता को प्राप्त होते हैं—तब उस लीनता के स्थानभूत सलिलराशि में छन्दोमाता गायत्री स्वयं निगूढ़सन्धि रह कर मीनशक्ति के रूप में निखिल बीज धारण करके पुनः अभिव्यक्ति की अपेक्षा में विद्यमान रहती हैं। यह निखिल बीजों की नाभि में आसीन होकर कूर्मशक्ति के रूप में उनका संग्रह और शासन किया करती हैं। यही कालशक्ति का आश्रय लेकर वाराही तनु में, विश्वभुवन को अधः से ऊर्ध्वं धारण करती हैं। नारसिंही तनु में समस्त व्यूढ बाधा को विदीर्ण करती हैं, जैसे नृसिंह ने अपने वज्रनखों द्वारा हिरण्यकशिपु का विदारण किया था।

पूर्वश्लोक में जैसे सृष्टि के उपादानरूप में आकाशादि को दिखाया गया है, यहाँ उसी प्रकार निमित्तरूप में चार अवतार शक्तियों को दिखाया गया है। सृष्टि की सकल वस्तुओं को संभालती हैं, मीनशक्ति। उनमें से प्रत्येक के **basic pattern** को यथायथ रूप से सबका शासन करके, संग्रह करके रखती हैं कूर्मशक्ति। उसका उन्नयन अथवा उद्वर्तन करते हैं वराह। विकास के पथ में समस्त विघ्नबाधाओं का विदारण करते हैं नृसिंह। पञ्चमावतार वामन का तत्त्व बाद में व्याख्यात होगा। ये पाँचों ही विश्वव्यापी (cosmic) और नित्य सक्रिय (eternally functioning) तत्त्व हैं। सब प्रकार की सृष्टि में इस तत्त्वपञ्चक को खोजकर देखना होगा। ये सब पौराणिक घटनामात्र नहीं हैं। मान लें कि सुषुप्ति से जागृति हुई (१) सब कुछ अव्याकृत रूप से लीन है, किन्तु उस लीनता में उन सबके संस्कार और पुनरभिव्यक्ति की संभावना विद्यमान है। (२) प्रत्येक संस्कार अथवा बीज किसी एक नाभिशक्ति (nuclear power) द्वारा संगृहीत और शासित है, जिस कारण से वे सब अव्यक्त होकर भी स्वरूप में (अपने **norm** एवं **pattern** में) वर्तमान हैं; (३) उन सबको उत्तरोत्तर प्रस्फुटित

करने का कोई आवेग (urge) भी वर्तमान है। (४) उनके विकास के पथ में बाधाओं के निरसन के लिये भी कोई सामर्थ्य है। (५) उनकी परिणति का सीमा-निर्देशक अवधिनियामक भी कोई एक है। यह सीमा एवं सीमा के पार इन दोनों का निरूपक है। इसी प्रकार सर्वत्र है ॥४॥

(पञ्चगङ्गाश्रयणम् श्लो० ५, ६)

जीवान्तर्य्यामिभेदाद् द्विविधगतिरसौ संग्रहाख्यैकधारा
गृह्णातेरादितश्च प्रतिलिखनबलाल्लभ्यते या द्वितीया।
सा स्पर्शावेशवृत्तिर्विपरिसहचरी या तृतीया तुरीया
यैषा पूर्व्वानुयोगात् प्रवहति परमेत्याश्रयेत् पञ्चगङ्गम् ॥५॥

अन्वय—पञ्चगङ्गम् (पञ्च गङ्गा का) आश्रयेत् (आश्रय लें), असौ (यह) सङ्ग्रहाख्यैकधारा (पञ्चगङ्गा की संग्रह नाम की एक धारा) जीवान्तर्यामिभेदात् (जीव और अन्तर्यामी के भेद से) द्विविधगतिः (द्विविध गति वाली है); च (पुनः), गृह्णातेः (ग्रह धातु के) आदितः (आदि में) प्रतिलिखनबलात् ('प्रति' उपसर्ग के योग से) या द्वितीया (जो दूसरी प्रतिग्रहाख्या धारा) लभ्यते (प्राप्त होती है) सा (वह) स्पर्शावेशवृत्तिः (स्पर्श और आवेश नाम की दो वृत्तियों वाली है); या (जो) तृतीया (तीसरी) तुरीया (चतुर्थ धारा है, वह) विपरिसहचरी ('वि' और 'परि' उपसर्गों के योग से विग्रहाख्या है); या एषा (जो यह) पूर्वानुयोगात् (पहले 'अनु' उपसर्ग के योग से) प्रवहति (प्रवाहित हो रही है, वह) परमा (परमा अनुग्रहाख्या धारा है)।

भाष्य—पञ्चगंगा का आश्रय लें। उस पंचगंगा की एक धारा का नाम है 'संग्रह'। यह संग्रहाख्या धारा जीव-अन्तर्यामी के भेद से द्विविध गति वाली है। 'ग्रह' धातु के आदि में 'प्रति' उपसर्ग के योग से जो प्रतिग्रह संज्ञा है, वही द्वितीय धारा है। इस द्वितीय धारा की द्विविध वृत्ति है स्पर्श एवं आवेश। इन भेदों की बाद में व्याख्या होगी। 'वि' एवं 'परि' इन दो उपसर्गों के योग से विग्रहाख्या एवं परिग्रहाख्या तृतीय, चतुर्थ धारा है। आदि में 'अनु' उपसर्ग के योग से अनुग्रहाख्या पञ्चम परमधारा है। पञ्चगंगा सृष्टि के सब कुछ में अवतीर्ण हो कर अनुप्रविष्ट है। पञ्चगंगा के समाश्रय के बिना विष्णु के उस परमपद की प्राप्ति का कोई दूसरा उपाय नहीं है। अतएव—

विष्णुर परम पद पाइते चाहिले।
पञ्चगङ्गा धारा धरो महा कुतूहले ॥
'संग्रह' प्रथम धारा, जीव अन्तर्यामी।
'प्रतिग्रह' धारा परे स्पर्शावेशगामी ॥

'विग्रह' ओ 'परिग्रह' तृतीय चतुर्थ।
'अनुग्रह' शेष धारा परम पदार्थ॥
ए पाँचे आश्रय छाड़ा ना आछे उपाय।
विष्णुर परम पद जाहे पावा जाय॥

भावार्थ— विष्णु का परम पद पाने की यदि इच्छा हो तो पञ्चगंगा की धारा को निष्ठा सहित पकड़ो। प्रथम धारा है 'संग्रह' और उसके दो भेद हैं जीव और अन्तर्यामी। द्वितीय धारा है 'प्रतिग्रह' उसकी दो वृत्तियाँ हैं, स्पर्श और आवेश। 'विग्रह' और 'परिग्रह' तृतीय चतुर्थ धारा हैं। 'अनुग्रह' अन्तिम धारा है, परम पदार्थ है। इन पाँचों के आश्रय के बिना विष्णु का परमपद लाभ करने का कोई उपाय है॥५॥

तिस्रो मात्रा अकाराद्या नादबिन्दु च मूर्द्धनि।
एवमोङ्कारमीक्षस्व पञ्चगङ्गा यथाक्रमम्॥६॥

अन्वय—अकाराद्याः तिस्रः मात्राः (अकार, उकार, मकार ये तीन और नाद तथा बिन्दु) पञ्चगङ्गा (ये पाँच गंगा) यथाक्रमम् (क्रमशः) हैं; एवं (इस प्रकार) ॐकारं (प्रणव को) ईक्षस्व (देखो)।

भाष्य—ॐकार की मात्राओं का यथाक्रम से इस पञ्चगंगा में दर्शन करें। अकार, उकार, मकार तीन मात्रा एवं मूर्द्धा में नाद और बिन्दु ये दो, पाँचों ही यथाक्रम से पञ्चगंगा हैं। अतएव प्रणव का सर्वतोभाव से आश्रय लेना होगा॥६॥

(शुद्धिपञ्चकम् श्लोक ७-११)

आचारसञ्चारविचारशुद्धिमाहारपूर्वामपि सन्दधीत।
युञ्जीत ताभिर्जितसङ्गदोषः प्रचारशुद्धिं क्रतुसिद्धिगोप्त्रीम्॥७॥

अन्वय—आहारपूर्वां (आहारशुद्धि के साथ) आचार-संचार-विचारशुद्धिं (आचारशुद्धि, सञ्चारशुद्धि, विचारशुद्धि, इन शुद्धियों का) अपि (भी) सन्दधीत (सन्धान करना चाहिए), ताभिः (इनके द्वारा) जितसङ्गदोषः (संगदोष को जीत कर) क्रतुसिद्धिगोप्त्रीम् (साधन क्रिया द्वारा जो सिद्धि होती है, उसकी रक्षा करने वाली) प्रचारशुद्धि (इस प्रचार शुद्धि को) युञ्जीत (प्राप्त करो)।

भाष्य—सर्वतोभाव से आश्रय लेने के लिए शुद्धि आवश्यक है। आहार, आचार, विचार, प्रचार और संचार-शुद्धि। इन शुद्धियों में से प्रचारशुद्धि-साधन क्रिया द्वारा प्राप्त सिद्धि की विशेष भाव से रक्षा किया करती है। आहार, आचार और विचारशुद्धि के द्वारा सङ्गदोष को जय किया जाता है। सञ्चारशुद्धि के द्वारा युञ्जान और युक्त हुआ जाता है॥७॥

पुनाति ह्यन्नामाहारोऽसूनाचारस्ततः क्रमात् ।
अञ्जसौपयिकाश्चान्ये पुनन्ति कोषपञ्चकम् ॥८॥

अन्वय—आहारः (आहारशुद्धि) अन्नं (अन्नमय कोष को), आचारः (आचारशुद्धि) असून् (प्राणमय कोश को) पुनाति (शुद्ध करती हैं) ततः क्रमात् (उसी क्रम से) अन्ये (दूसरे, अर्थात्) औपयिकाः (उपाय, विचारशुद्धि, प्रचारशुद्धि, संचारशुद्धि) कोषपञ्चकं (पाँच कोषों को, उक्त के अतिरिक्त मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोषों को) अञ्जसा (शीघ्र) पुनन्ति (शुद्ध करती हैं) ।

भाष्य—आहारशुद्धि अन्नमयकोष को, आचारशुद्धि प्राणमय कोश को, विचारशुद्धि मनोमय कोश को, प्रचारशुद्धि विज्ञानमय को एवं सञ्चारशुद्धि आनन्दमय कोश को शुद्ध करती है। इस प्रकार शुद्धिपञ्चक ही कोषपञ्चक के शोधन का निश्चित और प्रकृष्ट उपाय है ॥८॥

अणुतनुपृथुभेदैर्गृह्यते कोषदोष-
स्त्वधिकरणनिधानात् पार्थिवादित्वमेति ।
त्रितयमपि मलानां पाञ्चमल्यं पुनर्वा
प्रणवपुटितशुद्धिस्तानपास्तान् करोति ॥९॥

अन्वय—कोषदोषः (कोष पञ्चक का दोष या मल), अणुतनुपृथुभेदैः (अणु, तनु व पृथु भेद से) गृह्यते (गृहीत होता है), अधिकरणनिधानात् (अधिकरण के अनुसार) पार्थिवादित्वं (पार्थिव आदि अवस्था को) एति (प्राप्त करता है) मलानां (दोष) त्रितयम् अपि (तीन हों अथवा) पाञ्चमल्यम् (पाँच मल हों), प्रणवपुटित-शुद्धिः (प्रणवजपाश्रित आहारादि शुद्धि) तान् (उन्हें) अपास्तान् (दूर) करोति (करती है) ।

भाष्य—कोष पंचक में जो दोष या मल हैं, वे अणु, तनु तथा पृथु भेद से त्रिविध हैं। इनमें से मल की सूक्ष्मतम कारण-अवस्था है 'अणु' या 'आणव' मल। सूक्ष्म मल को कहते हैं तनु या 'मानस' और स्थूल या व्यक्त मल को कहते हैं पृथु या 'पार्थिव'। शैवागम के आणवादि मलत्रय भी यहाँ आलोच्य हैं; ये मल पुनः अधिकरण के अनुसार अर्थात् ये कहाँ रहते हैं—इस विचार से, अन्नादिरूप से पंचविध हैं। अर्थात्—अन्नगतमल, प्राणगतमल इत्यादि हैं। मल त्रिविध हों अथवा पञ्चविध हों, प्रणव (अथवा ईश्वरवाचक) जपाश्रित आहारादि शुद्धि उन्हें दूर करती है ॥९॥

पञ्चमात्रा अकाराद्या आहारादिकपावकाः ।
ताभिः पुनीत वाचस्तु तनुः पुनीत तैरपि ॥१०॥

पञ्चगङ्गाः पुनीरन् गाः पञ्चगव्यानि वै तनुः ।
मूलस्पन्दनवैरूप्ये सारूप्यं विद्धि पावनम् ।।११।।

अन्वय--आकाराद्याः पञ्चमात्राः (अकार आदि पाँच मात्राएँ), (और) आहारादिकपावकाः (आहारादि पाँच शुद्धियाँ), पञ्चगङ्गाः (पांच गङ्गा), पञ्चगव्यानि (पञ्चगव्य हैं) । ताभिः (अकारादि पञ्चमात्रा-रूपी गञ्चगङ्गा से) वाचः (वाक् को) पुनीत (पवित्र करे) । तैः (आहारादि पञ्चगव्यों से) तनु (शरीर को) पुनीत (पवित्र करे) । पञ्चगङ्गाः (अकारादि पञ्चगङ्गा) गाः (वाक् को) पुनीरन् (पवित्र करती हैं) । पञ्चगव्यानि (आहारादि) तनुः (शरीर को) पुनीरन् (पवित्र करते हैं) । मूलस्पन्दनवैरूप्ये (मूलीभूत स्पन्दन के विरूप हो जाने पर) सारूप्यं (जिसके द्वारा सरूपता सम्पन्न होती है, उसे ही) पावन (शुद्धि) विद्धि (समझो) ।

भाष्य--प्रणवादि बीजमन्त्र में अकारादि पञ्चमात्रा ही पञ्चगङ्गा हैं और अहारादि पञ्चशुद्धि ही पञ्चगव्य हैं । पञ्चगङ्गा के द्वारा वाक् को पवित्र करें । पञ्चगव्य अर्थात् आहारादि पञ्च पावक के द्वारा स्थूलसूक्ष्मादि तनु को पवित्र करें । मूलीभूत स्पन्दन यदि किसी कारण से विरूप हो जाय तो जिसके द्वारा वह पुनः सारूप्य वनता है, उसे ही पावन अथवा शुद्धि समझना चाहिये । मूलस्पन्दन में विरूपता दूर करके उसके स्वभाव स्वाच्छन्द्य को पुनः ले आना ही समस्त शुद्धि का लक्ष्य है ।।१०-११।।

[छन्दस्तत्त्वम् श्लोक १२-१५]

अरिच्छन्दो विषच्छन्दः स्पन्दस्य प्रातिकूल्यतः ।
मित्रच्छन्दो मधुच्छन्दो यदाऽनुकूलतान्वयम् ।।१२।।

अन्वय--स्पन्दस्य (स्पन्दन के) प्रातिकूल्यतः (स्वभाव और स्वच्छन्द के प्रतिकूल होने से) अरिच्छन्दः विषच्छन्दः (ये दोनों होते हैं); यदा (जब) अनुकूलतान्वयम् (स्वभाव और स्वच्छन्द की अनुकूलता होती है, तब होते हैं--) मित्रच्छन्दः मधुच्छन्दः ।

भाष्य--स्वभाव और स्वच्छन्द के प्रतिकूल स्पन्दन जिसके द्वारा उत्पन्न होते हैं, उसे कहते हैं अरिच्छन्दः और विषच्छन्दः; जिसके द्वारा स्वभाव और स्वच्छन्द की अनुकूलता अक्षुण्ण रहती है अथवा क्षुण्ण होकर पुनः स्वभाव और स्वच्छन्द में प्रतिष्ठित हो जाती है, उसे कहते हैं — मित्रच्छन्द और मधुच्छन्द ।।१२।।

विपश्चिच्छन्दसां मातुर्ब्रह्मयोनेः स्वरूपताम् ।
समीहते मधुच्छन्दः क्रमवर्त्मानुसारतः ।।१३।।

अन्वय—विपश्चित् (धीर एवं विज्ञ साधक) ब्रह्मयोनेः (ब्रह्मयोनि) छन्दसां मातुः (छन्दोमाता गायत्री के) स्वरूपतां (स्वरूप में प्रतिष्ठित होने के लिए) क्रमवर्त्मानुसारतः मधुच्छन्दः (क्रमवर्त्म का अनुसरण करके मधुच्छन्द की) समीहते (इच्छा करता है, यत्नवान् होता है)।

भाष्य—जो ब्रह्मयोनि छन्दोमाता गायत्री हैं, जो साक्षात् अमृत-दोहन करती हैं, धीर एवं विज्ञ साधक मधुच्छन्द में क्रमवर्त्म का अनुसरण करते हुये उसी के स्वरूप में प्रतिष्ठित होने के लिये यत्नवान् होते हैं ।।१३।।

आनुरूप्यं च सारूप्यं प्रातिरूप्यैकरूप्यते ।
चतुर्णामनुयोगित्वमभावस्य विरूपता ।।१४।।

अन्वय—आनुरूप्यं (अनुरूपता) सारूप्यं (सरूपता या समरूपता); प्रातिरूप्यैकरूप्यते (प्रतिरूपता एवं एकरूपता) (इन) चतुर्णां (चारों से स्वरूप का) अनुयोगित्वं (अनुगतत्व) [होता है], [और] अभावस्य [स्थितौ] (इन चारों के अभाव की स्थिति में) विरूपता (वैरूप्य) (होता है)।

भाष्य—जो वस्तु जो है, वही उसका स्वरूप है। इस स्वरूप के अनुगत एवं अनुकूल होते हैं—अनुरूप, समरूप, प्रतिरूप एवं एकरूप। इनमें एकरूप वह है जिसमें स्वगत, सजातीय एवं विजातीय—इन तीन प्रकार के भेदों में से कोई भी नहीं रहता। स्वगत भेद की न्यूनाधिक स्थिति में भी यदि सजातीय भेद न रहे तब होता है समरूप अथवा सरूप, स्वगत एवं सजातीय का भेद रहने पर भी यदि विजातीय भेद का अभाव हो, तब होता है प्रतिरूप, विजातीय भेद कियत्परिमाण में रहने पर भी यदि स्वरूप के अनुगत और अनुकूल हो तब होता है अनुरूप। अब इन चारों का—(अर्थात् अनुरूपता इत्यादि का) अभाव जहाँ रहता है, उसे कहते हैं विरूपता या वैरूप्य। मित्रच्छन्दः और मधुच्छन्दः द्वारा मूलस्पन्द के साथ विरूपता दूर होकर क्रमशः अनुरूपता, प्रतिरूपता एवं एकरूपता होती है ।।१४।।

दिवौकसो यदिच्छन्तोऽवारिषुर्वेदमातरम् ।
अमृतच्छन्दसा स्वेन तदमृतमदूदुहत् ।।१५।।

अन्वय—दिवौकसः (देवताओं ने), यदिच्छन्तः (जिसकी इच्छा करते हुए) वेदमातरं (गायत्री का) अवारिषुः (वरण किया था) (वेदमाता ने) स्वेन अमृतच्छन्दसा (अपने अमृतच्छन्द के द्वारा) (उन देवताओं के लिए) तद् अमृतं (उस अमृत का) अदूदुहत् (दोहन कराया था)।

भाष्य—सब छन्दों की माता ब्रह्मयोनि गायत्री स्वयं हैं—परम मधुच्छन्दः। प्रणव का छन्द है गायत्री। प्रणव में यह छन्द व्यक्तरूप से न रहने पर भी अव्यक्त

बीज-भाव से निहित है। उस अव्यक्त बीज में उस छन्द का अनुसन्धान करना होता है। ब्रह्मवर्च्चः (अग्नि) प्रणव का देवता है। अतएव ब्रह्मवर्च्चस् के अनुग्रह से, प्रणव में निगूढ़ छन्दोमाता को प्रकाशित करने का नाम ही प्रणव साधना है। प्रकाशित होने पर प्रणव साक्षात् ब्रह्म का ही वाङ्मय रूप है। अतएव यह विश्व ही प्रणव का रूप है 'ॐकार एवेदं सर्वम्'। देवताओं ने जिसकी इच्छा से वेद-माता का वरण किया था, वेद माता ने अपने अमृतच्छन्द के द्वारा देवताओं के लिये उस अमृत का दोहन कराया था। ॥१५॥

[शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म धारि-श्रीभगवत्स्तुतिः]

अध्मासीच्छ्रुतिसारमूर्जितमृतं शङ्खं य एवार्पिपद्
यः सौदर्शनमध्वरं कुशलकृच्छन्दोभिरातीतनत्।
योऽदारीन्मधुकैटभोरुसहसं कौमोदकीं गीष्पति-
र्धृत्वाब्जं व्यचकाशदाशु सुधियां बोधाय तस्मै नमः ॥१६॥

अन्वय—यः (जिन्होंने) श्रुतसारं (वेदों के सार प्रणव के) ऊर्जितम् ऋतं (निरतिशय शुद्ध और समर्थ स्वरूप को) शङ्खं (शंख के रूप में) अध्मासीत् (बजाया था), यः (जिन) कुशलकृत् (कुशलकर्मा ने) सौदर्शनम् अध्वरं (यज्ञ को सुदर्शन चक्र के रूप में) आर्पिपत् (चालित किया था) (एवं) छन्दोभिः (छन्दःसमूह के द्वारा), आतीतनत् (विस्तारित किया था), यः (जिन्होंने) मधुकैटभोरुसहसं (मधुकैटभ के विपुल साहस को) कौमोदकीं (कौमोदकी गदा को) धृत्वा (धारण करके) अदारीत् (विदीर्ण किया था), गीष्पतिः (उन वाणीपति भगवान् ने) (प्रजापति के बुद्धिरूप—वाङ्मनोरूप) अब्जं (कमल को) व्यचकाशत् (विकसित कराया था); सुधियां (सुधी-गणों के) बोधाय (बोध के लिए) तस्मै (उन भगवान् को) नमः (नमस्कार है)।

भाष्य—श्रुतिसार प्रणव का जो निरतिशय शुद्ध और समर्थ-स्वरूप है (ऋतम् ऊर्जितम्), उसे पांचजन्य शंख के रूप में जिन्होंने बजाया था (अध्मासीत्); जिन कुशलकर्म्मा ने पुनः इस विश्वसृष्टि-रूप यज्ञ को अपने सर्वतोभद्र सुदर्शन-चक्र के रूप में चालित किया था, (आर्पिपत्) विचित्र छन्दःसमूह के द्वारा विस्तारित किया था (आतीतनत्); पुनश्च जिन्होंने इस विश्वयज्ञ के महाबाधा-स्वरूप मधुकैटभ के विपुल साहस को कौमोदकी गदाधारणपूर्वक विदीर्ण किया था (कौ=वेद में, मोदक=रसयिता, अतएव कौमोदकी=वेदमन्त्र-समूह का जो चेतयिता और रसयिता है), उन गीष्पति भगवान् ने इन सब बाधाओं का निरसन करके स्वयं पद्म-पाणि के रूप में प्रजापति के बुद्धिरूप (वाङ्मनो-रूप) कमल को आशु विकसित

कराया था (व्यचकाशत्), सुधीगणों की बुद्धि जिससे सम्यक् वेदोज्ज्वला हो (बोधाय) उन शंख, चक्र, गदापद्मधारी भगवान् को इस निमित्त से नमस्कार करता हूँ ।। १६ ।।

[ऋत-सत्य-च्छन्दस्तत्त्वम् श्लो० १७-२२]

ऋतं विद्यान्महाकालीं सत्यं विद्यात् सरस्वतीम् ।
छन्दो विद्यान्महालक्ष्मीं योजिते येन ते उभे ।। १७ ।।

अन्वय—ऋतं (ऋत को) महाकालीं (महाकाली) विद्यात् (समझें), सत्यं (सत्य को) सरस्वतीं (सरस्वती) विद्यात् (समझें), येन (जिसने) ते उभे (उन दोनों ऋत व सत्य को) योजिते (जोड़ रखा है); (उस) छन्दः (छन्द को) महालक्ष्मीं (महालक्ष्मी) विद्यात् (समझें) ।।

भाष्य—ऋत को महाकाली समझें एवं सत्य को महासरस्वती । जो छन्द ऋत एवं सत्य को एक दूसरे के साथ जोड़ कर रखता है, उसे महालक्ष्मी समझें ।।१७।।

ऋताध्वना लयं याति प्रपञ्चोपशमं पुनः ।
अस्तितया चकास्तीदं सत्येन सच्चिदात्मना ।। १८ ।।

अन्वय—ऋताध्वना (ऋत को आश्रय करने से या ऋत-पथ से) लयं (लय को) पुनः (और) प्रपञ्चोपशमं (प्रपञ्च के उपशम को) याति (प्राप्त करता है), सच्चिदात्मना (सच्चिदानन्द-स्वरूप) सत्येन (सत्य के द्वारा) इदं (यह जगत्) अस्तितया (अस्तिरूप में और भातिरूप में) चकास्ति (प्रकाश पा रहा है) ।

भाष्य—ऋत का आश्रय लेने से इस प्रपंच का उपशमरूप लय प्राप्त होता है; सच्चिदानन्दात्मस्वरूप सत्य के द्वारा यह समस्त (जगत्) अस्तिता और भातिता के रूप में स्थित है और प्रकाश पा रहा है ।। १८ ।।

पिहितस्यापि सर्वस्मिन्नानन्दस्यावगुण्ठनम् ।
यदपावृणुते सुष्ठु मधुच्छन्दस्तदीरितम् ।। १९ ।।

अन्वय—सर्वस्मिन् (सर्वत्र) पिहितस्य (ढके हुए) आनन्दस्य (आनन्द का) [जो] अवगुण्ठनं (पर्दा) [है], यत् (जो) सुष्ठु (सर्वथा) [उस अवगुण्ठन का] अपावृणते (उन्मोचन करता है) तत् (उसे) मधुच्छन्दः (मधुच्छन्द) ईरितम् (कहा है) ।।

भाष्य—'अस्ति' और 'भाति' के रूप में सब कुछ रहता है और प्रकाशित होता है, फिर भी उस का आनन्दस्वरूप न जाने किस अवगुण्ठन से आवृत है; इसलिये 'सब कुछ ही आनन्द है और आनन्द ही ब्रह्म है' का भान नहीं होता ।

जिसके द्वारा स्वरूपगत आनन्द के अवगुण्ठन का सर्वथा उन्मोचन होता है, उस का नाम है मधुच्छन्दः ।। १९ ।।

ऋतं तदनृतं ज्ञेयं यदृच्छति न तिष्ठति ।
अवस्यत्यालयञ्चैकमन्यद् द्वैतं निरस्यति ।। २० ।।

अन्वय—यद् ऋच्छति (जो गतिमान् है) न तिष्ठति (जो कभी स्थितिमान् नहीं रहता) तद् अनृतं ज्ञेयम् (उसे अनृत समझना चाहिए) ऋतम् (उस के विपरीत है ऋत) । एकम् (पहला, अनृत) आलयम् (श्रम, क्लान्ति, मृत्यु के आलय की) अवस्यति (रक्षा करता है) अन्यत् (दूसरा, ऋत) द्वैतम् (द्वैत का) निरस्यति (निरास करता है) ।

भाष्य—जिसकी केवल गति ही है, किन्तु स्वरूपतः स्थिति नहीं है, उसे अनृत समझना चाहिये । यह ऋत नहीं है । जिसमें अनृत रहता है, अथवा जिसका अनृत आश्रय लेता है, वह श्रम, क्लान्ति, मृत्यु के अधिकार में ही रहता है, किन्तु ऋत समस्त द्वैत का, भय का, निरसन कर के नित्य स्थिति में ले जाता है ।। २० ।।

खड्गमुण्डकरा सव्ये कराली प्रलयङ्करी ।
वराभयकराऽसव्ये काली कैवल्यदायिनी ।। २१ ।।

अन्वय—काली (माँ काली) सव्ये (वाम में, वामभाग में) खड्गमुण्डकरा (खड्ग-मुण्ड हाथ में लिए) कराली (भीषण) प्रलयङ्करी (प्रलय करने वाली) (हैं) (किन्तु) असव्ये (दक्षिण में, दक्षिण-भाग में), वराभयकरा, (वर-अभयप्रद हस्त-मुद्रायुक्त) कैवल्यदायिनी (कैवल्य = मोक्ष देने वाली) [हैं] ।।

भाष्य—माँ काली वाम (-भाग) में खड्गमुण्ड-करा के रूप में कराली प्रलयंकरी सजी हैं, वही फिर दक्षिण (भाग) में वराभयकरा के रूप में काली कैवल्यदायिनी बनी हैं । यहाँ एक ओर अनृत और मृत्यु का रूप है, दूसरी ओर ऋत अथवा अमृत का रूप है ।।२१।।

अस्तीति च चकास्तीति संसर्गविरहादिमे ।
ऋतस्य छन्दसो बोधे प्रमात्वेतरतामितः ।।२२।।

अन्वय—बोधे (ज्ञान में) अस्ति इति (है, ऐसा) च (और) चकास्ति इति (भाति, भासित होता है, ऐसा) इमे (ये दो प्रकार हैं); ऋतस्य छन्दसः (ऋतच्छन्द के) संसर्गविरहात् (संसर्ग से अथवा—संसर्ग के अभाव से) प्रमात्वेतरताम् (प्रमात्व अथवा तदितरता अर्थात् अप्रमात्व को) [ये दोनों] इतः (प्राप्त होते हैं) ।

भाष्य—हमारा समस्त बोध 'अस्ति' एवं 'भाति' होने पर भी उन दोनों में से

कोई प्रमा या यथार्थ ज्ञान होता है, और कोई अप्रमा अर्थात् मिथ्याज्ञान होता है। जैसे रज्जु-सर्प, गन्धर्वनगर इत्यादि। इस प्रकार होने का कारण क्या है? 'अस्ति' और 'भाति' रूप में सर्वत्र तो एक ही रूप है। यथार्थज्ञान और मिथ्याज्ञान का भेद किस प्रकार आया करता है—यह समझने के लिये हमें विचार करना पड़ता है कि 'अस्ति' और 'भाति' इस बोध-मात्र के साथ अपर एक वस्तु विद्यमान है अथवा नहीं है? वह अपर वस्तु यदि विद्यमान हो तब प्रमा है, अन्यथा अप्रमा। उसी अपर वस्तु का नाम है ऋतच्छन्द। अतएव ऋतच्छन्द से जो 'अस्ति' और 'भाति' का बोध है, वही यथार्थ ज्ञान है। उसके आश्रय के बिना जो 'अस्ति' और 'भाति' का बोध है, वह मिथ्याज्ञान है ।२२॥

[समावृत्तिच्छन्दस्तत्त्वम् श्लो० २३-३६]

ऋतस्य छन्दसो ज्ञेया सत्यत्वे व्यवसायिता।
मधुच्छन्दः समावृत्त्या चानन्दे पर्यवस्यति ॥२३॥

अन्वय—ऋतस्य छन्दसः (ऋतच्छन्द का) सत्यत्वे (सत्यत्व में) व्यवसायिता (निश्चय) ज्ञेया (जानना चाहिये)। च (और) मधुच्छन्दः (मधुच्छन्द) समावृत्त्या (समावृत्ति द्वारा) आनन्दे (आनन्द में) पर्यवस्यति (पर्यवसित होता है)।

भाष्य—ऋतच्छन्द उसी को समझें जिसके द्वारा सत्यत्व का निश्चय होता है। मधुच्छन्द उसे जानें जो समावृत्ति द्वारा आनन्द में पर्यवसान को प्राप्त होता है ॥२३॥

उभात्मकेन छन्दसा भूमा यो वै रसोऽपि सः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्य स्वारूप्यमीह्यते ॥२४॥

अन्वय—उभात्मकेन छन्दसा (ऋतच्छन्द और मधुच्छन्द द्वारा) यः भूमा (जो भूमा है) सः वै रसोऽपि (वह रसस्वरूप भी है) (अतः) तस्य (उस भूमा की) स्वारूप्यं (स्वरूपता को) अन्वयव्यतिरेकाभ्यां (अन्वय-व्यतिरेक द्वारा) ईह्यते (लाभ करने की चेष्टा की जाती है)।

भाष्य—उभयात्मक छन्द द्वारा, अर्थात् सम्मिलित ऋतच्छन्द और मधुच्छन्द के द्वारा साक्षात् रसस्वरूप भूमा का स्वारूप्य अन्वय एवं व्यतिरेक भाव से लाभ करने की चेष्टा करें। 'मधुवाता ऋतायते' इत्यादि हैं अन्वय-मुख से अन्वेषण। 'नेति नेति' रूप अल्प एवं खण्डित नामरूप का परिहार करके जो शुद्ध एकरस ब्रह्मानुभूति होती है, वह होती है व्यतिरेक मुख से ॥२४॥

उभात्मकतया सम्यग्ब्रह्माकारवृत्तिता।
वर्तिता येन तच्छन्दः समावृत्तितयोदितम् ॥२५॥

अन्वय—येन (जो छन्द) उभात्मकतया (ऋतच्छन्द और मधुच्छन्द इन दो रूपों) सम्यगाब्रह्माकारवृत्तिता (सम्यक् ब्रह्माकारा वृत्ति तक उपनीत होने की धारा को) वर्तित्ता (प्रवर्त्तित करता है) तत् छन्दः (वह छन्द) समावृत्तितया ('समावृत्ति' इस नाम से) उदितम् (कहा गया है) ।

भाष्य—अब विचार करना होगा कि समावृत्ति किसे कहते हैं ? जो ऋतच्छन्द और मधुच्छन्द के रूपों में सम्यक् ब्रह्माकारा वृत्ति तक उपनीत होने की धारा को प्रवर्त्तित करता है, वही छन्द 'समावृत्ति' नाम से कथित है ॥२५॥

सत्यमेव सकारः स्यान्मकार इति यन्मधु ।
आनन्दश्च य आकारो वकारो ब्रह्मता पुनः ॥२६॥
ऋतं विद्याद् ऋकारेण तर्तुं तर्प्तुं च तद्द्वयम् ।
जनिमृतिसृतेः पारमात्मनीयादिसंज्ञकः ॥२७॥

अन्वय-['समावृत्ति' का] सकारः सत्यमेव स्यात् ('स'कार सत्य ही है), मकारः मधु (मकार मधु है), आनन्दश्च आकारः (आनन्द 'आ'कार है), पुनः वकारः ब्रह्मता ('व'कार ब्रह्मत्व है), ऋतं ऋकारेण विद्यात् (ऋत को ऋकार से जाने), तद्वयं (दो 'त'कार) तर्तुं तर्प्तुं च (तरण और तृप्ति के लिए) 'इ' संज्ञकः (इकार) जनिमृति-सृतेः पारं (जन्म-मृत्यु-रूप संसार के पार) आत्मनि (आत्मस्वरूप तक) इयात् (ले जाने में समर्थ है) ।

भाष्य-अब 'समावृत्ति' शब्द के अक्षरों पर विचार करके देखें । सत्य ही 'स'-कार है, मधु 'म'कार है, आनन्द 'आ'कार है, ब्रह्मत्व 'व'कार है, ऋत 'ऋ'कार है, दो 'त'कारों में से एक है तरण और दूसरा है तृप्ति । अर्थात् एक श्रेय, दूसरा प्रेय; शेष जो ह्रस्व 'इ'कार बचा उससे क्या समझना होगा ? जन्म-मृत्यु रूप संसार के पार, जो नित्य शुद्ध बुद्ध आत्मस्वरूप है, उस तक ले जाने में वह समर्थ है; यही 'इ'कार का रहस्य है । ('इ' धातु—गमन) ॥२६-२७॥

समिति चानुसन्धत्ते धामेत्याकारसूचितम् ।
यद्गत्वा न निवर्तन्त इति चरमवृत्तिता ॥२८॥

अन्वय-सम् इति ('सम्' से) अनुसन्धत्ते (अनुसन्धान करता है, यह अभिप्राय विदित होता है), आकारसूचितं धाम इति ('आ'कार से 'धाम' सूचित है), यत् (जिस धाम को) गत्वा (प्राप्त कर, पहुँच कर) न निवर्तन्ते (पुनः लौटना नहीं होता) इति (इस प्रकार) चरमवृत्तित्ता (अनुसन्धान से, परम धाम में 'वृत्ति' होती है) ।

भाष्य-पुनः विचार करें, 'सम्' इस शब्द द्वारा 'अनुसन्धान करो' यह अभिप्राय समझना होगा; 'सम्' के बाद जो 'आ'कार है, वह धामवाचक है, किन्तु वह धाम

कौन सा है ? जिस धाम में जाकर फिर लौटना नहीं होता, वह परम धाम ही लक्ष्यार्थ है, अतएव समावृत्ति से उस प्रकार का अनुसंधान समझना होगा जो परम धाम में 'वृत्ति' अथवा विश्रान्ति प्राप्त कराये ॥२८॥

गायत्र्याऽऽकार आयाति मधुमत्या समित्यृचा।
हंसवत्या च वृत्तित्वं ह्रौंस इत्यर्यते त्रिभिः ॥२९॥

अन्वय—मधुमत्या ऋचा (मधुमती ऋक् से) 'सम्' इति ('सम्' है) गायत्र्या (गायत्री ऋक् से) आकारः ('आ'कार है) हंसवत्या (हंसवती ऋक् से) वृत्तित्वं (वृत्तिता) आयाति (प्राप्त होती है), त्रिभिः (तीन ऋचाओं के सम्मेलन से) 'ह्रौंसः' इति (यह बीजमन्त्र) अर्यते (कहा जाता है)।

भाष्य—मधुमती ऋक् से 'सम्', गायत्री, ऋक् से 'आकार', हंसवती ऋक् से 'वृत्ति'—इस प्रकार 'समावृत्ति' शब्द में तीन ऋचाओं की त्रिधारा सम्मिलित है। हम देखते हैं कि 'ह्रौंसः' इस बीज में ये तीन ऋक् सम्मिलित हैं, अतएव समावृत्ति का मन्त्र है 'ह्रौंसः' ॥२९॥

समित्यस्य त्रिधा वृत्तिराकारस्य पुनस्तथा।
तद्धानिमदवृत्तित्वं समावृत्तिरितीरितम् ॥३०॥

अन्वय—सम् इति अस्य (सम् की) पुनः तथा (फिर उसी प्रकार) आकारस्य ('आ' कार की) त्रिधा वृत्तिः (त्रिविध वृत्ति है) तद्धानिमदवृत्तित्वं समावृत्तिः (वह त्रिविध वृत्ति जहाँ नहीं है वह समावृत्ति नहीं है, ऐसा) ईरितम् (कहा गया है)।

भाष्य—बाद में हम देखेंगे कि 'सम्' की त्रिविध वृत्ति है। 'आ'कार की भी त्रिविध वृत्ति है। अतएव 'समा' शब्द की उक्त त्रिविध वृत्ति जहाँ नहीं है, वहाँ समावृत्ति भी नहीं है, ऐसा अनुमान करना होगा ॥३०॥

सत्त्वं ज्योतिष्ट्वरसत्वे मा गमय इति श्रुतिः।
समावृत्तिमृते तु स्यान्मा गमः शाश्वतीः समाः ॥३१॥

अन्वय—सत्त्वं ('असतो मा सद्गमय') ज्योतिष्ट्वं ('तमसो मा ज्योतिर्गमय') रसत्वं ('मृत्योर्मा अमृतं गमय') इति श्रुतिः (ये वेदवचन हैं) तु (किन्तु) समावृत्तिम् ऋते (समावृत्ति के बिना) मा गमः शाश्वतीः समाः (असत्य, अज्ञान और मृत्यु के पार अनन्त काल में भी नहीं उतरा जा सकता)।

भाष्य—श्रुति ने कहा है असत् से सत् में ले 'चलो, तमः से ज्योतिः में ले चलो मृत्युरूप महादुःख से साक्षात् रसस्वरूप अमृत में ले चलो' यह गमन या अभ्यारोह समावृत्ति के बिना संभव नहीं होता। समावृत्ति के बिना असत्य, अज्ञान और मृत्यु

के पार अनन्तकाल में भी नहीं उतरा जा सकता। ('गमय प्लुत' भाव से उच्चारित होता है, इसीलिये कारिका में 'इति' के साथ उसकी सन्धि नहीं हुई है) ॥ ३१ ॥

किञ्चिद् वा बाधते सम्यक् सम्यगन्वेति किञ्चन।
विशिनष्टि पुनः सम्यक् तिस्रः समिति वृत्तिताः ॥ ३२ ॥

अन्वय—किञ्चित् (कोई) सम्यक् (सम्यक् रूप से) बाधते (बाधित होता है), किञ्चन (कोई) सम्यक् अन्वेति (अन्वित होता है) (और कोई) सम्यक् (सम्यक् रूप से) विशिनष्टि (विशेषित होता है) (इस प्रकार) सम् इति तिस्रः वृत्तिताः (सम् की तीन वृत्तियाँ हैं) ।

भाष्य—अब वह त्रिविध वृत्ति क्या है यह समझने का यत्न करें। 'सम्यक्' शब्द के भीतर ही यह तीन प्रकार की वृत्ति है कैसे? कोई सम्यक् रूप से बाधित होता है, कोई सम्यक् रूप से अन्वित होता है, और कोई सम्यक् रूप से विशेषित, निरूपित होता है। ये तीन 'सम्' की वृत्ति के प्रकार हैं, ऐसा समझना होगा। किसी तत्त्व के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणा का निरसन, कहाँ-कहाँ उस तत्त्व का अन्वय हुआ है उस का दर्शन, तत्त्व के स्वरूप में प्रवेश, ये तीन सर्वथा न होने तक समावृत्ति नहीं होती ॥ ३२ ॥

सञ्जानीते समावृत्तौ समीक्षते समेति च।
ज्ञातुं द्रष्टुं प्रवेष्टुं च स्वरूपतो यथाक्रमम् ॥ ३३ ॥

अन्वय—समावृत्तौ स्वरूपतः यथाक्रमं (समावृत्ति में क्रमशः) ज्ञातुं सञ्जानीते (सम्यक् रूप से जानता है), द्रष्टुं समीक्षते (सम्यक् देखता है) प्रवेष्टुं समेति च (और सम्यक् प्रवेश करता है) ।

भाष्य—अतएव समावृत्ति में 'सम्यक् रूप से जानता है' 'सम्यक् रूप से देखता है' एवं 'सम्यक् रूप से प्रविष्ट होता है' यानी 'तद्भावभावित हो जाता है', ये तीनों हैं। किसी भी तत्त्व को स्वरूपतः प्राप्त करने हेतु यह क्रम समझना होगा—ज्ञातुं द्रष्टुं प्रवेष्टुं च ॥ ३३ ॥

सूर्याचन्द्रमसौ चाग्नीषोमौ च नादबिन्दुकौ।
प्राणापानाविति द्वन्द्वाश्चाध्यात्मिकादयस्त्रयः ॥ ३४ ॥
सम्यग्वर्तेऽत्रस्यां वै समासमतामिताः।
अतएव समावृत्तिरिति व्युत्पाद्यते हि सा ॥ ३५ ॥

अन्वय—सूर्याचन्द्रमसौ (सूर्य और चन्द्रमा) च (और) अग्नीषोमौ (अग्नि और सोम) च (और) नादबिन्दुकौ (नाद और बिन्दु) प्राणापानौ (प्राण और अपान) इति द्वन्द्वाः (ये विविध द्वन्द्व) आध्यात्मिकादयः त्रयः (आध्यात्मिक आदि

त्रिपुटी-भेद) अस्यां (इस समावृत्ति में) समाससमतां (सुषम समन्वय को) इताः (प्राप्त हुए) वर्तेरन् (रहते हैं) अतएव (इसलिए) सा 'समावृत्ति'रिति व्युत्पाद्यते (इस प्रकार समावृत्ति की व्युत्पत्ति की जा सकती है) ।

भाष्य—सूर्य-चन्द्रमा, अग्नि-सोम, नाद-बिन्दु, प्राण-अपान इत्यादि विविध द्वन्द्व एवं आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक प्रकार के त्रिपुटीभेद जिस अवस्था में परस्पर वैषम्य और विरोध त्याग कर सुषम समन्वय लाभ करते हैं, उस अवस्था को समावृत्ति का लक्ष्य समझना होगा । समा = समञ्जसा, वृत्ति = गति एवं स्थिति । मान लें कि प्राण और अपान ये दो वृत्ति हैं । ये दोनों वृत्ति परस्पर संगत हैं, किन्तु सुसंगत नहीं हैं, अर्थात् प्राण-व्यापार और अपान-व्यापार के मध्य समता की रक्षा नहीं हो रही है । प्राणायाम के द्वारा इस समता की रक्षा का प्रयत्न करना होता है । 'प्राणापानौ समौ कृत्वा' । अग्नि और सोम प्रभृति युग्म तत्व के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार समताविधान का यत्न करना होगा । यह समस्त साधन ही समावृत्ति का अंग हैं ।। ३४-३५ ।।

छन्दसां समतावृत्तिः समासतः समञ्जसा ।
समावृत्तिर्हि सा ज्ञेया व्यासविषमतां विना ।। ३६ ।।

अन्वय—समासतः (जपस्पन्दन-समूह के समुच्चय में) छन्दसां (छन्दों की) समतावृत्तिः (समता की स्थिति में रहना) समञ्जसा (अपेक्षित है), हि (क्योंकि) समावृत्तिः (समावृत्ति) व्यासविषमतां विना (व्यास-विषमता की स्थिति से रहित) ज्ञेया (जाननी चाहिये) ।

भाष्य—पुनश्च, समास अथवा अविभक्तावस्था से व्यास अथवा विभक्तावस्था में लौटते समय भी यह ध्यान रखना होगा कि कहीं व्यास-विषमता आकर उपस्थित न हो जाय, अर्थात् विभक्त हो कर प्राणापानादि विषमता को प्राप्त न हों । जैसे, कुम्भक में वायु स्थिर हो कर प्राण और अपान के स्वतन्त्र वृत्तिद्वय का लय कराता है, कुम्भक के अवसान में भी यह ध्यान रखना होगा कि प्राण और अपान का वृत्तिद्वय सुषमभाव से ही प्रवर्तित हो, विषमभाव से नहीं । मन्त्र के सहकार से जप आदि साधन में भी इन दो मूल सूत्रों का अनुस्मरण करके अग्रसर होना होगा । समास में अथवा जपस्पन्दन समूह के समुच्चय में समता रहे, समुच्चय से पुनः विचय की भूमि में लौट आने पर भी विषमता उपस्थित न हो । जैसे प्राणायाम के फल से प्राणापानादि का लय, वायु की स्थिरता, केवल कुम्भक उपस्थित होता है, उसी प्रकार जप करते-करते भी शुद्ध प्रणव में अथवा अनाहत ध्वनि या नाद में जप का लय हो जाता है । ऐसी लय की अवस्था ही शान्तावस्था है । क्षोभ अथवा उत्तेजना रहने पर समझना होगा कि समास-समता

नहीं है, किसी बाधा द्वारा आहत होकर जप तो मूर्छित और स्तब्धमात्र हुआ है। इस प्रकार की जप मूर्च्छा काम्य नहीं है। पुनश्च, अव्यक्त शान्त-भूमि से जब जप व्यक्त रूप से सक्रिय होता है, तब भी ध्यान रखना होगा कि व्यास-विषमता दोष अक्रमण न करे। जप से जो सत्त्वोद्रेक होता है, उसी के फल से उक्त प्रकार का अव्यक्त शान्त भाव आता है। सत्त्व का उद्रेक होते ही प्राकृतिक नियमानुसार रजः और तमः की ओर से प्रतिक्रिया होने की संभावना होती है। पुराण की आख्यायिका में यही है मधु और कैटभ का प्रादुर्भाव। ये जपजनित तन्मय भाव के अवसान में जब पुनः स्पष्टतः जपक्रिया में प्रवृत्त होने का उपक्रम करते हैं, तब रजः और तमः की संभावित प्रतिक्रिया वास्तविक रूप में दिखाई दे सकती है। उसके दिखाई देने पर व्यास-विषमता दोष आयेगा। अतएव ध्यान रखना होगा कि जप की तन्मयता से उतर कर भी जप की निरुपद्रव प्रशान्तवाहिता में रहना है। 'समावृत्ति' कहने से आरोह-अवरोह दोनों क्षेत्रों में निरुपद्रव समता समझाना होगा। ३६॥

[श्रीगणेश-स्तुतिः श्लो० ३७-४३]

नादविन्दुकलात्मा यः प्रणवादिवपुश्च यः।
गिरां चतुष्टयं यस्य चत्वारो बाहवः क्रमात् ॥३७॥
शंखेन वैखरीं वाचं गदया मध्यमां गिरम्।
सुदर्शनेन पश्यन्तीं पद्मेन च परां भ्रियात् ॥३८॥
एकदन्त उदग्रेण दता व्यामोहदारकः।
मूषिको वाहनं यस्य सोऽव्याद् रहस्यविग्रहः ॥३९॥

अन्वय-यः (जो) नादबिन्दुकलात्मा (है), च (और) यः (जो) प्रणवादिवपुः (प्रणवादि बीजमन्त्ररूप शरीर वाले हैं), यस्य (जिनकी) चत्वारः (चार) बाहवः (भुजाएं) क्रमात् (क्रमशः) गिरां चतुष्टयम् (वाक्चतुष्टय) (है), (वे) शङ्खेन (शङ्ख से) वैखरीं वाचं (वैखरी वाणी को) गदया (गदा द्वारा) मध्यमां (मध्यमा वाणी को) सुदर्शनेन (सुदर्शन चक्र द्वारा पश्यन्तीं (पश्यन्ती वाणी को) पद्मेन (पद्म द्वारा) परां (परा वाणी को) भ्रियात् (भरण करते हैं)। एकदन्तः (एक दाँत वाले) उदग्रेण दता (ऊँचे दाँत से) व्यामोह-दारकः (व्यामोह का विदारण करते हैं) यस्य मूषिको वाहनं (जिनका वाहन मूषिक है) सः (वह गणपति) रहस्यविग्रहः (**Mystic figure**) अव्यात् (रक्षा करें)।

भाष्य-जो नादबिन्दु-कलात्मा हैं, प्रणवादि बीज-मन्त्र जिनका शरीर है, वाक्-चतुष्टय जिनके चार बाहु हैं, उन गणपति का स्मरण करता हूँ। वे शंख द्वारा वैखरी, गदा द्वारा मध्यमा, सुदर्शन चक्र द्वारा पश्यन्ति एवं पद्म के द्वारा परावाक्

का भरण कर रहे हैं। वे रहस्यविग्रह (Mystic figure) भगवान् एकदन्त अपने उदग्र दन्त द्वारा व्यामोह का विदारण किया करते हैं। मूषिक जिनका वाहन है, वे हमारी रक्षा करें ॥३७–३९॥

द्वे रूपे मूषिकस्यास्य सितासितेऽखिलात्मनः।
कृत्स्नच्छिदश्च भूतानामन्तःकुहरगाहिनः॥
नक्तन्दिवञ्च सर्वेषामायुर्मूलानि कृन्ततः॥४०॥

अन्वय—भूतानां (निखिल भूतों के) अन्तःकुहरगाहिनः (अन्तःकुहर में प्रविष्ट होकर) कृत्स्नच्छिदः (समस्त का कृन्तन करने वाले) च (और) नक्तन्दिवं (दिवारात्रि) सर्वेषां (चराचर सभी भूतों के) आयुर्मूलानि (आयुमूल को) कृन्ततः (काटते हुए) अस्य (उन गणपति के) अखिलात्मनः (विश्वरूप वाले) मूषिकस्य (मूषिक के) सितासिते (शुक्ल और कृष्ण) द्वे रुपे (दो रूप हैं)।

भाष्य—उनका वाहन मूषिक अखिलात्मा विश्वरूप है, उस मूषिक के शुक्ल और कृष्ण दो रूप हैं। वे निखिलभूतों के अन्तःकुहर में प्रविष्ट होकर समस्त (सब कुछ का) 'कृन्तन' अर्थात् छेदन कर रहे हैं। रात्रि और दिवा (कृष्ण और शुक्ल) इन दो रूपों में चराचर सर्वभूतों के आयु के मूल को काट रहे हैं। ॥४०॥

व्यस्तौ च विषमौ यौ तु नासाविवरचारिणौ।
रूपे मूषिकवर्यस्य तौ जानीयाद् विशेषतः॥४१॥

अन्वय—यौ (जो) नासाविवरचारिणौ (नासा-विवरों में संचरण करने वाले) व्यस्तौ विषमौ च (प्राण और अपान वायु हैं) तौ (उन दोनों को) विशेषतः (विशेष भाव से) मूषिकवर्यस्य (मूषिकवर के) रूपे (रूप में) जानीयात् (जानना चाहिए)।

भाष्य—प्राणी के नासाविवरचारी व्यस्त और विषम वायु हैं प्राण और अपान। उन दोनों को विशेष भाव से मूषिकवर का रूप समझें, अर्थात् इतस्ततः विक्षिप्त भाव से नासिका रूप छिद्र में जो प्राण और अपान वायु एक बार प्रविष्ट हो रहा है ओर फिर बाहर आ रहा है, वही मानो मूषिक का प्रकट रूप है क्योंकि इसी के द्वारा समस्त प्राणियों की आयु अज्ञात रूप से क्षय और नाश को प्राप्त हो रही है ॥४१॥

समासेन समत्वेन संयमेन समीहया।
तयोः सन्धौ समारोहं नादबिन्दुकलात्मनः॥४२॥
ओङ्कारस्य विजानीत मातृकागणगीष्पतेः।
समावृत्ति गणेशस्य या बहुश्रेयसी मता॥४३॥

अन्वय–तयोः (व्यस्त और विषम वायु-द्वय की) सन्धौ (स्थिर सन्धि में) संयमेन (प्राण संयम-द्वारा) समीहया (मनःसंयम द्वारा) समासेन समत्वेन (समास, समता बनाकर) समारोहं (समारोहण) (करना होगा), नादबिन्दुकलात्मनः (नाद-बिन्दुकलात्मा) ओङ्कारस्य (ॐकारस्वरूप) मातृकागणगीष्पतेः (मातृकागणवाचस्पति) गणेशस्य (गणेश की) समावृत्ति विजानीयात् (समावृत्ति समझे) या (जो) बहुश्रेयसी (प्रभूत श्रेयोलाभ का हेतु) मता (मानी गई है)।

भाष्य–प्राणसंयम और मन संयम के द्वारा इस व्यस्त और विषम वायुद्वय की समास समता बनाकर, उनकी स्थिर सन्धि में समारोहण करना होगा। जो नाद-बिन्दु-कलात्मा ओङ्कार हैं, वे मातृकागण वाचस्पति स्वयं गणेश हैं अर्थात् गणेश ही ॐकार की प्रकट मूर्त्ति हैं। प्राण, मन के संयमन द्वारा व्यासविषमता का परिहार करके समास समता में ओंकार के शान्तस्वरूप में स्थिति को ही समावृत्ति समझें। इस प्रकार की समावृत्ति प्रभूत श्रेयोलाभ का हेतु है ॥४२, ४३॥

[ॐकार के अकार, उकार, मकार, नाद, बिन्दु, शान्त, शान्तातीत–ये ७ लोक हैं, इनमें से प्रथम तीन से प्रत्यावृत्ति होती है, अर्थात् केवल अकार, उकार, मकार–इन तीन के आश्रय से किये गए प्रणव जप में हमें इस व्यस्त और विषम अवस्था में लौट आना पड़ता है। यदि नाद और बिन्दु का अनुग्रह लाभ हो जाए, तब प्रत्यावर्त्तन का वेग कटकर शान्त भूमि में आरूढ़ होने वाला वेग मिल जाता है। यह द्वितीय वेग न आने तक हम समावृत्ति की धारा में नहीं जा सकते]

[वृत्तिभेद-पञ्चकम् श्लोक ४४, ४५]

समावृत्तौ समाधानं प्रत्यावृत्तौ प्रतिक्रिया।
परावृत्तौ परेतस्य पारीणवृत्तिता मता ॥४४॥

अन्वय—समावृत्तौ (समावृत्ति में) समाधानं (व्यवधान के व्यपगत होने पर समाधान होता है), प्रत्यावृत्तौ (प्रत्यावृत्ति के क्षेत्र में) प्रतिक्रिया (क्रिया-मात्र की प्रतियोग क्रिया होती है), परावृत्तौ (परावृत्ति में) परेतस्य (भूमि, स्तर या भाव से अतीत की) पारीणवृत्तिता (शान्तातीत में गति) मता (मानी गई है)।

भाष्य - समावृत्ति में लक्ष्य वस्तु का व्यवधान दूर हो जाता है। व्यवधान दूर होने पर ही समाधान होता है। प्रत्यावृत्ति के क्षेत्र में क्रियामात्र की प्रतियोगी क्रियां (अर्थात् प्रतिक्रिया) के लिए हमें प्रस्तुत रहना पड़ता है। इन दो के अतिरिक्त भी एक प्रकार की वृत्ति है, जिसका नाम है परावृत्ति। इस परावृत्ति का अर्थ है–जिस भूमि में अथवा स्तर में, जिस भाव से वृत्ति हो रही है, उस भूमि, स्तर अथवा भाव से अतीत हो जाना। जिस प्रकार प्रणवजप से यदि शान्तभूमि के भी पार–शान्तातीत में गति होती है, उसे परावृत्ति कहा जायेगा ॥४४॥

अनुक्रमोऽनुवृत्तौ च व्यावृत्तौ गूढबाधनम्।
अन्योन्यता परीतौ च वैकल्पिकी ह्यतादृशी।
एवं भेदा इमे पञ्च विद्यन्ते सर्ववृत्तिषु ॥४५॥

अन्वय—व्यावृत्तौ (व्यावृत्ति में) गूढबाधनम् (ब्रह्मस्वरूप अथवा ओंकार का बाधन होता है), अनुवृत्तौ (अनुवृत्ति में) अनुक्रमः (नैरन्तर्य का अभाव होता है) परीतौ (परिवृत्ति में) अन्योन्यता (पारस्परिक अपेक्षा होती है) वैकल्पिकी (अनिश्चयवृत्तिता) अतादृशी (विरूपा होती है)। एवम् इमे पञ्च भेदाः सर्ववृत्तिषु विद्यन्ते (ये पाँच भेद सभी वृत्तियों में हैं)।

भाष्य—यहां पर सब प्रकार की वृत्तियों के पाँच भेद लक्ष्य करना है। प्रथम व्यावृत्ति है। इसके द्वारा सर्वभूत और निखिल प्राणी एक व्यूह रूप धारण किए हुए हैं। इस व्यूहरूप धारण के फल से उनके ब्रह्म स्वरूप अथवा ओङ्कार स्वरूप का बाध हुआ है। व्यूहरूपता की प्राप्ति के फल से सब कुछ अविद्या आदि पञ्चक्लेशों का विषय बन गया है। जब यह क्लेशसंकुल व्यूहरूपता अपने को शिथिल या मुक्त करने की चेष्टा करती है, तब जिस वृत्ति का उदय होता है, वह है द्वितीय अनुवृत्ति। अनुवृत्ति के उदित होते ही उसमें निरुपद्रव-नैरन्तर्य नहीं आता। अर्थात् यह वृत्ति विच्छिन्न एवं व्याहत होती है। प्रकृतिजन्य प्रतिक्रिया के फल से ही ऐसा हुआ करता है। व्यूह खुलते-खुलते फिर बन्द हो जाता है, ऋजु होते-होते फिर कुटिल हो उठता है। इस तृतीय वृत्ति का नाम है—प्रत्यावृत्ति। जो व्यूह-मोचन का अनुकूल वेग है, वह यदि क्षीण न हो तब व्यूह में सम्प्रसारण एवं शङ्खावर्तभङ्गी से क्रमशः ऊर्ध्वगति होती रहती है, यह चतुर्थवृत्ति है—परिवृत्ति। परिवृत्ति आरम्भ होने से ही विपद् कट नहीं गई, क्योंकि तब भी व्यूहाकार में बन्द रहने का जो वेग है और व्यूह से मुक्त होने का जो वेग है—इन दो वेगों की अन्योन्यता अर्थात् पारस्परिक अपेक्षा रह जाती है।

अतएव इस परिवृत्ति के क्षेत्र में आकर भी हमें सावधान रहना होता है, जिससे वृत्ति वैकल्पिकी न हो, अतादृशी न हो। वैकल्पिकी का अर्थ है—जो लक्ष्य है और जो लक्ष्य नहीं है—इन दोनों के बीच अनिश्चयवृत्तिता। कौन सा मित्रच्छन्द है और कौन सा मित्रच्छन्द नहीं है, इसमें संशय-दोलायमान अवस्था। अतादृशी का अर्थ है—गति और स्थिति के ऋत और सत्यरूप के अनुरूप न होकर विरूप हो जाना। इस द्विविध अवस्था का परिहार करके शंखावर्त में ऊर्ध्वगति होते-होते, आवृत्ति से एकान्तभाव से मुक्त हुआ जाता है। अर्थात् जब व्यूहसाधक शक्ति एवं व्यूहबाधक शक्ति, इन दोनों के अनुपात की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती, तब जिस चरमवृत्ति का उदय होता है, वह पंचम परावृत्ति है। परावृत्ति दुस्तर भवसागर के

पार में स्थित है। अनुवृत्ति से आरम्भ करके इस चरम परावृत्ति पर्यन्त समग्र व्यापार जिसके द्वारा निर्वाहित होता है, उसी का नाम है समावृत्ति। अतः प्रणववादी जप समावृत्ति का अङ्गीभूत है॥ ४५॥

बाधा-प्रतिक्रिया-निरूपणम् श्लो० ४६-४९]

अनुवृत्तिरकारस्योकारस्य वृत्तिता द्विधा।
एकयाऽपोहते बाधमन्ययेष्टे प्रतिक्रियाम्॥ ४६॥

अन्वय—अकारस्य (अर्थात् अकार के द्वारा) अनुवृत्तिः (अर्थात् अनुवृत्ति का आरम्भ होता है)। उकारस्य (उकार की) वृत्तिता द्विधा (वृत्तिता दो प्रकार की है); एकया (एक अनुवृत्ति से) बाधं (पथ की बाधा का) अपोहते (अपनोदन करते हैं) अन्यया (दूसरी अनुवृत्ति से) प्रतिक्रिया (प्रतिक्रिया को) ईष्टे (वशीभूत करते हैं)।

भाष्य—इस के बाद ॐकार के द्वारा समावृत्ति का विचार करना होगा। ॐकार की प्रथम मात्रा अकार के द्वारा अनुवृत्ति का आरम्भ होता है। द्वितीय मात्रा उकार की द्विविध वृत्ति है। पहली वृत्ति अनुवृत्ति के पथ में जो बाधा है, उसका अपनोदन करने को प्रवृत्त होती है। दूसरी वृत्ति अनुवृत्ति के फल से जो प्रतिक्रिया आरंभ होती है, उस प्रतिक्रिया को वशीभूत करती है। सर्वदा स्मरण रखना होगा कि किसी भी साधन के द्वारा किसी भी अनुकूल वृत्ति की सूचना होते ही दो अन्तराय उपस्थित होते हैं। प्रथमतः जिस व्यूह को भेद कर मुक्त होना चाहते हैं, उसकी जड़ता अथवा उस के निजस्व संस्कार पत्थर की दीवार के समान अवरोध करते हैं, किसी प्रकार से अग्रसर नहीं होने देते। जिस यन्त्र से मेरा व्यवहार हो रहा है, उसी यन्त्र का जड़वेग (momentum) काट कर मैं उठ नहीं सकता। यह हुआ पहला अन्तराय।

यन्त्रपाश से मुक्त होने के लिए मैं जो यत्न करता हूँ, उस के फल से उस यन्त्र में, उस के पारिपार्श्विक सब कुछ में, एक प्रतिक्रिया (reaction) भी उपस्थित होती है। जैसे इस शरीर में कोई व्याधि हुई है। उस व्याधि को ठीक करने के लिए मैंने औषधि खाई। औषधिसेवन की द्विविध क्रिया है। रोग से शरीर की स्वच्छन्दता में जो बाधा उपस्थित हुई है, उस बाधा को दूर करना तथा शरीर-यन्त्र में एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया की सृष्टि करना। यह प्रतिक्रिया स्वास्थ्य के पुनर्लाभ के लिए अनुकूल भी हो सकती है, और प्रतिकूल भी हो सकती है। यदि प्रतिकूल होने पर वह प्रतिक्रिया, अपक्रिया या विक्रिया है। इसीलिए औषध सेवन से शरीर में कोई विक्रिया उपस्थित हुई या नहीं. इस पर विशेष ध्यान रखना होता है। साधन मात्र में भी इस नियम का दृष्टान्त

मिलेगा। किसी मन्त्र का जप कर रहा हूँ। जप के फल से जपकर्ता के यन्त्र में एक प्रतिक्रिया आरम्भ होती है। प्रतिक्रिया का अनुकूल होना शुभ है। प्रतिकूल अथवा विक्रिया होने पर उस का दमन (control) करने की व्यवस्था होनी चाहिये। अब प्रणव की द्वितीय मात्रा 'उकार' दोनों प्रकार से काम करने में प्रवृत्त होती है—यन्त्र का जो जड़वेग या **momentum** है, उसे काटने में प्रवृत्त होती है एवं प्रतिक्रिया भी विक्रिया में पर्यवसित न होकर वैसा विधान करती है।।४६।।

बाधाप्रतिक्रिये येऽपि रिपुच्छन्दोऽनुगच्छतः।
ऋतस्य वर्त्मनि याभ्यामनृजुत्वञ्च जन्यते।।४७।।

अन्वय—ये अपि (जो भी) बाधाप्रतिक्रिये (बाधा और प्रतिक्रिया) (हैं, वे) रिपुच्छन्दः अनुगच्छतः (रिपुच्छन्द की अनुवर्तिनी होती हैं) याभ्यां (जिन बाधा प्रतिक्रिया से) ऋतस्य वर्त्मनि (ऋत के मार्ग में) अनृजुत्वं (कुटिलत्व) जयन्ते (उत्पन्न होता है)।

भाष्य—इस के बाद लक्ष्य करना होगा कि बाधा तथा प्रतिक्रिया रिपुच्छन्द की अनुवर्त्ती हैं, अथवा मित्रच्छन्द की अनुवर्त्ती हैं। प्रतिक्रिया की भाँति बाधा भी अनुकूल-प्रतिकूल, शुभ-अशुभ भेद से द्विविध है। बद्ध संस्कार की बाधा ही अशुभ बाधा है। यह बाधा अरिच्छन्द के अनुगत है, क्योंकि यह व्यूह बन्धन काट कर जाने नहीं देती। साधना के द्वारा जितना ही जप आदि का संस्कार दृढ़ होता रहेगा उतने ही, अथवा उसी परिमाण में शुभ संस्कार पूर्वतन अशुभ संस्कारों को रोकने में समर्थ होंगे। संस्कार-मात्र का एक निजस्व वेग होता है। शुभ संस्कार का प्रबल वेग अशुभ संस्कार के वेग को बाधा देने में समर्थ होगा। **Positive** (धनात्मक) दिशा में **momentum** (वेग) की सृष्टि करके **negative momentum** (ऋणात्मक वेग) काट कर ऊपर उठना होता है। शुभ संस्कार वेग के निमित्त जो शुभ बाधा है, वह मित्रच्छन्द की अनुवर्त्ती है। इस प्रकार देखा जाता है कि रिपुच्छन्द के अनुवर्ती हो कर बाधा एवं प्रतिक्रिया ही ऋत और सत्य, साधना के सरल पथ को सरल नहीं रहने देतीं—वक्र, कुटिल बना देती हैं।।४७।।

तयोर्निरसने हि स्यादुकारस्यायमुद्यमः।
मित्रच्छन्दस्यृजुत्वे च मकारवृत्तिता भवेत्।।४८।।

अन्वय—तयो (बाधा और प्रतिक्रिया के) निरसने (निरसन में) अयं (यह) अकारस्य (अकार का) उद्यमः (उद्योग) (समझना चाहिए), मकार-वृत्तिता ('म'कार की स्थिति) मित्रच्छन्दसि (मित्रच्छन्द में) च (और) ऋजुत्वे (ऋजुता में) भवेद् (होती है)।

भाष्य—इस वक्र कुटिलता के निरसन के लिए ओङ्कार की द्वितीय मात्रा उकार का उद्यम समझना होगा। अर्थात् जब प्रथम मात्रा अकार का उच्चारण हुआ तब अनुवृत्ति अथवा अनुकूल प्रवाह की सूचना हुई। बाधा प्रतिक्रिया उपस्थित होने के कारण प्रवाह सरल-स्वच्छन्द-गति नहीं रहता, वक्र-कुटिल हो जाता है, स्तब्ध भी हो जाता है। द्वितीय मात्रा उकार उच्चारित हो कर इस स्तब्धता और वक्रता का निरसन करती है। तृतीय मात्रा 'मकार', मित्रच्छन्द का आश्रय लेती है। वह ऋजुता लाती है ॥४८॥

लीना वैकल्पिको नादे बिन्दावतादृशी पुनः ।
ओमित्यस्य समावृत्तिर्यया सर्वं समाप्यते ॥४९॥

अन्वय—वैकल्पिकी (इस नाम की बाधा) नादे (नाद में) लीना (लक्ष्य प्राप्त होती है) पुनः (और) अतादृशी (इस नाम की बाधा) बिन्दौ (बिन्दु में) [लय प्राप्त होती है]। ओमित्यस्य (ओंकार की) समावृत्तिः (है) यया (जिस समावृत्ति द्वारा) सर्व (सब का) समाप्यते (समापन हो जाता है)।

भाष्य—पहले वैकल्पिकी और अतादृशी रूपी द्विविध अन्तराय की बात कही गई है। उनमें से वैकल्पिकी का लय होता है नाद में। अतादृशी का लय होता है बिन्दु में के अर्थात् अकार, उकार, मकार—इन तीन मात्राओं से उर्ध्व वाली जो अर्द्ध-मात्रा नादबिन्दु है, उसमें जप की जो संशय वृत्ति है, जो अयथार्थ वृत्ति है—वे दोनों तिरोहित हो जाती हैं। तब प्रणव निःसंशय रूप से स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। ओङ्कार की समावृत्ति अर्थात्—जिस समावृत्ति के द्वारा सर्वसमापन हो जाता है ॥४९॥

[मीनशक्तिनिरूपणम् श्लो० ५०-५३]

बीजं यद् विशति क्षेत्रं शेते तु जाड्यमूर्च्छितम् ।
तज्जागर्त्ति यदा बाधा प्रतिबध्नाति नोदयम् ॥ ५० ॥
अकारवृत्तिताव्याप्य एष एव ह्यनुक्रमः ॥ ५१ ॥
अव्याकृते बीजमात्रे जिजागरिषति पुनः ।
चञ्चल्यते सुप्तमीनस्तदा स्यादङ्कुरोद्गमः ॥ ५२ ॥
उकारतनुभाग् भास्वान् वराहो हेतुरुद्गमे ।
येन बाधाविक्रिये च तृह्यते अवलीलया ॥ ५३ ॥

अन्वय—यत् (जो) बीजं (बीज) क्षेत्रे (खेत में) विशति (पतित होता है), (जो) जाड्यमूर्च्छितं (जड़ता से मूर्च्छित होकर) शेते (सोता रहता है, उसमें प्राणसञ्चार का लक्षण दिखाई नहीं देता)। यदा (जब) बाधा (प्रतिबन्धक हेतु) उदयं न प्रतिबध्नाति [उदय को नहीं रोकता] [तब] तत् [वह बीज]

जागर्ति [जागरण प्राप्त करता है] एष एव हि [यह ही] अनुक्रमः [अनुक्रम] अकारवृत्तिताव्याप्यः [अकार की वृत्तिता का व्याप्य] [होता है], [जब] पुनः [फिर] अव्याकृते [अव्याकृत स्थिति के] बीजमात्रे [बीजमात्र] जिजागरिषति [जागरित होना चाहता है], सुप्तमीनः [बीज के मध्य की प्रसुप्त मीनशक्ति] चञ्चल्यते [चञ्चल हो उठती है] तदा [तब] अङ्कुरोद्गमः [अङ्कुर का उद्गम] स्यात् [होता है]। उकारतनुभाक् [उकार रूप शरीर का धारण करने वाले] भास्वान् [तेजस्वी] वराहः [वाराही शक्ति] उद्गमे [अङ्कुरोदय में] हेतुः [कारण है], येन [जिससे] बाधाविक्रिये [बाधा और विक्रिया] अवलीलया [लीलापूर्वक] तृह्येते [विदूरित होती हैं]।

भाष्य——अब एक स्थूल बीज का दृष्टान्त लेकर यह समापन-क्रिया समझने का प्रयत्न कीजिए। क्षेत्र में बीज पतित रहता है, किन्तु वह बीज जड़ता से मूर्च्छित है, उसमें प्राणसञ्चार का कोई लक्षण दिखाई नहीं देता है। उस बीज का जागरण कब होता है ? जब कोई बाधा उसके उदय में प्रतिबन्धक न हो तब। बीज जब जागने की इच्छा करता है, तब बीज की नाभि में स्थित ॐकार की प्रथम मात्रा 'अकार' के व्यापार का आरम्भ है। अब तक जो अव्याकृत, अव्यक्त बीजमात्र था, वह अङ्कुरित होने का उपक्रम करता है। हम देख चुके हैं कि यह उपक्रम या अनुक्रम ही अकार की वृत्ति है। बीज में जो प्रसुप्त मीनशक्ति पड़ी हुई है, उस शक्ति की स्तब्धता का नशा मानो कट जाता है। वह शक्ति चञ्चल हो उठती है। इसी को बीज की उच्छून अवस्था (swelling) कहते हैं। अब भी अङ्कुर का उद्गम नहीं हुआ है ! सुषुप्ति भङ्ग हुई है, किन्तु जागरण अब भी नहीं हुआ है। यह सुप्ति-जागरण की सन्धि-अवस्था है। उसके बाद सुप्त मीनशक्ति के चञ्चल होने से बीज के मध्य 'उकारतनुधृक्' या तनुधारी तेजस्वती वाराही शक्ति में शक्ति का उद्रेक होता है। उद्रेक के फलस्वरूप बाधा और विक्रिया लीलापूर्वक विदूरित हो जाती हैं। अब बीज से अङ्कुरोद्गम हो जाता है ॥ ५०-५३ ॥

[कूर्म्मशक्तिनिरूपणम्]

सांग्रहिकश्च धातूनामसूनां परिपोषकः।
प्ररोहयति कूर्मो यो मकारमधितिष्ठति ॥ ५४ ॥

अन्वय——धातूनां (उपादानों का) सांग्रहिकः (संग्रह करने वाला) असूनां (प्राणों का) परिपोषकः (परिपोष करने वाला) कूर्मः (कूर्म-शक्ति) प्ररोहयति (अङ्कुरित करता है) यः (जो कूर्म) मकारं (प्रणव के मकार पर) अधितिष्ठति (आश्रित है)।

भाष्य—बीज से अङ्कुरोद्गम होना ही पूर्ण विकास नहीं है। अङ्कुर का जो उपादान है, वह संग्रह करने में निपुण है। उसमें जो प्राण-स्रोत चलते रहते हैं, उन सबकी परिपोषिका किसी एक शक्ति का उनमें रहना आवश्यक है। उस शक्ति के वर्तमान न होने पर बीज से जो अङ्कुर उद्गत होता है, वह एक विशेष रूप और धर्म का परिग्रह करके किसी एक विशेष जाति वाले पादप में परिणत नहीं हो सकता। बीज के भीतर की इस संग्रह-कुशल, पोषक शक्ति को कूर्म्मशक्ति कहते हैं। प्रणव की तृतीय मात्रा 'म'कार ही कूर्म्मशक्ति है ॥ ५४ ॥

[नृसिंह-वामन-निरूपणम्]

नादबिन्दु च विज्ञेयौ नृसिंहवामनौ ततः।
वेविष्टे पूर्वया वृत्त्या पुनर्बीजायतेऽन्यया ॥ ५५ ॥

अन्वय—ततः (तब) नादबिन्दु (नाद और बिन्दु) नृसिंहवामनौ (नृसिंह और वामन) विज्ञेयौ (जानने चाहिए)। पूर्वया वृत्त्या (नृसिंह रूप नाद-शक्ति) वेविष्टे (विस्तार करती है) पुनः (फिर) अन्यथा (वामन रूप बिन्दुशक्ति) बीजायते (बीजरूप में रूपायित करती है)।

भाष्य—नाद और बिन्दु को यथाक्रमणेनन्नृ सिंह और वामन समझें। नृसिंहरूप नादशक्ति बीज का विस्तार करके उसे परिपूर्ण विकास की ओर ले जाती है। वामनरूप बिन्दुशक्ति उसी पूर्णता प्राप्त पादप को पुनः बीज रूप में रूपायित करती है ॥५५॥

[अम्भ-उर्वी-तत्त्वम् श्लो० ५६-५८]

अम्भसाऽत्र विजानीत लीनसंस्कारसङ्कराम्।
क्लेशपञ्चमूलाऽविद्यां यत्रासतेऽस्मितादयः ॥५६॥

अन्वय—अत्र (यहाँ) अम्भसा (जल से) लीनसंस्कारसंकरां (लीन अनादि संस्कारों वाली) क्लेशपञ्चमूलाऽविद्यां (क्लेशपञ्चक की मूलरूपा अविद्या को विजानीत (समझें) यत्र (जिस अविद्या में) अस्मितादयः (अस्मिता आदि) आसते (रहते हैं)।

भाष्य—यहाँ जिन मीन-कूर्मादि पञ्चशक्तियों की बात कही है, श्रीगुरु एकाधार में इस पञ्चशक्ति या पञ्चावतार के रूप हैं। यह बात 'श्रीगुरुपादाब्जदलपंचक' के अन्तिम श्लोक में कही गई है। वहाँ श्रीगुरु की पञ्चमूर्ति के वर्णन के प्रसंग में जिस पयः या जल की कथा अंकित है। (मग्नामुर्वीमिव पयसि), वह कौन सा जल है ? अम्भः या जल कहने पर समझना होगा स्वरूप के सम्बन्ध

में अज्ञान या अविद्या—जिसमें शुभ-अशुभ, शुक्ल-कृष्ण अनादि संस्कार-समूह लीन अवस्था में वर्तमान रहने हैं; जो क्लेशपञ्चक का मूल है, अतः उससे अस्मितादि क्लेशचतुष्टय, अर्थात् अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश का उद्भव होता है ॥५६॥

उर्वी विद्यात् त्रयीमत्र नादबिन्दुकलात्मिकाम् ।
सोमाग्निसूर्यरूपां वौषधिवनस्पती च गाम् ॥५७॥

अन्वय—अत्र [यहाँ] उर्वी [मूल तत्त्व के व्यक्त रूप उर्वी को] त्रयीं [त्रयी] नादबिन्दुकलात्मिकाम् [नादबिन्दुकला-रूपा] च सोमाग्निसूर्यरूपां [सोमाग्नि-सूर्य रूपा] वा [या] ओषधिवनस्पती गाम् [ओषधिवनस्पति गो-रूपा] विद्यात् [जाने] ।

भाष्य—'जल में मग्न उर्वी की भाँति'— इस में उर्वी कहने से क्या समझेंगे ? मूल तत्त्वों का उरु या व्यक्तरूप ही उर्वी शब्द का अर्थ है। यह उर्वी त्रयी है, जो त्रयी नादबिन्दु-कलात्मिका, सोमाग्निसूर्यरूपा अथवा ओषधि-वनस्पति-गोस्वरूपा है ॥५७॥

तत्त्वानामुरुरूपत्वं लीयतेऽव्याकृतेम्भसि ।
यदम्भो हि नासदीये सृष्टिसूक्ते च कल्पितम् ॥५८॥

अन्वय—तत्त्वानां [तत्त्वों की] उरुरूपत्वं [उरुरूपता] अव्याकृते अम्भसि [अव्याकृत जल में] लीयते [लीन हो जाती है], यत् [जो] अम्भः [जल] नासदीये [नासदीय सूक्त में] च (और) सृष्टिसूक्ते [सृष्टिसूक्त में] कल्पितम् [कथित है] ।

भाष्य—तत्त्वसमूह का उरुरूप अव्याकृत होकर जिसमें लीन होता है, उसे वेद के नासदीय सूक्त एवं सृष्टि सूक्त में यथाक्रम में 'अम्भः' और 'अर्णव' कहा गया है। ॥५८॥

[तपस्तत्त्वम् श्लो० ५९, ६०]

तपसा चीयते ब्रह्म भर्गोरूपञ्च तत्तपः ।
यतोऽभीद्धादृतं सत्यमध्वरायाध्यजायत ॥५९॥

अन्वय—तपसा [तप से] ब्रह्म चीयते [ब्रह्म का ध्यान करना होता है] च [और] तत् तपः [वह तप] भर्गोरूप [भर्गरूप होता है] यतः [क्योंकि] अध्वराय [यज्ञ के निमित्त] अभीद्धात् [अभीद्ध से] ऋतं सत्यं [ऋत और सत्य] अध्यजायत [उत्पन्न हुए हैं] ।

भाष्य—श्रुति ने कहा है—'तपसा चीयते ब्रह्म'। यह तप ज्ञानमय है

यह भी श्रुति ने अन्यत्र कहा है। तपः अर्थात् भर्गः। जगत्-सविता के इस वरणीय भर्ग का ही गायत्री मन्त्र में ध्यान होता है। सृष्टिरूप यज्ञविस्तार के निमित्त 'अभीद्धतपः' से पहले ऋत और सत्य उत्पन्न हुए, यह बात सृष्टिसूक्त में कही है ।।५९।।

तपस आविरायाति सर्गतावच्छिन्नता सतः।
बीजाङ्कुरप्ररोहाणां विशेषाभावरूपता ।।६०।।

अन्वय—तपसः [तप से] सतः [सद् वस्तु की] आविः ['आविः' अवस्था] आयाति [प्रकट होती है], सर्गतावच्छिन्नता [सर्ग अथवा सृष्टि के अभिमुख अवस्था 'आविः' है, जो कि] बीजाङ्कुरप्ररोहाणां [बीज, अङ्कुर अथवा प्ररोह की] विशेषाभावरूपता [विशेषहीन अवस्था है]।

भाष्य—जब एकमात्र सद्वस्तु ही है, सर्ग या सृष्टि जब नहीं है, ऐसी अवस्था में सद् वस्तु सृष्टि का सामान्य सङ्कल्परूप है अथवा सर्गाभिमुखीन जो आदिम अव्यक्त भाव है, उसी को सद्वस्तु का आवीरूप कहना होगा। इस आविः अवस्था में बीज, अङ्कुर, प्ररोह प्रभृति कोई 'विशेष' अभी तक परिलक्षित नहीं है, अर्थात् आविः को सृष्टि बीज अथवा अङ्कुर अथवा प्ररोह—इन सब में से कोई आख्या नहीं दी जाती। वस्तुतः 'सद् वस्तु ने कल्पना, कामना' ईक्षण किया था'--इत्यादि रूप में सृष्टि की जिस बीजावस्था की बात श्रुति ने बार-बार कहा है, वह भी मानो 'आविः' की परवर्ती अवस्था है। इस प्रकार समस्त अभिव्यक्ति के आदि में जो 'आविः' है, वह सब के 'विशेष' या निरूपक के अभाव के कारण स्वयं अव्यक्त है ।।६०।।

[आविस्तत्त्वम् श्लो० ६१-६५]

पयोधेर्निस्तरङ्गस्य प्राग्वीचिभङ्गतो यथाः।
वायुर्जितस्य दृश्येत कदाप्युच्छूनतागतिः ।।६१।।

अन्वय—यथा [जैसे] निस्तरङ्गस्य [तरङ्गरहित] पयोधेः (समुद्र के) वीचिभङ्गतः [वीचिभङ्ग से] प्राक् [पहले] वायुर्जितस्य [वायु के प्रभाव से] कदापि [कभी] उच्छूनतागतिः [उच्छ्वासमात्र गति। [दिखाई देती है]।

भाष्य—बाहर का एक चित्र देकर इसे समझने की चेष्टा कीजिए। सीमाहीन महासमुद्र निस्तरङ्ग सा है। वीचिभङ्ग के दिखाई देने के पूर्व वायु के प्रभाव से समुद्र-वक्ष पर एक उच्छ्वासमात्र परिलक्षित होता है। विचित्र नाम रूप विशिष्ट सृष्टिरूप में दिखाई देने के पूर्व ब्रह्म का अथवा सद्वस्तु का जो आविर्भाव है, उसे कुछ-कुछ इसी प्रकार समझने का यत्न करना होगा। गाढ़

सुषुप्ति के बाद जागरण के ठीक आरम्भ में इस प्रकार की एक अव्यक्त अवस्था होती है ॥६१॥

विशेषसर्गतादौ या विशेषाभावरूपता ।
उच्छ्वासमात्रभावेनाकल्पनीया तु कल्प्यते ॥६२॥

अन्वय—या [जो] विशेषसर्गतादौ [विशेष सृष्टि के आदि में] विशेषाभावरूपता [विशेष की अभावात्मक स्थिति] [विद्यमान होती है, उसकी हम] उच्छ्वासमात्रभावेन [उच्छ्वास मात्र रूप में] अकल्पनीया [अनिर्वचनीय] कल्प्यते [कल्पना करते हैं]।

भाष्य—समस्त 'विशेष सृष्टि' के आरम्भ में 'विशेष' की इस प्रकार अभावरूपता विद्यमान रहती है। अनिर्वचनीय उच्छ्वासमात्र के रूप में हम उसकी कल्पना किया करते हैं। वस्तुतः वह कल्पना के योग्य नहीं है ॥६२॥

आनन्दस्य य उल्लासारम्भोपक्रम एव च ।
आत्मप्रत्ययगम्येऽपि योऽवाङ्मनसगोचरः ॥६३॥

अन्वय—आनन्दस्य [आनन्द का] यः [जो] उल्लासारम्भोपक्रमः [उल्लास का आरम्भ और उपक्रम है, इन दोनों के] एव [ही] आत्मप्रत्ययगम्ये अपि [आत्मप्रत्यय में जान लेने के योग्य होने पर भी] यः [जो उसका आरम्भ और उपक्रम है वह] अवाङ्मनसगोचरः [वाक्-मन दोनों का गोचर नहीं है]।

भाष्य—आनन्द का स्वभाव यही है—जब आनन्द के उल्लास में आरम्भ और उपक्रम होता है, तब उसे हम आत्मप्रत्यय में जान तो लेते हैं, किन्तु उसे हम वाक् मन—इन दोनों में से किसी के द्वारा धारणा में नहीं ला पाते ॥६३॥

नान्तःप्रज्ञो बहिःप्रज्ञो न चाप्युभयरूपता ।
नास्ति यत्र घनप्रज्ञा यत्रोपक्रमते सनात् ॥६४॥

अन्वय—यः [जो] अन्तःप्रज्ञः [भीतरी प्रज्ञा वाला] न [नहीं] बहिःप्रज्ञः [बाहरी प्रज्ञा वाला] न [नहीं], यत्र (जिसमें) घनप्रज्ञा न [अर्थात् जो घनप्रज्ञ भी नहीं] [वह] सनात् [निरन्तर] उपक्रमते [उपक्रम करता है)।

भाष्य—जो बहिःप्रज्ञ भी नहीं है और अन्तःप्रज्ञ भी नहीं है, जिसे उभयतः प्रज्ञ कहा नहीं जाता, यहाँ तक कि जो घनप्रज्ञ भी नहीं है—इस प्रकार जो अलक्षण, अनिरुक्त, अव्यवहार्य सद्वस्तु है, उससे ही यह सकल त्रिविध प्रज्ञा की सूचना या आरम्भ है। उसकी मन के द्वारा धारणा करना या किसी वाक्य के द्वारा उसको प्रकाशित करना सम्भव है क्या ? । ६४॥

अहर्निशं गतं सन्धिं यत्राहनं च शर्वरी।
न जागर्तिर्न सुप्तिर्वा तस्याविशेषता मता ॥६५॥

अन्वय—यत्र (जहाँ) अहर्निशं (दिन और रात) सन्धिं गतं (सन्धि को प्राप्त हैं) (जहाँ) न अहः न च शर्वरी (न दिन है न रात्रि) (जहाँ) न जागर्ति (न जागरण है) न सुप्तिः वा (अथवा न सुप्ति है) तस्य (उस की) अविशेषता (अविशेष भावरूपता) मता (मानते हैं) ।

भाष्य—दिन और रात्रि जहाँ सन्धिप्राप्त हैं, अतः जहाँ दिन भी नहीं है, रात्रि भी नहीं है, जागरण भी नहीं है, सुप्ति भी नहीं है, उसे अविशेषभाव कह कर समझेंगे ॥६५॥

[आवीरात्रि-तत्त्वम् तद्गतं समुद्र-अर्णव-तत्त्वञ्च श्लो० ६६-७६]

भर्गोरूपादभीद्धात्तज्जातमाविरितीर्यते ।
तस्य प्रतिकृती रात्रिर्या रात्रिसूक्तमन्विता ॥६६॥
यतोऽधिकृत्य चात्मानं भावोऽतश्च स्वभावता ।
ब्रह्ममुखीनताऽऽविर्हि सर्गाभिमुखता क्षपा ॥६७॥

अन्वय—अभीद्धात् (अभीद्ध) भर्गोरूपात् (भर्गोरूप से) (जो) जातं (उत्पन्न है) तत् (उसे) 'आविः' इति (ऐसा) ईर्यते (कहते हैं) तस्य (उसकी) रात्रिः (रात्रि) प्रतिकृति (प्रतिकृति है,) या (जो) रात्रिसूक्तम् अन्विता (रात्रिसूक्त से सम्बद्ध है) ।

'यत् आत्मानं अधिकृत्य च भावः अतः च स्वभावता (आत्मा पर अधिकार करके स्थित भाव ही स्वभाव है) हि ब्रह्ममुखीनता आविः सर्गाभिमुखता क्षपा (अपरोक्ष रूप से पदार्थ का प्रतिभात होना क्षपा है । नाम रूपात्मा सृष्टि के रूप में प्रकाशित होना क्षपा है) ।

भाष्य—आत्मा पर अधिकार कर, आत्मा के सम्बन्ध में जो भाव रहता है; उसे 'स्वभाव' समझें। स्वभाव सत्यस्वरूप और ऋतस्वरूप है । तत्त्वतः वस्तुरूप में जो सत्यस्वरूप है, गतिरूप में वह ऋतस्वरूप होता है । यह गति भी तत्त्वतः गति है, हमारी कल्पित या अनुमित गति नहीं है । किसी पदार्थ के सम्बन्ध में हम ये दो मूल प्रश्न कर सकते हैं । पदार्थ तत्त्वतः क्या है एवं यथार्थ में किस रूप से उसकी वृत्ति होती है ? इन दो प्रश्नों के सम्बन्ध में हमारा उत्तर ज्ञान के विभिन्न स्तरों में विभिन्न होता है । जैसे लौकिक साधारण ज्ञान में एक प्रकार, वैज्ञानिक ज्ञान में अन्य प्रकार और योगज ज्ञान में शायद फिर तृतीय प्रकार । योगज ज्ञान की भी नाना भूमियाँ होती हैं । तब जिज्ञासा रह जाती है—पदार्थ का निरतिशय रूप क्या है; गुण क्या है, वृत्ति क्या है ? एक अनन्त सोपान श्रेणी के क्रम से हम अग्रसर हो रहे

हैं। शेष या चरम स्तर पर पहुँचने पर पूर्ण प्रज्ञान होता है, यही 'वेद' शब्द का मुख्य अर्थ है। पूर्ण प्रज्ञा की भूमि में पहुँचने पर वस्तु के स्वभाव की जो तत्त्वदृष्टि हमारे समीप उन्मोचित होती है वह तत्त्वदृष्टि ही हमें दिखा देती है कि सत्य क्या है और ऋत क्या है। कहना न होगा, इन दोनों के सम्बन्ध में सब की धारणा न्यूनाधिक भ्रान्त कल्पनामिश्रित, अयथार्थ है। सृष्ट पदार्थ श्रद्धाभिमुखीन भाव से, अर्थात् साक्षात् अपरोक्ष भाव से प्रतिभात हो रहे हैं, यह हुआ 'आविः'; विचित्र नामरूपात्मक प्रपञ्च के रूप में स्वरूप को आवृत कर के उन का प्रकाशित होना ही, क्षपा या रात्रि है।

अभीद्ध भर्गः ही तपः है, आदिम रूप ही 'आविः' है। 'रात्रि' उसकी प्रतिकृति है, अथवा 'उल्टा रूप' है। जो 'आविः' है वही 'रात्रि' है। सामान्य दृष्टि से ये दोनों आलोक तथा अन्धकार की भाँति विरुद्ध प्रतीत होते हैं। सृष्टि में सर्वत्र आविः' और 'रात्रि' एक दूसरे के साथ में अन्वित हैं। सामने एक पेड़ देख रहा हूँ। 'अस्ति' और 'भाति' रूप में वह 'आविः' है, किन्तु स्वरूपगत आनन्द एवं आनन्द के भूमात्व का परिचय आवृत है। वृक्ष को खण्डित एवं परिवर्तनशील विचित्र धर्मविशिष्ट रूप में ही देख रहा हूँ। यह आवरण है 'रात्रि'। अपने आत्मा के सम्वन्ध में भी इसी प्रकार भान हो कर भी अभान हो रहा है, और अभान होकर भी भान हो रहा है। यह 'आवि' एवं 'रात्रि' मिल कर करते हैं। इस के फलस्वरूप सब कुछ व्यक्ताव्यक्त है। सृष्टिसूक्त में एवं प्रसिद्ध रात्रिसूक्त में इस अघटन-घटन-पटीयसी रात्रि की बात कही गई है। हम देखेंगे कि इस रात्रि की और भी विचित्र मूर्तियाँ हैं यथा—महारात्रि, मोहरात्रि, कालरात्रि इत्यादि ॥६६-६७॥

सत्ये ब्रह्मस्वरूपे स्यादभिमुखीनता कुतः।
ऋतमृते प्रसज्येत नाभिमुखीनवृत्तिता ॥६८॥

अन्वय—सत्ये (सत्यरूप) ब्रह्मस्वरूपे (ब्रह्मस्वरूप में) अभिमुखीनता कुतः (अर्थात् अभिमुखीनता आदि के प्रश्न का अवकाश नहीं) ऋतम् ऋते (ऋत के बिना) अभिमुखीनवृत्तिता (अभिमुखता का) न प्रसज्येत् (प्रश्न नहीं उठ पाता)।

भाष्य—सत्यस्वरूप ब्रह्म में दिक्, देश, कालादि का कोई परिच्छेद नहीं है। फिर ब्रह्म के सम्बन्ध में अभिमुखीनता और विमुखीनता ही क्या? वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप में अभिमुखीनतादि के प्रश्न का अवकाश नहीं है। हाँ, 'आविः' और 'रात्रि' का जो परस्पर भेद कल्पित है, वह किस प्रकार से सिद्ध होगा? ब्रह्म-स्वरूप में, अथवा सत्य में अथवा उस के सम्बन्ध में कोई गति कल्पित न होने पर इस प्रकार अभिमुखता का प्रश्न उठ नहीं पाता। क्योंकि गति की ही दिशा होती है, सत्य की दिशा नहीं है।

अतएव 'ऋतञ्च सत्यञ्च' इस रूप से द्विधा अभिव्यक्ति जब तक नहीं होती तब तक 'आविः' और 'रात्रि' का भेद कल्पित नहीं होता ॥ ६८ ॥

आवी रात्री इति द्वे च व्योमवायु इतीरिते ।
सत्येऽनवसरत्वेऽपि स्यातामृतस्य वृत्तिते ॥ ६९ ॥

अन्वय—आविः रात्रि इति द्वे च (और, 'आविः' तथा 'रात्रि' ये दोनों) व्योमवायु (व्योम और वायु) इति (इस प्रकार) ईरिते (कहे गए हैं), सत्ये अनवसरत्वेऽपि (यद्यपि सत्य इन दोनों में से किसी के द्वारा अवच्छिन्न नहीं होता, तथापि) ऋतस्य (ऋत की) वृत्तिते (ये दो वृत्तियाँ, 'आविः' 'रात्रि' अथवा व्योमवायु) स्याताम् (होती हैं) ।

भाष्य—'आवि.' और 'रात्रि' ये दोनों यथाक्रम से व्योम और वायु रूप में भी कहे जायेंगे । इस उपोद्घात के तृतीय श्लोक में व्योम और वायु का प्रसंग हमने उठाया है । सत्य को व्योम और वायु, इन दोनों में से किसी के द्वारा भी अवच्छिन्न नहीं किया जा सकता । 'ऋतञ्च सत्यञ्च' इस रूप में सत्य जब युग्म-तत्त्व होता है तब व्योम-वायु और अन्यान्य तत्त्वों के रूप में उसका विवर्त होने में कोई बाधा नहीं है ॥ ६९ ॥

अभीद्धादिति जानीयादाविरभिमुखीनता ।
पराञ्चि खानि मन्त्रे तु पराक् प्रत्यगिति द्विधा ॥ ७० ॥

अन्वय—अभीद्धात् इति ('अभीद्धात्' इस मंत्र में जो) आविरभिमुखीनता [आविः रूप में अभिमुखीनता है, उसे] 'पराञ्चि खानि'-मन्त्रे तु [इस मन्त्र में] पराक् प्रत्यक् इति द्विधा (इन दो प्रकारों से) जानीयात् (जानना चाहिये) ।

भाष्य—'अभीद्धात्'—इस मन्त्र में आवीरूप अभिमुखीनता है, वह पराक् एवं प्रत्यक् रूप से दो प्रकार की है । श्रुति ने 'पराञ्चि खानि' इस मन्त्र में यही कहा है । प्रभेद यही है कि प्रत्यक् दृष्टि से यह शुद्ध (आवरण और विक्षेप-तिरस्कारपूर्वक) आविष्कार है । दूसरे पक्ष में, पराक् दृष्टि से अशुद्ध (आवरण और विक्षेप के साथ) आविष्कार है । दोनों स्थलों में आविष्कार होता है, अर्थात् 'अस्ति-भाति' रूप में साक्षात् अपरोक्ष रूप से ज्ञान होता है । प्रातिभासिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक, किसी स्तर में भी इसका व्यतिक्रम नहीं है ॥ ७० ॥

र इति वाग्निरूपत्वमत्रीति न त्रिधा मता ।
अभीद्धात्तपसो वायुरग्नितामयते यतः ।
अग्निरेवादिमा रात्रिरव्याकृतविधात्रयः ॥ ७१ ॥

अन्वय—'र' इति वा अग्निरूपत्वम् (अथवा यों समझें कि 'रात्रि' का रकार अग्निरूप है) अत्रि + इति न त्रिधा मता ('अत्रि' अर्थात् जिसमें अभी

त्रिधा 'व्याकरण' नहीं हुआ है) यतः [क्योंकि] अभीद्धात् तपसः ['अभीद्ध तप' से] वायुः [वायु] अग्निताम् [अग्निता को] अयते [प्राप्त होता है, इसलिए] आदिमा रात्रिः अव्याकृतत्रिधात्रयः अग्निः एव [आदिम 'रात्रि' अग्नि ही है, जिसमें कि तीन विधाएँ व्याकृत नहीं हुई हैं]।

भाष्य—अथवा रात्रि को इस रूप से समझने की चेष्टा कीजिए। रात्रि = र+अ+त्रि। र=अग्नि। यह 'र' या अग्नि 'अत्रि' है अर्थात् अब भी त्रिधा व्याकृत नहीं हुआ है। अग्नि-सूर्य-सोम, अथवा भूः—भुवः-स्वः रूप में अग्नि का त्रिधा व्याकरण होता है। वह व्याकरण अथवा विस्तार अभी नहीं हुआ है। रात्रि-रूप जो अग्नि है, वह है विश्व का मूलीभूत अव्याकृत शक्तिपिण्ड। यह तेजःस्वरूप है। साक्षात् भर्गः का ही परिणाम होने से यह शक्ति अचेतन जड़शक्ति नहीं है। रात्रिसूक्त चिच्छक्ति का ही कीर्त्तन करता है। मूल सद्वस्तु को गति या वृत्तिरूप में देखने पर वह होता है—ऋत=वायु। 'गति' के जनक और गतिजन्य शक्तिरूप में देखने पर वही होता है 'अग्नि'। शक्ति और शक्तिमान् में भेद नहीं है। ब्रह्मरूप में जो प्रकाश है, सृष्टि के अभिमुख वही है भर्गः=तेजः=अग्नि। इस प्रकार वह आदिम रात्रि हुई अग्नि ॥७१॥

आविरिति प्रकाशस्य मूलावृत्तिश्च विस्तृतेः।
तदेवान्वेति सर्वासु परासु सर्गवृत्तिषु ॥७२॥

अण्वय—'आविः' इति ('आविः' यह) प्रकाशस्य (प्रकाश की) च (और) विस्तृतेः (विस्तृति की) मूला वृत्तिः (मूलरूप है) तदेव (वही) सर्वासु परासु सर्ग-वृत्तिषु (सभी, सृष्टि की परा वृत्तियों में) अन्वेति (अनुस्यूत है)।

भाष्य—'आविः'—यह प्रकाश एवं विस्तृति का जो मूलरूप है, वह सृष्टि की सभी वृत्तियों में अनुस्यूत रहता है। किस रूप में ? आविः=आ+वि+रः, इन तीन अक्षरों में हम क्रम से वायु, वियत् या आकाश और वह्नि-इन तीनों को प्राप्त करते हैं। मध्य में वियत् या व्योमरूप में ब्रह्म अपना असीम विस्तार करता है। यह विस्तार केवलमात्र देश गत का विस्तार नहीं है, यहाँ तक कि केवल काल में भी विस्तार नहीं है। देश-काल-कारणादि की जो सीमाहीन व्याप्ति है, वही है इस विश्व का मौलिक आधारपट। शब्दतत्त्व की दृष्टि से ब्रह्म का यह रूप है नाद। इस कारण उपोद्घात के तृतीय श्लोक में 'आवीरूपेण नादः समजनि विततं व्योम सर्वाश्रयं यत्'—इस प्रकार से समझाने की चेष्टा की गई है। ब्रह्म के इस व्योम या नाद रूप में देश, काल, कारणता प्रभृति सम्बन्ध का अभी व्यास अथवा व्याकरण नहीं हुआ है। जपसूत्र के एक सूत्र में 'ओमेव व्योम' इस प्रकार 'ओम्' और 'व्योम' की अभिन्नता बाद में दिखाई गई है। विशेष केवल इतना ही है कि 'व्योम' शब्द से

एक अतिरिक्त 'वि' है जो=वियत् या विस्तृति है। तब, 'आविः' शब्द में लक्ष्य कीजिये कि मध्यस्थल में 'वि' को आश्रय करके दोनों पक्ष रहते हैं—एक है 'आ'= वायु (गत्यात्मक), दूसरा है 'र्' अथवा स्=अग्नि अथवा प्राण=विश्व का आदिम शक्तिरूप। 'आविः' शब्द से समझता हूँ कि ॐकार क्रियात्मक और शक्त्यात्मक रूपों में इस विश्व को प्रपञ्चित करता है। प्रणव की मूर्त्ति में भी यह रहस्य हम देख सकते हैं। एक ओर अकार, उकार, मकार, इस कलात्रयरूप में प्रणव का अथवा नाद का क्रियारूप है; दूसरी ओर बिन्दु रूप में नाद का शक्तिरूप है। अतएव स्पष्ट ही उपलब्धि होती है कि ॐकार से ही समस्त की अभिव्यक्ति होती है। यह समस्त ही है प्रणव का रूप ॥७२॥

समुद्रोऽर्णव आयाति ह्याकारे रात्रिमन्विते
संपरिष्वक्तरूपोऽयमव्यक्तत्वेऽपि चान्यथा।
उच्छूनता समुद्रेण चार्णवेनैजनं सनात्
तयोरेव समासेन कारणस्य क्रियोद्यमः ॥७३॥

अण्वय आकारे रात्रिमन्विने समुद्रः अर्णवः हि आयाति ('रात्रि' अर्थात् विराट् विश्व की सुषुप्ति जब 'आ'कार अर्थात् गत्यात्मक वायु द्वारा क्षोभित होती है, तब समुद्र-अर्णव' उद्‌भूत होता है) अयं संपरिष्वक्तरूपः अव्यक्तत्वेऽपि च अन्यथा (यह 'समुद्र-अर्णव' 'संपरिष्वक्त' अर्थात् भली-भाँति आलिङ्गनबद्ध है, और अव्यक्त होते हुए भी अन्यथा है अर्थात् व्यक्त है। समुद्रेण उच्छूनता ('समुद्र' से आदिम उच्छ्वास) अर्णवेन च सनात् एजनं (और 'अर्णव' से निरन्तर गति समझना चाहिए) तयोः एव समासेन (इन दोनों के समास से) कारणस्य क्रियोद्यमः (कारण की क्रियोन्मुखता होती है)।

भाष्य – तत्पश्चात् सृष्टिसूक्त में देखते हैं –'समुद्रोऽर्णवः'। यह कहाँ से किस रूप में आया ? निखिल सृष्टि की अनिर्वाच्य अव्याकृत अवस्था रात्रि नाम से अभिहित हुई है। व्यष्टि जीवन में यह सुषुप्ति है। सुषुप्ति के समय में अज्ञान अथवा आवरण का ही ज्ञान होता है। इस विराट् विश्व की भी सुषुप्ति के समान एक अवस्था है। निखिल सुषुप्ति रूप रात्रि 'आ कार' अर्थात् गत्यात्मक वायु द्वारा क्षोभित होती है। अर्थात् महा-सुषुप्ति की स्तब्धता जब भङ्गोन्मुख होती है, तब उसकी कुक्षि स्थित अनन्त संस्कारराशि मानो चञ्चल हो उठती है। अथच अभी तक उसकी विशेष-विशेष अभिव्यक्ति कार्यतः नहीं हुई है। यह अवस्था भी प्रायः अव्यक्त होते हुए भी सुषुप्ति अथवा रात्रि की भाँति बिल्कुल अव्यक्त नहीं है। साधारण अनुभूति द्वारा इसी आदिम रात्रि की हम अन्य प्रकार से भी कल्पना कर सकते हैं। रूप-रसादि अन्तरिन्द्रिय के अथवा बहिरिन्द्रिय के विषय तो देश-काल की पटभूमि में

चलचित्र के समान हैं–वे कहाँ से आते हैं, उनके पीछे क्या है? अब इस रूप में जिज्ञासा और अनुसन्धान आरम्भ होता है। अनुसन्धान की किसी एक धारा का अनुसरण करते-करते हम स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर इस प्रकार क्रमशः एक महान् अज्ञान की दिशा में अग्रसर होते रहते हैं।

इसीलिये गीता ने कहा है—भूतसमूह आदि में भी अव्यक्त हैं, अन्त में भी अव्यक्त हैं, केवल मध्य में कुछ व्यक्त हैं। यह जो आदि एवं अन्त में महा अज्ञान है, वह रात्रि है। अनेक की तत्त्वदृष्टि जगत् के मूलकारण के सम्बन्ध में इससे अधिक अग्रसर नहीं हो पाई है। क्या आलोक या रात्रि, जगत् के मूल के सम्बन्ध में, अन्तिम बात है? हमने 'आविः' और 'रात्रि' इन दो दिशाओं से मूल को समझने का यत्न किया है। दोनों ही अनिरुक्त और अलक्षण हैं, तथापि एक प्रकाशस्वरूप है, दूसरा आवरणस्वरूप है। सृष्टि के अभ्यन्तर में चाहे जिस दृष्टिकेन्द्र से देखने पर सृष्टि का मूल रात्रि ही है। वेद के नासदीय सूक्त एवं मनुसंहिता ने आरम्भ से ही, इस लक्षणहीन महा अज्ञान की बात ही कही है, किन्तु फिर "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्"—तम के पार साक्षात् भास्वर आदित्य के समान एक परम प्रकाश है – "यस्य भासा सर्वमिदं विभाति"। यहाँ तक कि उस मूल रात्रि को भी वे ही प्रकाशित करते हैं। नहीं तो "आसीदिदं तमोभूतं"—इस प्रकार के अज्ञान का जो ज्ञान है, जगत् की सुषुप्ति के सम्बन्ध में भी उसी प्रकार का एक नित्य ज्ञान भी अवश्य ही रहता है। चलचित्र आलोक में प्रकट होते रहते हैं, फिर भी वह नित्य ज्ञान ही उस प्राकट्य को जानता है। चलचित्र के अन्धकार में मिल जाने पर उस लय को भी वही नित्य ज्ञान जानता है। सर्वतश्चक्षु नित्य अकुण्ठित ज्ञान युक्त यदि कोई पुरुष हों, तब जगत् के लिए जो तमसाच्छन्न रात्रि है, वह उसकी दृष्टि में पौर्णमासी की रात्रि हो जाती है। रात्रि होकर भी वह उस पुरुष की परम पश्यन्ती दृष्टि में अपने महाअज्ञान के भण्डार को अज्ञात बना कर नहीं रख पा रही है। वे सर्वज्ञ, सर्ववित् है। समग्र रूप से भी जानते हैं, और विशेष-विशेष भाव से भी जानते हैं। "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी" – गीता का यह संयमी कौन है यह भूलने से नहीं चलेगा! रात्रि के इस द्विविध प्रकाश (शुद्ध चैतन्य का प्रकाश और सर्वज्ञ सर्ववित् के द्वारा प्रकाश) के अलावा भीं एक और तृतीय प्रकाश भी है या हो सकता है। वही है रात्रि के शुक्लपक्ष में कला या आंशिक प्रकाश जिस भूमि में 'निरतिशय सर्वज्ञत्व का बीज' नहीं है, अथच बुद्धि की स्वच्छता से सर्वज्ञता की भाँति एक बोध उदित होता है, उस स्थल में रात्रि शुक्ल पक्ष की पौर्णमासी न होने पर भी तदपेक्षा न्यून किसी तिथि की रात्रि हो सकती है। इस प्रकार की दृष्टि योगज दृष्टि है। जगत् का मूल इस दृष्टि से समग्र भाव में ज्ञात न होने पर भी

आंशिक भाव में ज्ञात है। वह ज्ञान भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सादि दोष से रहित होने के कारण यथार्थ ज्ञान के रूप में ही विवेचित होने योग्य है।

रात्रि से 'समुद्र' और 'अर्णव' की उत्पत्ति हुई है, वेद के इस अंश के अर्थ का हमें अनुधावन करना होगा। 'समुद्र' शब्द के अक्षर सन्निवेश की परीक्षा करने पर समुद्र तत्त्व का जो अगाध रहस्य है, उसका बहुत कुछ आभास हम पा सकते हैं।

समुद्र = सम् + उत् + र। इसके द्वारा क्या समझेंगे ? सृष्टि के मूल में रात्रि-रूप जो अव्यक्त महाबीज है, वह मानो किसी की प्रेरणा से अपने को अभिव्यक्त करने के लिये उच्छ्‌वसित हो उठता है। जैसे निस्तरङ्ग महासागर में वायुवेग से एक उच्छ्‌वास लक्षित होता है—उसी प्रकार ! अभी कोई तरङ्ग नहीं है। अव्यक्त कारण की अभिव्यक्ति के निमित्त इस प्रकार का जो आदिम उच्छ्‌वास है, 'समुद्र' शब्द द्वारा उसी का निर्देश किया गया है। केवलमात्र विश्वसृष्टि के आदि में ही नहीं, सब प्रकार की सृष्टि के आदि में यह अव्यक्त उच्छ्‌वास है। कवि या शिल्पी जब अपने काव्य या शिल्प की सृष्टि करने के लिए उन्मुख होते हैं, तब उनमें यह मौन उच्छ्‌वास पहले ही दिखाई देता है। यह उच्छ्‌वास अभी तक किसी भाषा या चित्र अथवा स्वर में अपने को प्रकट नहीं कर पाया है। बाहर की सृष्टि में भी यही घटित होते देखता हूँ। एक बीज पड़ा हुआ है, अभी भी उससे अङ्कुरोद्‌गम नहीं हुआ है। जब अङ्कुर उद्‌गम की सूचना होती है, तब बीज के भीतर सुप्त शक्ति जाग्रत होकर अपने को बिखेर देना चाहती है। फलतः बीज स्फीत हो उठता है। जिस आवरण में उस बीज के विकास का प्रस्रवण अब तक रुद्ध था, वह आवरण मानो सहसा फट जाता है।

बीज जब तक सो रहा था, तब तक बीज के पक्ष में वह 'रात्रि' थी। जब अङ्कुर के लिए वह फूट कर बाहर निकल पड़ता है, तब बीज के भीतर जो अवस्था है, वही है बीज के पक्ष में 'समुद्र' है। यह समुद्र दो प्रकार का है, एक है उसका उच्छ्‌वास रूप, दूसरा है उसकी चञ्चलता। बीज फिर चुप साध कर नहीं रहेगा, वह अपना आवरण भंग कर बाहर निकलेगा ! अङ्कुरादिक्रम से, विचित्र विकास के पथ में अब वह यात्रा करेगा। यही है, उसका चञ्चल गतिरूप। इसी रूप की वैदिक परिभाषा है अर्णव। गत्यर्थक (अथवा ऋण्) धातु इस शब्द का बीज है। 'समुद्र' शब्द द्वारा उच्छ्‌वास या उच्छूनता एवं 'अर्णव' शब्द द्वारा 'एजन' या गति। दोनों दिशा हम एक साथ पाते हैं। मूल में रात्रि के उपादानभूत शक्ति समूह की जो साम्यावस्था थी, अब तक उस साम्यावस्था में विसदृश परिणाम स्पष्ट नहीं हो सका है। शक्तियाँ पिण्डावस्था से परस्पर भिन्न होना चाह कर भी अभी तक परस्पर के

आलिङ्गन से मुक्त नहीं हो सकी हैं। रात्रि की अवस्था में शक्तिव्यूह की जो आकृति थी, वह चञ्चल होकर भी बनी ही रही है। इसी को 'सम्परिष्वक्त' अवस्था कहते हैं। यह अवस्था अव्यक्त होकर भी अव्यक्त नहीं है। अर्धनारीश्वर मूर्ति इस अवस्था का प्रतीक है। अव्यक्त एवं व्यक्त में यह अवस्था आश्रा करती है। जिस किसी भी कारण से क्रिया की उत्पत्ति हो यह सम्परिष्वक्त अवस्था, अर्थात् वेद का 'समुद्रोऽर्णवः' अवश्य ही मिलेगा ॥ ७३ ॥

आविरिति तमश्छिद् या रात्रौ गम्भीरबाधता।
विद्युत्वत्यम्भसां रोधरूपतया च कल्पिता।
मघवाऽमोघवज्रेण तां वारयति वृत्रहा ॥ ७४ ॥

अन्वय—तमश्छिद् (तमोहारी प्रकाश) आविरिति (आविः यह रूप है) रात्रौ (रात्रि में) (उस की) गम्भीरबाधता (गम्भीर बाधरूपता) [विद्यमान रहती है] [वह गम्भीरबाधता] विद्युत्वति (मेघ में) अम्भसां रोधरूपतया (जल के रोध के रूप में) कल्पिता (कल्पित है) वृत्रहा (वृत्र का हनन करने वाले) मघवा (इन्द्र) अमोघवज्रेण (अपने कभी निष्फल न जाने वाले वज्र से) तां (उस रोधरूपता को) वारयति (समाप्त करते हैं)।

भाष्य—तमश्छिद् या तमोहारी जो प्रकाश है वही आविः है। रात्रि में प्रकाश की एक गहन गम्भीर बाधरूपता विद्यमान रहती है। वेद के अनेक उपाख्यानों में मेघ में जल के रोध या बाधा-रूप में यह कल्पित हुई है। अर्थात् मेघ है, विद्युत् की भी चमक देख रहा हूँ, किन्तु वृष्टि नहीं पड़ रही है। पता नहीं कौन मेघ के जल-बिन्दु को मिलित एवं भूतल पर पतित नहीं होने दे रहा है? इसी रोधरूपता को वेद ने अनेक स्थल में 'वृत्र' की आख्या दिया है। इन्द्र अपने अमोघ वज्र द्वारा इस रोधिका शक्ति को विचूर्ण करके वारिवर्षण की सम्भावना को घटित कर देते हैं। केवल मेघ के लिए ही नहीं, निखिल पदार्थ के विकास के आरम्भ में यह रोधरूप बाधा विद्यमान रहती है। यह रोधरूप बाधा चतुर्विध है—देशनिमित्त (अवरोध), कालनिमित्त (प्रतिरोध), छन्दोनिमित्त (विरोध) एवं वस्तुनिमित्त (निरोध)। 'समुद्र'—की अवस्था में यह चतुर्विध बाधा अभी भी रोध-रूप में पड़ी हुई है, किन्तु उस बाधा को विदूरित करने के लिये एक आवेग, प्रयास भी भीतर से फूट उठता है। इसी अवस्था का नाम उच्छ्वास या उच्छूनता है ॥ ७४ ॥

क्रियामारभमाणे चार्णवे कलनवृत्तिता।
यया रूपायते विश्वं सृष्टिस्थितिलयक्रमात् ॥ ७५ ॥

अन्वय—क्रियाम् आरभमाणे (कालिक परिणाम-रूप क्रिया का आरम्भ करते हुए) अर्णवे (अर्णव में) कलनवृत्तिता (यह अभिनववृत्ति होती है), यया

(जिस कलनवृत्ति से) विश्वं (समग्र संसार) सृष्टिस्थितिलयक्रमात् (सृष्टि-स्थिति-लय क्रम से) रूपायते (रूपायित होता है) ।

भाष्य—उसके बाद 'समुद्र' जब 'अर्णव' हुआ, तब उसमें एक अभिनव वृत्ति देखा । यह है कलनवृत्ति । यही कालशक्ति है । यहाँ तक मूलतत्त्व का परिणाम काल का आश्रय लेकर नहीं है । वह अकाल बोद्ध परिणाम है । 'अर्णव' अवस्था में कलनवृत्ति है, अतः कालिक परिणाम आरम्भ होता है । फलस्वरूप सृष्टि, स्थिति, लय क्रम में निखिल विश्व रूपायित हो जाता है ।। ७५ ।।

साविर्भवति तस्या हि संवत्सर इतीक्षणम् ।
यतो द्वैतमहोरात्रं सूर्याचन्द्रमसौ पुनः ।।७६।।

अन्वय—सा (वह कलनवृत्तिता) आविर्भवति (आविर्भूत होती है), तस्या हि संवत्सरः इति ईक्षणम् ('मैं संवत्सर बनूंगा' ऐसा उसका ईक्षण होता है) यतः (जिस संवत्सर से) द्वैतम् अहोरात्रं पुनः सूर्याचन्द्रमसौ (अहोरात्र और सूर्य-चन्द्रमा का युग्म उत्पन्न होता है) ।

भाष्य—वह आदि कलनवृत्ति 'मैं संवत्सर हूँगा' रूप में ईक्षण करती है । उससे संवत्सररूप क्रमिक काल की उत्पत्ति होती है । अर्थात् काल के कलन को अक्रमिक एवं क्रमिक प्रकारों से समझना होगा । कला-काष्ठादि रूप में काल के क्रमिक होने पर उसकी आख्या है संवत्सर । 'वत्सर' एवं 'सँवत्सर' के बाद 'अहो-रात्र' एवं उसके विधायक सूर्य और चन्द्रमा की उत्पत्ति होती है । एक अनन्त क्रमिक कलनधारा के बीच आवृत्ति है । सब प्रकार की अनुक्रमिक गति या **rhythmic movement** का बीज यहाँ है । स्थूल में, सूक्ष्म में-सर्वत्र । अब कालस्रोत केवलमात्र एक धारा नहीं है । यह धारा घूम फिर कर आती है । हिलती है, डोलती है, तरङ्गायित होती है, चक्रगति में किंवा शंखावृत्त गति में अपने को रूपायित करती है । इस प्रकार गति के लिए दो पक्ष एवं सीमा की आवश्यकता होती है । इसकी साधारण संज्ञा 'अहोरात्र' है । 'अहोरात्र' की गतिसीमा जिसके द्वारा निरूपित होती है उसकी साधारण संज्ञा है-'सूर्याचन्द्रमसौ' । ये सब भी विश्व के मूलीभूत तत्त्व हैं; स्थूलभाव से समझना उचित नहीं है ।।७६।।

[गति-द्वैविध्य-निरूपणम्]

अहः शुक्लं क्षपा कृष्णा द्वे गती सर्ववृत्तिषु ।
ऋचा साम्ना च कल्प्येते अर्केन्दु भर्गरोचिषी ।।७७।।

अन्वय—अहः (दिन) शुक्लं (शुक्ल रूप है) क्षपा (रात्रि) कृष्णा (कृष्ण है), सर्ववृत्तिषु (सकल पदार्थ की शक्तियों में) द्वे गती (ये दो गतियाँ है), [ये दोनों]

ऋचा साम्ना च (ऋक् और उद्गीथ द्वारा) अर्केन्दु (अर्क और इन्दु-रूप में) भर्ग-रोचिषी [भर्ग और रोचिःरूप में] कल्प्येते [कल्पित होती हैं]।

भाष्य—पुनश्च अहः को शुक्ल एवं क्षपा को कृष्णा शब्द से अभिहित किया जाता है। सब पदार्थों की सब वृत्तियों में शुक्ल एवं कृष्ण गतियों का अनुसन्धान करना होगा। एक की प्रकाश विकास की ओर गति है। दूसरी विक्षेप और आवरण की गति है। एक धन है, दूसरी ऋण है। ऋक् एवं साम ने ऋक् एवं उद्गीथ के द्वारा अर्क और इन्दु रूप में, भर्ग और रोचिःरूप में इन दोनों की कल्पना की है ॥७७॥

[सवितृ-पूषतत्त्वम्]

सूयत ऋध्यते येन तेजो भुवननाभिषु ।
सवितेति च तं विद्धि पूषेति भर्गरूपिणम् ॥७८॥

अन्वय—भुवननाभिषु (भुवन की नाभियों में) येन (जिसके द्वारा) तेजः (तेजः-शक्ति का) सूयते ऋद्ध्यते च (प्रसव और पुष्टि होती है) तं भर्गरूपिणं (उस भर्गरूपी देवता को) सवितेति पूषेति ('सविता' और 'पूषा') विद्धि (जानें)।

भाष्य—निखिल भुवन की नाभि में स्थित तेजःशक्ति का जो प्रसव करता है और पोषण करता है, उसी साक्षात् भर्गरूपी देवता को सविता और पूषा कहें ॥७८॥

[विश्वचक्रनिरूपम्)

निखिलनाभिनिष्ठेन सूर्यनारायणेन वै ।
अरनेमिविभेदेन कल्पिता विश्वचक्रता ॥७९॥

अन्वय—निखिलनाभिनिष्ठेन (निखिल पदार्थ की नाभि में रहने वाले) सूर्यनारायणेन (भगवान् सूर्य ने) अरनेमिविभेदेन ('अर' और 'नेमि' इस प्रकार विभाग द्वारा) विश्वचक्रता कल्पिता (भुवनचक्र की कल्पना की है)।

भाष्य—निखिलपदार्थ की नाभि में रहने वाले भगवान् सूर्यनारायण ने अर और नेमि के विभाग द्वारा इस भुवनचक्र की कल्पना की है। अर्थात् स्वयं केन्द्र में अवस्थित होकर अर, नेमि, विस्तारपूर्वक यह भुवनचक्र बनाकर इसे धारण करते हुए इसका पोषण करते हैं ॥७९॥

[सङ्कर्षण-प्रद्युम्न-अनिरुद्ध-वासुदेव-तत्त्वम् श्लो० ८०-८३]

अणीयानणुतोक सु महीयान् व्योमनीश्वरः ।
सङ्कर्षणः स नोदेति नास्तमेति स्वरूपतः ॥८०॥

अन्वय—सः (वह) ईश्वरः (ईश्वर) अणुतोकःसु (क्षुद्रादपि क्षुद्र में) अणीयान् [अर्थात् और भी छोटा होकर अनुप्रविष्ट है]। व्योमनि महीयान् [महान् व्योम में महान् है]। [वह] सङ्कर्षणः [महासङ्कर्षण-रूप है] स्वरूपतः [स्वरूप से], [वह] न उदेति (न उदित होता है] [और] न अस्तमेति [न अस्त होता है] ।

भाष्य--वे 'क्षुद्रादपि क्षुद्र' में क्षुद्रादपि क्षुद्र रूप में अनुप्रविष्ट हैं। महत् से महान् व्योम में महीयान् रूप में वे ईश्वर अथवा प्रभु हैं। इन्हें महासङ्कर्षण समझें। परिदृश्यमान सूर्य की भाँति इनका स्वरूपतः उदय भी नहीं है, अस्त भी नहीं है ॥८०॥

नाभौ सङ्कर्षणोऽव्यान्नो नेमौ प्रद्युम्नविग्रहः ।
अरेषु चानिरुद्धश्च वासुदेवो हि सर्वतः ॥८१॥

अन्वय--नाभौ [नाभि में] नः (हमारी) सङ्कर्षणः [सङ्कर्षण] अव्यात् [रक्षा करें], नेमौ (नेमि में) प्रद्युम्नविग्रहः [प्रद्युम्नरूप विग्रह वाले] च [और) अरेषु [अरों में] अनिरुद्धः (अनिरुद्ध हमारी रक्षा करें) सर्वतः (सर्वभाव से या सभी ओर से) वासुदेवः [वासुदेव हमारी रक्षा करें] ।

भाष्य--नाभि में संकर्षण हमारी रक्षा करें, नेमि में जो प्रद्युम्नविग्रह हैं, वह हमारी रक्षा करें, अरसमूह में अनिरुद्ध हमारी रक्षा करें और सर्वतः सब ओर वासुदेव हमारी रक्षा करें ॥८१॥

सङ्कर्षणञ्च कूर्माख्यं बिन्दुरूपमपि क्रमात् ।
तौ प्रद्युम्नानिरुद्धौ च वराहमीनविग्रहौ ॥८२॥
विजानीयात् कलानादौ वासुदेव परात्परम् ।
बिन्दुनादकलात्मानं बिन्दुनादकलातिगम् ॥८३॥

अन्वय--सङ्कर्षणं (सङ्कर्षण को) कूर्माख्यं (कूर्म-रूप में) बिन्दुरूपं [बिन्दुरूप में) अपि (भी) विजानीयात् (जानें); तौ प्रद्युम्नानिरुद्धौ (उन प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को) वराहमीनविग्रहौ (वराह और मीन रूप में कलानादौ [कला और नादरूप में च [और] परात्परं वासुदेवं (परात्पर वासुदेव को] बिन्दुनादकलात्मानं बिन्दुनादकलातिगं [बिन्दुनादकलात्मा एवं बिन्दुनादकलातिग रूप में] [समझें] ।

भाष्य--पुनश्च, सङ्कर्षण को बिन्दुरूप में और कूर्म्मरूप में समझें, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध को कला-नाद रूप और वराह-मीन रूप में समझें। परात्पर वासुदेव को बिन्दुनादकलात्मा एवं बिन्दुनादकलातीत समझें ॥८२-८३॥

(चक्रगत-नेमि-नाभि-अर-निरुपणम् श्लो० ८४ ८७)

कलारुपतया नेमिर्विदधाना क्षयोदयौ।
नाभेररागतानंशूंश्चिन्वाना केन छन्दसा ॥८४॥

अन्वय--कलारूपतया (कलारूपतावशतः) (सकल पदार्थ के) क्षयोदयौ [क्षय-उदय) विदधाना [करती हुई] नेमिः [नेमि] नाभेः (नाभिकेन्द्र से) अरागतान् अंशून् [अरागत, विकीर्ण किरणों को] केन (किस) छन्दसा [छन्दस् द्वारा] चिन्वाना [रख लेती हुई, होती है] ॥

भाष्य--नेमि ही कलारूपतावशतः सभी पदार्थों का क्षय और उदय विधान करती रहती है अर्थात् पदार्थों का क्षय एवं उदय हुआ करता है, इसी कारण उन की जो आकृति और अवयव हैं वे कलाधर्मी हैं, उनकी कला है। अतः उनका क्षय और पूरण रूप परिवर्तन धर्म भी है, किन्तु नाभि समस्त तेजस् और शक्ति का भाण्डार है। नाभिकेन्द्र से ही शक्ति इतस्ततः विच्छुरित होती है। जिन सब व्यवस्थित रेखाओं में नाभिकेन्द्र से शक्तिरश्मि समूह का विकिरण होता है, उन्हें कहते हैं अर। प्रश्न उत्थित होता है कि नाभिकेन्द्र से जो रश्मिसमूह 'radiations] विकीर्ण हो रहे हैं, उन सब की कलात्मक नेमि किस छन्दस् द्वारा अपने क्षय और उदय के लिए चुन लेती हैं ? ॥८४॥

पुष्णात्यन्नश्च सर्वस्मै यदोषध्युपलक्षणम्।
सोम गतागतिचक्रं विभर्ति क्षयपूरणात् ॥८५॥

अन्वय--यत् (जो, छन्दस्) क्षयपूरणात् [भुवनचक्र के क्षय के पूरणार्थ] गतागतिचक्रं [गतागति के चक्र को] विभर्ति (धारण करता है), सर्वस्मै [सब के लिए] अन्नं [अन्न का] पुष्णाति [पोषण करता है] [वह] सोम [सोम है', ओषध्युपलक्षणम् [ओषधि एक उसका उपलक्षण है] ॥

भाष्य—परा जाति-भाव में देखने पर वह छन्दः द्विविध है—सोमच्छन्दः एवं अग्निच्छन्दः। इस विराट् गतागति रूप भुवनचक्र के क्षय के पूरणार्थ जो छन्दः [जड़, उद्भिद, चेतन] सब के लिये 'अन्न' का पोषण करता है, उसे सोम समझें 'ओषधि' उसका एक उपलक्षण है ॥ ८५ ॥

नेमिवृत्त्या परागवृत्तिरावृत्तिर्धूमयानतः।
नाभावर्कं तु विध्येतार्चिरादिना य ईयिषुः ॥ ८६ ॥

अन्वय—[इस गतागति-चक्र की] नेमिवृत्त्या [नेमि वा परिधि से वृत्ति के चलने पर वह] परागवृत्तिः, [है], [उस के फलस्वरूप] धूमयानतः [धूमयान द्वारा] आवृत्तिः [पुनः पुनः आवर्तन होता है] । यः [जो व्यक्ति] अर्चिरादिना

(अर्चिरादि मार्ग में) ईयिषुः (चलना चाहता है) [उसे] नाभौ (नाभि में) अर्कं तु विध्येत (अर्क का भेद करना होता है) ॥

भाष्य—(अग्निच्छन्दः द्वारा सब कुछ का दहन, पचन, क्षरण होता है। हम देखेंगे कि इसके कालाग्निरुद्र प्रभृति विविध क्रियात्मक रूप होते हैं। वस्तुतः, निखिल पदार्थ के अङ्गसमूह को रूपायित किए हुए हैं—अग्नि-रूप,—पृथुलेख, तनुलेख, अणुलेख, चाहे जिस प्रकार हम देखें)। यदि इस महागतागति-चक्र की नेमि ('नी'धातु) या परिधि से ही वृत्ति चलती हो, तब वह पराग्वृत्ति है। उसके फलस्वरूप, धूमयान द्वारा पुनः-पुनः आवृत्ति ही होती है। इस चलती चक्की के घूर्णन और पेषण से छुटकारा नहीं मिलता, किन्तु इस निरन्तर आवर्त्तन को समाप्त करने के निमित्त जो अर्चिरादि मार्ग में चलने के इच्छुक हैं: उन्हें प्रत्यग्वृत्ति का आश्रय लेकर भुवन की नाभि (**Nucleus**) में (काल और यम रूप में) स्थित अर्क को भेद कर ही जाना होगा। चक्र की नाभि में ही वह क्षुर की धार की भाँति निशित पथ है॥ ८६॥

भूरिति नेमिता ज्ञेया ह्यरतेति भुवर्मता।
नाभिता स्वरितीत्थञ्च सर्गे कल्पितचक्रता॥ ८७॥

अन्वय—भूरिति ('भूः' यह) नेमिता ज्ञेया (नेमिता जाननी चाहिये), भुवः हि,—(भुवः यह) अरता मता (अरता मानी गई है) स्वः इति ('स्वः' यह) नाभिता, (है) इत्थं (इस प्रकार) सर्गे (सृष्टि में) चक्रता कल्पिता (चक्रता बनी है) ॥

भाष्य—'भूः' यह 'नेमिता' है, 'भुवः' यह अरता है, 'स्वः' यह 'नाभिता' है—इस रूप से स्थूल-सूक्ष्म, व्यष्टिसमष्टि इत्यादि समस्त सर्ग की चक्रता कल्पित हुई है, ऐसा समझना होगा॥ ८७॥

[चक्रस्य शङ्खावृत्ति-निरूपणम् श्लो० ८८-९०]

नाभिनेमिक्रिया-शक्तितरतमतया पुनः।
अराणामन्तरिक्षस्य संस्थाविशेषभावनात्॥
सप्तव्याहृतिभिश्चक्रे शङ्खावृत्तेन वृत्तिता॥ ८८॥

अन्वय—पुनः (फिर) नाभिनेमिक्रियाशक्तितरतमतया (नाभिशक्ति और नेमिशक्ति में क्रिया की तरतमता—कमी, वेशी से) अराणां (अरों के अन्तरिक्षस्य) अन्तरिक्ष के (संस्थाविशेषभावनात्) संस्थाविशेष की भावना से सप्त-

व्याहृतिभिः (भूः आदि सप्तव्याहृतियों से) शङ्खावृत्तेन (शङ्खावर्त्त भङ्गी से) चक्रे (चक्र में) वृत्तिता (गति है) ।।

भाष्य—नाभि में स्वः, नेमि में भूः—उभयत्र शक्ति है। नाभि में शक्ति का घन (कारक) रूप, नेमि में वितत (क्रिया) रूप है। यह नाभि-शक्ति (nuclear evolving power) एवं नेमिशक्ति (revolving power) सर्वत्र एक दूसरे के साथ एक ही अनुपात नहीं रखतीं, अनुपात में तरतमता रहती है। इस कारण से 'चक्र' स्थिर (stable) नहीं है, सङ्कोच विकासधर्मी है। चक्र की वर्तमान संस्था (configuration scheme) का निरूपक (determinant) है 'अन्तरिक्ष'=अर=देश-कालादिगत व्यवधान (time-space-power-interval)। यह व्यवधान या संस्था-नियामक अन्तरिक्ष या अरसमूह जब भूः, भुवः, स्वः, महः जन, तपः, सत्य—इन सप्त व्याहृतियों द्वारा 'रूपायित' होते हैं, तब चक्र की जो विशेष भङ्गी होती है, उसे कहते हैं, शङ्खावृत्तभङ्गी। तब चक्र की वृत्तिता शंखावृत्त-वृत्तिता (Movement in accordance with spiral pattern) का आकार धारण करती है ।। ८८ ।।

शङ्खावृत्तेर्धुरं विद्ध्यक्षरूपामूर्ध्वगां पुनः ।
सौषुम्णमार्गमित्येवं चक्रभृद् गिरजा यतः ।। ८९ ।।

अन्वय—पुनः (फिर) शङ्खावृत्तेः (शङ्खावृत्ति की) धुरं (धुरी को) अक्षरूपां (अक्षरूपा) [एवं] ऊर्ध्वगां (ऊर्ध्व में गमन करने वाली) विद्धि (समझो), (निखिल पदार्थ में) सौषुम्णमार्ग (सौषुम्णमार्ग को) विद्धि (समझो) इत्येवं (इस प्रकार, इसके फलस्वरूप) चक्रभिद् (चक्र को भेदन करने वाला) विरजाः (रजोरहित) (होता है) ।।

भाष्य—शङ्खावृत्ति में जो धुरी है, उसे 'ऊर्ध्वग अक्ष' (axis of ascent) के रूप में समझना होगा। निखिल पदार्थ में इस 'सौषुम्ण मार्ग' के आश्रय से ही पदार्थ गत् वस्तु एवं शक्ति (matter and momentum) की नैसर्गिक जड़ता (inertia) दूर होने पर अभ्युदय और विवर्तन (evolution and emergence) सम्भव होता है ।।८९।।

अकारश्चक्ररूपः स्यान्मकारे शङ्खरूपता ।
उकारेणाक्षसूत्रेण चक्रं शङ्खायतेऽञ्जसा ।।९०।।

अवय—अकारः (प्रणव का अकार) चक्ररूपः (चक्ररूप) स्यात् (होता है); मकारे (मकार में) शङ्खरूपता (होती है) अक्षसूत्रेण (मध्य में रहने वाले अक्षरूप) उकारेण (उकार से) चक्रं (चक्र) अञ्जसा (शीघ्र) शङ्खायते (शङ्ख रूप में परिणत होता है) ।।

भाष्य--चक्र शङ्खाकार में सत्वर किस रूप में रूपायित होगा ? प्रणव ही उसका मुख्य साधन है। प्रणव के 'अकार' में चक्ररूपता है। 'म'कार में शङ्खरूपता हैं। मध्य में जो 'उ'कार है, वह है अक्ष। इस 'उ'कार रूप अक्ष के आश्रय में ही चक्ररूप को शङ्ख रूप में परिणत करना होगा ॥९०॥

(शङ्खस्य कमल-गदारुपेणाभिव्यक्तिः)

शङ्खत्वे नादताव्यक्तिः शङ्खोऽपि कमलायते।
नादबिन्दुकलात्वेन भूयस्या गदया गिरा ॥९१॥

अवय--शङ्खत्वे (चक्र के शङ्खायमान होने पर) नादताव्यक्तिः (नादता की अभिव्यक्ति) (होती है), शङ्खः अपि (शङ्ख भी) कमलायते (कमल के रूप में विवर्तित होता है) नादबिन्दु-कलात्येन भूयस्या गदया गिरा (शङ्ख फिर गदारूप में भी वितर्तित होता हैं। गदा अव्यक्त परा वाक् है, जिसमें नादबिन्दु-कला का लय होता है) ॥

भाष्य--चक्र जब शङ्खायमान होता है, तब नाद की अभिव्यक्ति सम्भव होती है। जब तक प्रणव अथवा अन्य किसी बीजमन्त्र की चक्रावृत्तिमात्र ही होती रहती है, तब तक नाद का अनुसन्धान नहीं होता। प्रणव के 'अ'कार, 'उ'कार 'म'कार— इ की आवृत्ति हम करते जा रहे हैं, किन्तु इनके सृष्टि-स्थिति-लय का मूलाधार स्वरूप नाद हम पर कृपा नहीं कर रहा है। जपादि के फलस्वरूप जब आवृत्तिचक्र फिर चक्र न रह कर शङ्खाकार में ऊर्ध्वग अक्षाश्रय लाभ करता है; तब नाद की कृपा हमें प्राप्त होती है। तब संख्या-जप शङ्खावर्त्त जप में परिणत होता है। पुनश्च, शङ्ख फिर गदा एवं पद्म--इन दो भावों में विवर्तित होता है। इस विवर्तन के फलस्वरूप मात्र नाद-बिन्दु-कला इन तीन स्वरूपों में एवं इन तीन स्वरूपो के अतीत रूप में भी निरतिशय प्रकाश को प्राप्त होते हैं। कमलरूप में नाद-बिन्दु-कला का पूर्ण विकास है। गदारूप परम अव्यक्त परा वाक् में ही नाद-बिन्दु-कला का लय होता है। प्रणवादि बीजमन्त्र के साधन में श्रीहरि एवं श्रीगणपति के हस्त में चक्र, शङ्ख, पद्म, गदा को इस रहस्य रूप में हमें देखना होगा ॥९१॥

(अक्षर-खग-वर्णनम् श्लो० ९२-९४)

एकायनो द्विपक्षश्च त्रिशिरास्त्रिरुतः खगः।
त्रिनेत्रश्च चतुष्पाद् यश्चतुर्नागाशनो बली ॥९२॥
हिरण्यपुच्छपञ्चभ्यः पञ्चगङ्गाम्बुगोमुखः ।
षडूर्मिशमनच्छन्दाः षड्योगैः कृत्स्नकामधुक् ॥९३॥

सप्तधामसु सप्तान्नो गायति मान्त्रवर्णिकः ।
अभ्यारोहयतीत्यस्मात् क्षरादक्षर उच्यते ।।९४।।

अन्वय—(एक रहस्यमय खग की बात) एकायनः [एक-लक्ष्याभिमुख गति वाला), द्विपक्षः (दो पक्षों वाला), त्रिशिराः (तीन शिर वाला), त्रिरुतः (तीन रव वाला) त्रिनेत्रः (तीन नेत्र वाला), चतुष्पात् (चार पैरों वाला), चतुर्नागाशनः (चार नाग-रूपी बाधाओं का नाश करने वाला), बली, हिरण्य-पुच्छपञ्चभ्यः (हिरण्मय पाँच पुच्छों से शोभित), पञ्चगङ्गाम्बुगोमुखः (संग्रहादि पञ्च गङ्गाजल को गोमुख से प्रवाहित करने वाला) षडूर्मिशमनच्छन्दाः (छन्द द्वारा छः ऊर्मियों का शमन करने वाला) षड्योगैः (क्रिया आदि छः योगों से) कृत्स्नकामधुक् (समस्त इष्टकामदोहन करने वाला) सप्तधामसु (सात लोकों में) सप्तान्नः (सात अन्नों को ग्रहण करने वाला है); (यह) मान्त्रवर्णिकः (मन्त्रवर्ण-रूप से) गायति (उद्गीथ रूप में गाता है); [यह] क्षरात् (क्षर से) अभि+आरोहयति (आरोहण करता है) इति अस्मात् (इसी से) [यह खग] अक्षर उच्यते (अक्षर कहा जाता है) ।

भाष्य--अब एक रहस्यमय खग (पक्षी) की बात कही जाती है। वे खगेन्द्र एकायन हैं, अर्थात् इनकी गति एकलक्ष्याभिमुखी ही है। वे द्विपक्ष हैं। वाक् और प्राण, अथवा प्राण और अपान, अथवा शुक्ल और कृष्ण—ये उनके दो पक्ष है। इनके तीन शिर एवं तीन 'रुत' या रव हैं। तीन शिर हैं : नाद, बिन्दु, कला (अथवा भूः, भुवः)। तीन रव हैं :—वाचिक, उपांशु, मानस (अथवा अ, उ, म्)। वे त्रिनेत्र हैं—बहिःप्रज्ञा (जाग्रत्), अन्तःप्रज्ञा+घनप्रज्ञा (मननादि, स्वप्न, सुषुप्ति) एवं अनिर्वाण-प्रज्ञा (प्रकृष्ट ज्ञान एवं तुरीय)। वे चतुष्पात् हैं—मात्रा त्रय एवं अर्धमात्र-अमात्र, अथवा वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा रूप में। वे महाबली हैं, चार नागों का भक्षण करते हैं। चार नाग हैं अवरोध, प्रतिरोध, विरोध और निरोध। ये चारों (देशादिनिमित्त) बाधाएँ हैं। हिरण्मय पञ्च पुच्छों द्वारा ये शोभित हैं।

पूर्वोक्त पञ्च शुद्धियों को इनकी पञ्चपुच्छा (प्रतिष्ठा) समझ सकते हैं। ये अपने गोमुख (गो=वाक्) द्वारा पूर्वोक्त संग्रहाख्यादि पञ्च गङ्गाजल को विश्वजीवों के श्रेयः एवं प्रेयः के निमित्त समन्तात् प्रवाहित करते हैं। इनकी गति-स्थिति-लयादि का जो छन्द है, उसके द्वारा अविद्यादि पञ्चक्लेश एवं उनके विपाक-इन षडूर्मियों का प्रशमन होता है। क्रिया, स्मृति, अनुस्मृति, ध्यान, अनुध्यान एवं (ध्रुवलम्भ-जनित) सम्भाव्य-भावन, इस षड्योग द्वारा निखिल इष्टकाम दोहन करने में ये समर्थ हैं। भूः, भुवः, स्वः प्रभृति सप्त 'लोक' (अथवा वाक् और जीव— इन दोनों के अन्तर्भाव में अन्नादि सप्त 'कोष') इनके सप्तधाम हैं। इन सप्तधामों में ये सप्त

'अन्न' (स्थूल, तनुस्थूल, अणुस्थूल, सूक्ष्म, तनुसूक्ष्म, अणुसूक्ष्म, सूक्ष्मातिसूक्ष्म या परम–ये सात) ग्रहण करते हैं। 'गायति' अर्थात् उद्गीथ के रूप में (स्वरादि की सहायता से) मन्त्रवर्ण गाये जाते हैं। क्योंकि 'क्षर' (असत्, तमः एवं मृत्यु) से अक्षर में (सत्, ज्योतिः, अमृत में) आरोहण इनके द्वारा होता है, । इसलिए यह रहस्यविग्रह खग 'अक्षर' नाम से अभिहित हैं ॥९२-९४॥

[आदिपुरुष-स्तुतिः]

योगस्वापं पुमान् यः प्रलयजलनिधौ मायया सेवमानः
शेते यः पद्मनाभोऽवति निखिलसृजां वेदवाचां निवासम् ।
जागर्त्वेष प्रसन्नः प्रभवतु हृदि वः शुद्धसत्त्वोर्जितौजा
घोरं मूढं सपत्नं सपदि निरसयन् वाग्भवैरिध्यमानः ॥९५॥

अन्वय–यः पुमान् (जो आदि पुरुष) प्रलयजलनिधौ (प्रलयसमुद्रमें) मायया (अपनी मायाशक्ति से योगस्वापं योगनिद्रा का) सेवमानः (सेवन करते हुए) शेते (शयन करते हैं) यः पद्मनाभः (जो पद्म-नाभि वाले) निखिलसृजां (सकल की सृष्टि करने वाली) वेदवाचां (वेदवाणी के) निवासं (निवासरूप प्रजापति ब्रह्मा की) अवति (रक्षा करते हैं) एषः (थे), प्रसन्नः, शुद्धसत्त्वोर्जितौजाः (शुद्ध सत्त्वमय तेज से सम्पन्न वपु वाले) वः (आप लोगों के) हृदि (हृदय में) घोरं, मूढं, सपत्नं (मधु-कैटभ— इन शत्रुद्वय को) सपदि (शीघ्र) निरसयन् (निवारण करते हुए) वाग्भवैः इध्यमानः (वाग्भव बीज द्वारा सम्यक् प्रदीप्त-चैतन्य होकर) प्रभवतु (अपना प्रभाव विस्तार करें) ॥९५॥

भाष्य–जो आदिपुरुष अपनी अचिन्त्य मायाशक्ति से प्रलयपयोधि-जल में योगनिद्रा का आश्रय लेकर शयन करते हैं, पद्मनाभिरूप से, निखिल पदार्थ की सृष्टि-बीज वेदवाणी के निवास की (अर्थात् प्रजापति ब्रह्मा की) रक्षा करते हैं, वही 'शुद्ध-सत्त्वोर्जितवपुः उत्तमौजाः' नारायण तुम्हारे हृदय में भी (योगनिद्रा से) जागृत हो। 'ऐं' वाग्भवबीज के द्वारा सम्यक प्रदीप्तचैतन्य होकर तुम्हारे घोर एवं मूढ़ (मधु और कैटभ) चिरशत्रु का शीघ्र ही निरसन करके अपने प्रसन्न प्रभाव का विस्तार करें ॥९५॥

[श्रीराम-कृष्ण-स्तुतिः]

कालिन्दीरोधसीशो ललितसुरगिरां वेणुगीतैर्हरिर्यः
शैलान् विद्रावयंस्तैः प्रकटयति परां वाचमोङ्कारयोनिम् ।
सम्यक् सन्धानशूरो गमयति निधनं राघवो यो दशास्यं
प्रत्यक्चैतन्यमूर्ती वचसि विहरतामत्र तौ रामकृष्णौ ॥९६॥

अन्वय—ललितसुरगिराम् ईशः (ललित सुरलहरी के प्रभु) यः हरिः (जो हरि) कालिन्दीरोधसि (कालिन्दी-यमुना के पुलिन पर) तैः (उस) वेणुगीतैः (वेणु-सङ्गीत से) शैलान् (शैल-समूह को, और) ओङ्कारयोनिम् (ओङ्कार की योनि) परां वाचं (परा वाक् को) प्रकटयति (प्रकटित करते हैं, और) सम्यक् सन्धानशूरः (सम्यक् शरसन्धान में निपुण) यः (जो हरि) राघवः (राघव रूप में) दशास्यं (रावण को) निधनं गमयति (समाप्त करते हैं) तौ (वे दोनों) प्रत्यक् चैतन्यमूर्ती (साक्षात् चैतन्यस्वरूप) रामकृष्णौ (राम और कृष्ण) अत्र (यहाँ, मेरे) वचसि (वचन में) विहरताम् (विहार करें) ॥९६॥

भाष्य—ललित सुर-सुहरी के प्रभु हरि कालिन्दी पुलिन पर अपने वेणुसङ्गीत से शैलसमूह को भी विगलित करते हैं। ओङ्कार की योनि परावाक् को सम्यक् प्रकटित (और लीलायित) करते हैं, जो रघुपति राघव रूप में सम्यक् सन्धान-निपुण शर द्वारा दशानन का निधन करते हैं, वे दोनों साक्षात् चैतन्यमूर्त्तियाँ—राम और कृष्ण हमारे इस वाक्य में विहार करें ॥९६॥

(श्रीगणेश-स्तुतिः श्लो० ९७-९९)

स्फारास्यं ब्रह्मसूक्तं प्रमितिरुतिरदं सम्यगुद्गीथशुण्डं
द्वे विद्ये यत्र नेत्रे विशदपरिचयापास्ततामिस्रभालम्।
मन्त्रं वक्षश्च पार्श्वौ यतिततिकुशलौ दोष ऋष्यादयश्च
मात्राद्यैस्ते समाढ्याः सकलमखतनुं नौमि सिद्ध्यृद्धिपादम् ॥९७॥

अन्वव—स्फारास्यं ब्रह्मसूक्तं (स्फार या नादमय ब्रह्मसूक्त या वेद उन गणपति का मुख है) प्रमितिरुतिरदं (प्रमिति या प्रकृष्ट ज्ञानरूप 'रुति' या 'शब्द' उन का दन्त है) सम्यगुद्गीथशुण्डं (सम्यक् रूप में निष्पन्न उद्गीथ उन का सुण्ड है) द्वे विद्ये (परा और अपरा रूप दो विद्याएँ) यत्र नेत्रे (उन के नेत्र हैं) विशदपरिचयापास्ततामिस्रभालं (दो विद्याओं के विशेष ज्ञान के फलस्वरूप तमिस्रा या अज्ञानान्धकार के हट जाने से उन का भाल विशद या उज्ज्वल है), मन्त्रं वक्षश्च (और उन का वक्षोदेश है मन्त्र), यति-तति-कुशलौ (यति और तति या यन्त्र और तन्त्र में कुशलता ही) पार्श्वौ (उन के दोनों पार्श्व हैं।) ऋष्यादयः च (और ऋषि आदि चार) दोषः (उनकी भुजाएँ हैं) ते (वे उन की भुजाएँ) मात्राद्यैः (मात्रा आदि से) समाढ्याः (सम्पन्न हैं) सकलमखतनुं (उन का शरीर सकल यज्ञमय है) सिद्ध्यृद्धिपादम् (सिद्धि और ऋद्धि उन के चरण हैं) (ऐसे गणेश को) नौमि (नमस्कार करता हूँ) ॥९७॥

भाष्य—श्रीगणपति की मूर्त्ति बहुत रहस्यमय है, इसलिए यहाँ प्रथमतः उन के प्रत्येक अङ्ग का, मस्तक से पाद-पर्यन्त सकल अंगों का तात्पर्य समझने का यत्न किया जाता है।

श्रीगणेश हैं ज्ञान-विज्ञान के आदि-प्रवर्त्तक। इसीलिए उन के मुखकमल में साक्षात् वेदवाणी प्रकटित है। 'स्फार' या नादमयी जो 'श्रुति' या 'ब्रह्म' है उसी श्रुति या वेद का 'सूक्त' या मन्त्र ही है गणपति का वक्त्र अर्थात् उन का वदन-कमल मानो वेदकमल की प्रकट मूर्त्ति है।

उसके बाद, उनका 'रद' या दन्त किसे समझाता है? 'प्रमिति', प्रकृष्ट ज्ञान या यथार्थ ज्ञानरूप 'रति', या शब्द ही उन का दन्त है। 'सम्यक्' या यथा-यथभाव में निष्पन्न जो 'उद्गीथ' या छान्दोग्य-उपनिषदुक्त उद्गान है, वही उन का शुण्ड है। इसी शुण्ड द्वारा ऊर्ध्व में उत्तोलन रूप उद्गीथ क्रियादि सूचित होते हैं। इसी से वे शुण्डधारी हैं। उस के बाद उनके दोनों नेत्रों पर दृष्टि डालने से समझ में आता है कि दो विद्याएँ अर्थात् परा एवं अरा रूप उपनिषदुक्त विद्या उन के दोनों नेत्र हैं। कोई ज्ञान या कोई विद्या (वह जागतिक ज्ञान हो या पारमार्थिक ज्ञान हो—) भी उन की दृष्टि से बहिर्भूत नहीं है। उसे बतलाने के लिए मानो उन्होंने अपनी नयनज्योति से दोनों विद्याओं को प्रकट कर रखा है।

श्रीगणेश का ललाटदेश शुभ्र समुज्ज्वल है। उन का समग्र वदन रक्तवर्ण है। यह प्रतीत होता है कि पूर्वोक्त द्विविध विद्या उन का विशद या सम्यक् परिचय है। इस सम्यक् परिचय (विज्ञान) के अभाव में ही नारद शोक एवं तमस् के पार नहीं जा सके थे। इसीलिए वे गुरु सनत्कुमार के शरणागत हुए थे। 'तमसः पारं दर्शयति' किन्तु गणेश का समुज्ज्वल ललाट ही बताता है कि उन्हें इस द्विविध विद्या में केवल सामान्य ज्ञान ही नहीं, विशेषज्ञान या विज्ञान भी प्राप्त है। उसके फलस्वरूप अर्थात् इस विशद परिचय के लिए ही समस्त तमिस्रा या अज्ञान अन्धकार अपगत, अपास्त हो गया है। इसीलिए विज्ञानभाति में ललाटदेश समुज्ज्वल है, प्रतिभा की छटा में भास्वर है।

उन का वक्षोदेश या हृदयदेश ही है मन्त्र। श्रीगणेश का मर्मस्थल ही है मन्त्र एवं 'यति' और 'तति' अर्थात् यन्त्र और तन्त्र में जो कुशलता है, वही उन के दोनों पार्श्वदेश हैं। मध्यस्थल में मन्त्र, दोनों पार्श्वों में यन्त्र और तन्त्र इस रूप से वे मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र की सम्मिलित मूर्ति हैं।

उन के 'दोषः' अर्थात् चारों भुजाएँ हैं—ऋषि, छन्द, देवता और विनि-योग। जैसे मन्त्र उन का मर्मस्थल है, उसी प्रकार मन्त्र की यथायथ प्रयोगविधि

बताने के लिए उन की चार भुजाएँ मन्त्र के चार अपरिहार्य अङ्गों को इंगित करती हैं ।

इन चारों भुजाओं में वे धारण करते हैं मात्रा, पाद, कला और काष्ठा । छन्दोरूप हस्त में उन की मात्रा, विनियोगरूप हस्त में पाद, ऋषिरूप हस्त में कला एवं देवतारूप हस्त में काष्ठा है । इस प्रकार उन के चार हाथ मात्रादि द्वारा 'समाढ्य' या समृद्ध हैं ।

उन का समस्त तनु या देह ही यज्ञमय है । वे 'सकलमखतनु' हैं । सकल यज्ञ अर्थात् गीतोक्त द्रव्य यज्ञ से आरम्भ कर के ब्रह्मयज्ञ पर्यन्त द्वादश प्रकार के यज्ञ ही उन का शरीर निर्माण करते हैं । उनकी देह का सिन्दूर वर्ण इस यज्ञाग्नि के वर्ण— रक्तवर्ण को ही बताता है ।

श्रीगणेश के चरणयुगल ऋद्धि और सिद्धि हैं । अभ्युदय और निःश्रेयस् उन के दोनों चरणों पर आश्रित हैं । ऐसे श्रीगणेश को नमस्कार है । ९७।।

व्यूहं जिह्मं व्यदारीदृतचरितदता दन्तियूथेशतुण्डो
व्यामोहं च व्यतर्दीद् व्यसनपरिकरं तूर्णमोङ्कारशुण्डः ।
नादस्पन्दस्फुरत्ताऽरुणरुचिरतनुः स्विन्नबिन्दुच्छमौलि-
र्मात्राक्लृप्तैः स दोर्भिर्जयतु गणपतिस्तुर्यपश्यद्द्विनेत्रः ।।९८।।

अन्वय—ऋतचरितदता (ऋत-सत्य आचरण के दन्त द्वारा) जिह्मं (जटिल) व्यूहं (विघ्न-बाधा को) (जो गणपति) व्यदारीत् (विदीर्ण करते हैं) दन्तियूथेशतुण्डः (गजयूथपति के मुख वाले) (एवं) ओङ्कारशुण्डः (ओङ्काररूपी शुण्ड वाले) (वे) तूर्णं (शीघ्र) व्यसनपरिकरं (व्यसन से घिरे) व्यामोहं (व्यामोह को) व्यतर्दीत् (निरसन करते है) । नादस्पन्दस्फुरत्ताऽरुणरुचिरतनुः (नाद-रूप मूलस्पन्द के स्फुरण-रूप रक्तिम अङ्गराग से युक्त शरीर वाले स्विन्नबिन्दुवच्छ-मौलिः (जिनके शुभ्र भाल पर 'अघटनघटन' रूप स्वेद-बिन्दु केन्द्रीय शक्ति के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है) तुर्यपश्यद्-द्विनेत्रः ('तुर्य') और 'पश्यद्' रूप दो नेत्रों वाले) मात्राक्लृप्तैः दोर्भिः (चार मात्राओं की भुजाओं से युक्त) स गणपतिः जयतु (वे गणपति जययुक्त हों) ।

भाष्य—गणपति की इस रहस्यमूर्ति की प्रकारान्तर से भावना करें । मातङ्गयूथपति अरण्य के विचरण काल में वृक्ष-लतादिनिर्मित दुर्गम व्यूह को भी अवलीला क्रम से विदीर्ण करके अग्रसर होता है । रणस्थल में शत्रुरचित जटिल दुर्भेद्य व्यूह को भी विदीर्ण करने में समर्थ है । इसी प्रकार जीवन के अन्तर्बहिः निखिल बाधा-विघ्न जिस समय व्यूहरचना करके अपने दुश्छेद्य कौटिल्यपाश में

उसे अवरुद्ध करके उसकी अग्रगति को व्याहत करते हैं, तब दन्ति यूथपति की भाँति ही अपने (असीम शौर्य-समन्वित) वक्त्र से (एक परमाद्भुत) दन्त विस्तार करके वे उस व्यूह को समूल विनष्ट करते हैं। (इससे पहले उन्होंने वही किया था। वर्तमान में एवं भविष्य में भी वही करेंगे--यह निःसन्दिग्ध है। क्रिया में अतीत काल का प्रयोग यह सूचित करता है--'यदा यदा महाबाधा दानवोत्था भविष्यति'--इत्यादि)। अच्छा, उनके इस परम रहस्यमय दन्त से क्या समझना होगा ? समझेंगे—ऋतचरित—वाक्-काय मन का जो ऋजु, सत्य आचरण है वही अर्थात् वागादि कुटिल (जिह्म), अनृत अध्व का परिहार कर के ऋजु, ऋत जो अध्व है, उसका अनुसरण करने में जिस श्रेयोवीर्य द्वारा समर्थ होते हैं, वही है श्रीगणपति का दन्त।

(दम्=दमनं, control, 'त'कार' द्वारा विदित होता है अमृत=अभ्युदय, निःश्रेयस्)। जिसके द्वारा हमारे इस working apparatus के disharmony curvature and function नियन्त्रित होकर harmonic rectitude and harmonising function में रूपायित होते हैं, वही है दन्त—rectifying, harmonising factor)। इसीलिए श्रुति ने साधन के आरम्भ में ही प्रार्थना की है 'ऋत से, सत्य से हम भ्रष्ट न हों'! सकल साधना के मूल में यह ऋतान्वय, यह सत्यनिष्ठा है। अच्छा, दन्त क्या एक है, या दो हैं अथवा बहुत हैं ? दन्त एक ही है—व्यवसायात्मिका बुद्धि जैसे एक ही होती है, ऋतान्वय या ऋतचरित भी एक ही होता है। उसमें संशय की 'दोला' एवं विकल्प का 'जंजाल', दोनों ही नहीं रहते। A straight unswerving singleness of purpose and pursuit (साधन में ऐकान्तिकी अचल निष्ठा) चाहिए ही।

अशुभ या अन्तराय मुख्यतः दो रूपों में आकर उपस्थित होते हैं—व्यूह और व्यामोह। प्रथम स्तब्ध (static) भाव से होने पर भी दुर्भेद्य है। द्वितीय प्रसारी (aggressive) एवं आततायी पुरुभुज (octopus) के समान केवल अपनी बाहें फैलाता है। यह दुर्निवार है। इसकी बाहें अन्तहीन हैं। वे सचराचर विविध (कामज, क्रोधज इत्यादि) व्यसन के आकार में जीव को शृङ्खलित करती हैं। यह व्यसन-परिवृत व्यामोह किस प्रकार विदूरित होगा ? श्रीविनायक अपने ॐकाररूपी शुण्ड द्वारा इस महोपद्रव का शीघ्र निरसन करते हैं। अर्थात् प्रणवादि का श्रद्धापूर्वक जप ही मुख्य साधन है, क्योंकि उसके द्वारा इस यन्त्र का स्पन्दनगत वैरूप्य या प्रतिकूलता तिरोहित होने पर ऋत एवं सत्य छन्द के साथ अनुरूपता साधित होती है।

उसके बाद श्रीगणेश के दिव्य कलेवर में अरुण रक्तिम रुचि क्या है, इसकी भावना करें। निःस्पन्द परमतत्त्व में नादरूप मूलस्पन्द का जो समन्तात् स्फुरण है,

वहीं उस दिव्य कलेवर में रक्तिम अङ्गराग है। वाच्यवाचकमय चराचर विश्व के जीवन का प्रथम प्रतिस्पन्द (response) इस अरुण रक्तिमा में ही है। विश्वप्राण का 'रस', जीवन का 'रङ्ग' तो पादप में शीत अपगत होने पर विपुल प्राण हिल्लोल से उद्गत नव किसलयमञ्जरी की भाँति ही लाल जो है। विश्व के चित्रपट की वर्णाली में भी इसी लाल से ही तो वर्ण-ग्राम (समूह) का उत्तरोत्तर उन्मेष है। स्वरसप्तक में जैसे षड्ज ('स')। 'मैं एक हूँ मिथुन होऊँगा' ब्रह्मवस्तु में यह आदिम काम, इस रक्तराग में ही तो अपने को प्रस्फुटित करना चाहता है। विश्वदोल का जो 'भाग' है, वह भी तो मूल में यही है। तन्त्र के 'कामकला-विलास' ग्रंथ में भी यही है। वर्ण के मूल में जाकर इसे खोज लो।

अच्छा, गणपति के अङ्गों का सिन्दूरवर्ण तो मान लें विवेचित हो गया, किन्तु उनके शुभ्र स्वच्छ ललाटदेश पर मुक्ता की भाँति जो स्वेदबिन्दु शोभा पा रहा है, वह क्या है? विश्व की प्राणधारा में, जीवन चाञ्चल्य में रहकर भी (though immanent) वे इसके ऊपर नित्य-शुद्ध-बुद्ध-स्वरूप में विराजते हैं। अपनी उस नित्य क्षोभहीन (सुतरां निःस्पन्द) सत्ता में प्रतिष्ठित रहते हुए ही वे निखिल स्पन्दात्मक प्रपञ्च में 'अवगाहन' करते हैं; वर्णहीन होकर भी विश्ववर्णालि बने हुए हैं। यह 'अघटनघटन' है उनके ललाट का 'स्वेद', एवं वह अचिन्त्य घटन बिन्दुरूप में अभिव्यक्त होता है। अर्थात् उससे ही विश्व का निखिल स्पन्द अपनी 'केन्द्रीण' या नाभिशक्ति को पा रहा है पा रहा है—समष्टि में और व्यष्टि में। वेद कहते हैं — 'अदिति से दक्ष ने जन्म लिया और दक्ष से अदिति ने'; तन्त्र कहते हैं—'नाद से बिन्दु और बिन्दु से नाद'; — इन सबको सोचकर देखो गणपति के शुभ्रभालदेश में झलकते हुए इस स्वेदबिन्दु की ओर ताक कर।

गणपति के चार हस्त हैं (मात्राचतुष्टय) मात्रा, अर्धमात्रा, पूर्णमात्रा, और अमात्रा (अन्यत्र ये व्याख्यात हैं)। और उनके दो नेत्र हैं, — 'पश्यत्' और 'तुर्य' (पर और परम)। प्रथम के द्वारा वे निखिल तत्त्व, वस्तु एवं सम्बन्ध के 'दर्शन' करते हैं; द्वितीय के द्वारा सब त्रिपुटियों के मूल में जो परमाव्यक्त सत्ता है, उसमें ही साक्षात् अपरोक्षानुभूति रूप में अच्युतप्रतिष्ठ रहते हैं। यह तुरीय दृष्टि भी परा और परमारूप से द्विविध है (बाद में इसकी व्याख्या होगी)।

ऐसा रहस्यवपु धारण करने वाले श्री गणपति हमारे अशुभ के विनाश के निमित्त जययुक्त हों ॥ ९८ ॥

सम्यक् साम्यं समासे यदवति कुशलं कर्मणां शुण्डशौर्य
वीर्यं दन्तस्य यस्माद् हरति विषमतां व्यासमन्वेति या च।

आब्रह्माकारवृत्तिः प्रभवति च यता धाम मौलेः प्रसन्नं
वर्तेते द्वौ समाधी च नयनयुगलेऽतः समावृत्तिमूर्तिः ॥९९॥

अन्वय—(श्रीगणेश का) यत् (जो) कर्मणां कुशलं (कर्मों में कुशल) शुण्डशौर्यं (शुण्डदण्ड का शौर्य) सम्यक् (पूर्णरूप से) समासे (समास में) साम्यं (समता की) अवति (रक्षा करता है) यस्मात् (जिस कारण) दन्तस्य (दाँत का) वीर्य (वीर्य) विषमतां (विषमता का) हरति (हरण करता है) व्यासम् अन्वेति (व्यास का अनुगमन करता है), या च (और जो) आब्रह्माकारवृत्तिः (जब तक ब्रह्माकारावृत्ति उदित नहीं होती तब तक) मौलेः (मस्तक का) प्रसन्नं धाम (ज्योतिःप्रसाद) (साधक पर) प्रभवति (प्रभावशील होता है), नयनयुगले (उनके दोनों नेत्रों में) द्वौ समाधी (दो समाधियाँ) वर्तेते (विद्यमान हैं। अतः (इस प्रकार) (वे श्रीगणेश) समावृत्तिमूर्त्तिः (समावृत्ति की ही प्रकट मूर्ति हैं) ॥ ९९ ॥

भाष्य—अब इस श्लोक में श्रीगणेश के प्रति अङ्ग की क्रिया वर्णित है। प्रथमतः, अपने शुण्ड के शौर्य द्वारा वे क्या करते हैं ? पूर्वकथित समाससमता की सम्यक् भाव से रक्षा करते हैं। इस अनुकूल धारा का रक्षण, पोषण शुण्डशौर्य के द्वारा ही सम्भव होता है।

उसके बाद, अपने दन्त के वीर्य द्वारा व्यास में अर्थात् विच्छिन्न भाव (dissipation, scattering) में अन्वित या युक्त जो विषमता (disharmony) है, उसका हरण या नाश करते हैं। शुण्डशौर्य द्वारा समता का रक्षण होता है, उसी प्रकार दन्तवीर्य द्वारा विषमता का हरण होता है। साधना-सिद्धि के पक्ष में अपरिहार्य मुख्य दो क्रियाएं श्रीगणेश के इन दोनों अङ्गों द्वारा सम्पादित होती हैं, यथा अनुकूलता का पोषण और प्रतिकूलता विहरण।

केवल, इन क्रियाद्वय से उनका कर्तव्य समाप्त नहीं होता। वे अपने मौलि या (मस्तक के प्रसन्न धाम) ज्योतिः प्रसाद द्वारा साधक को प्रभावित करते हैं। उसकी साधना की सरणि को आलोकोद्भासित रखते हैं, जब तक कि ब्रह्माकारावृत्ति का उदय नहीं हो जाता अर्थात् साधक के चरम सिद्धि के क्षेत्र में न पहुँचने तक करुणाज्योतिः के विकिरण में कार्पण्य नहीं है। यही उनके मौलि या मस्तक का कार्य है।

योगशास्त्र में सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात रूप द्विविध समाधि की कथा वर्णित है। वह उभयविध समाधि ही उनके नयन-युगल में स्थान पाती है, अर्थात् उनके दोनों नेत्रों के मध्य समाधि द्विविध रूप से निहित है। उनके उसी नयन-प्रसाद या दृष्टि-प्रसाद से साधक की भी द्विविध समाधिलाभ सम्भव होता है।

इस प्रकार श्रीगणेश के सभी अवयवों का लक्ष्य करने पर यह प्रतीति होती है, कि ये समावृत्ति की ही प्रकटमूर्त्ति हैं ॥९९॥

[यह समावृत्ति रूप लाभ करने के लिए 'गणेश' रूपी रहस्य-नाम का विश्लेषण करके देखिये। 'ग' कार जिह्वामूलीय कवर्ग का तृतीय वर्ण है। मूलत्रय का निरूपक है, अर्थात् मूल को तीन संख्या में लेने का निर्देश करता है; जैसे, रसायनशास्त्र में H_2So_4 निर्देश करता है कि किस मौलिक को कितनी संख्या में लेना होगा। मूल तीन कौन से हैं ? वाक्, मनः एवं प्राण, अथवा विद्या, श्रद्धा, उपनिषद्; अथवा अ, उ, म् इत्यादि। 'ण' कार मूर्धन्य एवं पञ्चम वर्ण है। यह निर्देश करता है 'ऊर्ध्वलोक' से पंच शक्तिधाराओं (यथा, पञ्चगङ्गा) के अवतरण का। इस प्रकार मूलत्रयाश्रय में उपयुक्त वीर्यमात्रा लाभ करने पर उक्त मूर्धन्य धारा में उसका मिलन होता है। 'ग' तृतीय वर्ण है, 'ण' पञ्चम वर्ण है। दोनों ही 'घोषवत् (calling each other) अवश्य हैं, किन्तु पूरी तरह 'अल्पप्राण' (उनके आपेक्षिक 'शक्तिमान्' अधिक नहीं रहते) हैं। इस कारण 'गण' रूप में दोनों का समर्थ और सफल मिलन नहीं होता। दोनों की व्यावृत्ति (biatus) रह जाती है, समावृत्ति साधित नहीं होती। 'गणेश' नाम में 'ई' कार दीर्घ तालव्यस्वर गणेश के शुण्डशौर्य का प्रतीक है; और श कार 'महाप्राण' है। 'ईश' के संयोग से व्यावृत्तिक्षेत्र में समावृत्ति सूचित होती है। प्रत्येक रहस्य नाम अध्यात्म विज्ञान में एक-एक 'फॉर्मूला' (सूत्र) है।]

[अष्टमूर्ति-शिव-स्तुतिः]

वाचामोङ्कारगङ्गा गहनगतिजटागूढसप्तोर्मिभङ्गा
प्राणव्यापारक्लृप्ताऽहिवलयसहितं सार्द्धमात्रोत्तमाङ्गम्।
वैरूपाक्षं विरूपं परशुमृगवराभीतिभिश्च्छन्द ईष्टे
वैयर्थ्यं च त्रयीदृग् जयतु पशुपतिर्योऽष्टमूर्तिस्त्वमूर्त्तः ॥१००॥

अन्वय—वाचाम् ओङ्कारगङ्गा (वाणी की ओङ्कार-रूपी जो गङ्गा है) (उस की) गहनगतिजटागूढ-सप्तोर्मिभङ्गा- (सात उर्मियाँ शिव के गहनगति जटाजाल में गूढ़ अर्थात् छिपी हुई हैं), सार्द्धमात्रा + उत्तमाङ्गम् (शिव का उत्तमाङ्ग अर्थात् मस्तक अर्धमात्रा से विभूषित है और) प्राणव्यापारक्लृप्त + अहिवलयसहितं (प्राणव्यापार की अनुकृति पर जिन अहियों अथवा सर्पों की कल्पना हुई उनके वलय यानी कुण्डली से शिव का मस्तक युक्त है) (वे) परशुमृगवराभीतिभिः (चार हाथों में धृत परशु, मृग, वर, अभय इन चार उपायों द्वारा) वैरूपाक्षं (विरूपाक्ष) विरूपं [विरूप] छन्दः (छन्द का) ईष्टे (शासन करते हैं। वैयर्थ्यं च (वाक् के वैयर्थ्य का भी शासन करते हैं) यः (जो शिव) अष्टमूर्त्तिः + तु + अमूर्त्तः (अष्टमूर्त्ति होते हुए भी

अमूर्त्त हैं, वे) त्रयीदृक् (त्रिवेदी दिव्य चक्षुधारी) पशुपतिः (पशुपति) जयतु (जययुक्त हों) ।

भाष्य—अब श्री महादेव की मूर्त्ति की भावना कीजिए। महादेव अपने जटाजाल में गङ्गा को धारण किए हुए हैं। सभी वाक्यों का 'मधु' अथवा 'रस' ॐकार ही गङ्गा है। वाक्य की गति गहन, अर्थात् दुर्ज्ञेय है। यह गहन गति ही हर शिर पर जटा की कुण्डली है। इस जटागर्भ में वाक्यसार प्रणव (ईश्वरवाचक नाम) ही निगूढ़ हो कर अपनी सात ऊर्मियों (जगत्यादि सप्त छन्द, भूर्भुवरादि सप्त व्याहृतियाँ, अकार से लेकर शान्तातीत तक सात 'भूमियाँ' इत्यादि) को मानो छिपाए हुए हैं। शिव का उत्तमाङ्ग, अथवा मस्तक अर्धमात्रा (सम्पुटित नाद-बिन्दु कला—जो पहले और आगे व्याख्यात है) के द्वारा विभूषित है वह अहिवलय द्वारा वेष्टित है। वाक् की अभिव्यक्ति में जो प्राणन-व्यापार रहता है, वही अहि-रूप में कल्पित हुआ है। 'अह् + इ' यह आकृति (pattern) देखिए। अ = प्रथम स्वरवर्ण; ह = शेष व्यञ्जनवर्ण; अतएव अह = मातृका वर्णमाला। इ = गति। अर्थात् वर्णमाला की गति, अव्याकृति से व्याकृति, अभिव्यक्ति इत्यादि सूचित होती हैं। 'विलेशय' अहि कुण्डली बना कर रहता है, किन्तु फिर चलता भी है, (उसी से सर्प है)। प्राणन क्रिया वीचि की भाँति (wave pattern) में चलती है, वही अहि + भुजग है। शिव विरूपाक्ष हैं। वे अपने 'वैरूपाक्ष' छन्द द्वारा निखिल वाक् वा, प्राणी के 'विरूप' छन्द का शासन करते हैं, परशु, मृग, वर, अभय—अपने चार हाथों के इन चार 'उपायों' द्वारा। परशु द्वारा जो विरूप है, उसे अनुरूप होने के लिए 'आकृति' देते हैं' मृग (अन्वेषण, लक्ष्यानुवृत्ति) द्वारा उसे लक्ष्य के किंवा आदर्श के अनुरूप प्रतिरूप बना लेते हैं। वर द्वारा उसे समरूप एवं अभय द्वारा उसे एकरूप, अभिन्नरूप करते हैं (अनुरूपादि पहले व्याख्यात हो चुके हैं)। जो विरूप (heterogeueous) है, उसमें अक्ष axis रूप में प्रविष्ट हो कर उसका मन्थन करते हैं, जिसके फलस्वरूप वह अनुरूपा (homogeous) हो जाता है। (विरूपाक्ष शब्द का अन्य अर्थ भी है)। वाक् को त्रयीदृक्रूप में सार्थक करते हैं, त्रिवेदीदिव्य चक्षुःरूप से। वे क्षित्यादि अष्टमूर्ति (यथा 'शाकुन्तलम्' में मङ्गलाचरण में वर्णित है) हो कर भी अमूर्त्त (शुद्ध निरञ्जन ज्ञानमूर्त्ति) हैं। वाक् या प्रणव की ओर से भी इस अष्टमूर्ति एवं तदनुगत और तदतीत मूर्त रूप की भावना करनी होगी। ऐसे असामान्य रहस्यवपु पशुपति जययुक्त हों ॥१००॥

[अघोर सद्योजात-तत्पुरुष-ईशान तत्वम्]

सोऽघोरोऽदग्निचिद् यो मिति मृशति यतः सोमसुद् वामदेवः
सद्योजातो ह्युवर्णात् स्वरसमुदयतोऽजायतोर्ज्जश्च सद्यः ।

आदावन्ते च यो तत्पुरुष इति हुतौ होतृहव्ये द्विवर्णा-
वीशानश्चेष्टिकामान् कति सिति सुषुवे सर्वधुक् चैकहौंसः ॥१०१॥

अन्वय—यः (जो) अग्निचित् (अग्नि का चयनकारी) अत् (स्वर का आदि वर्ण) सः (वह) अघोरः (अघोररूप है) म् इति (जो मकार है वह) यतः (क्योंकि) मृशति (मर्श या मर्षण करता है अतः) सोमसुत् (सोम का सवनकारी) वामदेवः (वामदेवरूप है)। स्वरसमुदयतः (स्वरसमुदाय के) उवर्णात् ('उ'वर्ण से) सद्यः (निरन्तर, अविच्छेद रूप में गति) ऊर्ज्जः (अभ्युदय) अजायत (उत्पन्न होता है), (वह ऊर्ज्ज) सद्योजातः (सद्योजात रूप है) होतृहव्ये हुतौ (द्रव्य-यज्ञ से हवन-यज्ञ पर्यन्त यज्ञों में (आद्रौ, अन्ते च) और (आदि तथा अन्त में दो वर्ण) ('ह्' एवं ':') द्विवर्णौ (ये दोनों वर्ण) तत्पुरुष इति (तत्पुरुष रूप हैं) ईशानः (यज्ञफल-नियन्ता के) कति च इष्टिकामान स इति सुषुवे (कितने ही यज्ञ-फलों को 'स' इस वर्ण में प्रसव किया था) एक हौंसः (एक 'हौंसः' रूप महाबीजरूप वाक् ही) सर्वधुक् (सब कुछ दुहने वाली हैं) ।

भाष्य—कृत्तिवास, शितिकण्ठ, शूलपाणि, पञ्चवक्त्र इत्यादि के रहस्य का भी अवगाहन करें। यहाँ विशेष रूप से 'हौंसः' इस महाबीज का विश्लेषण करने का यत्न कीजिए। बीज के आदि-अन्त में 'ह्' एवं ':' हैं। मध्य में ओंकार=अ, उ, म् है। उसके बाद स् है। विचार कीजिए कि यह विश्वमहायज्ञ है। वाक्, प्राण, मन, समष्टि, व्यष्टि, सब कुछ लेकर यह यज्ञ है। इस यज्ञ में 'अग्निचित्', अग्नि-का चयनकारी storing and massing of energy 'अत्' अर्थात् स्वर का आदि अवर्ण है। यह अघोर रूप है। क्योंकि मूढ़ एवं घोर रूप को लाँघे बिना उक्त चयन कर्म सम्भव नहीं होता। उसके बाद, अन्त्य स्पर्श वर्ण 'म'कार 'मृशति', या स्पर्श मर्षण, मर्शनादि कर के 'सोमसुत्' सोम का सवनकारी है। सोम=निखिल पदार्थ में ओत-प्रोत 'रस'। यज्ञ में उसका क्षरण या सवन होना आवश्यक है। यह सोमसुत् वामदेवरूप है। अग्नि एवं सोम मिलित होकर energy+value अग्निषोम हैं; किन्तु होना चाहिए ऊर्जः अर्थात् अभ्युदय शक्ति। स्वर समुदाय में जो उवर्ण है, उससे ही ऊर्ज्जः उत्पन्न हुआ था, सद्यः अविच्छेद में, अव्यवधान में ही जात हुआ था। यह सद्योजात रूप है। इसके अभाव में कर्म भी स्तब्ध, व्याहत आदि होगा। 'सद्य' शब्द का विशेष रूप से लक्ष्य कीजिए। अद्यः=सद्+यः=निरन्तर, अविच्छेद में गतिशील। अथच स्वयं यह सत्=अव्यय है। उसके बाद, आदि एवं अन्त में दो वर्ण (ह् एवं :) है। वे दोनों यथाक्रम से इस हवन में (हुतौ) होता एवं हव्य हैं। द्रव्ययज्ञ से ब्रह्मयज्ञ पर्यन्त सभी यज्ञों में इन दोनों का अनुसन्धान करे, भावना करें। दो मिल कर तत्पुरुषरूप हैं (तत्=that पुरुष=I or you, object-subject

इत्यादि)। इस प्रकार क्रिया, कारक, संघात मिला। किन्तु फल ? 'कति' कितने ही इष्टिकाम यज्ञों के फल इन्होंने प्रसव किए थे 'स्' वर्ण के रूप में। यज्ञफल, नियन्ता ईशान हैं। एक 'हौंसः' महाबीज रूप वाक् ही सर्वधुक्, सर्वसम्मेलन, सर्वभावन और सर्वसमापन कर्म में निरतिशयकुशला है ।। १०१ ।।

[सोम-तत्त्वम्]

जिधृक्षति शिशुः सोमं यः शम्भोर्मौलिभूषणम् ।
ओषधमत्ति यः सोमं स किं वेत्ति स ओमिति ।। १०२ ।।

अन्वय—शिशुः (बालक) सोमं (चन्द्र को) जिधृक्षति (पकड़ना = ग्रहण करना चाहता है) यः (जो) शम्भोः (शिव का) मौलिभूषणं (शिरोभूषण-भूत है)। यः (जो) सोमं (सोम को) ओषधं (ओषध रूप में) अत्ति (खाता है) सः (वह) किं वेत्ति (क्या जानता है कि) स ओम् इति (यह 'स् उ म्' ऐसा है) ?।

भाष्य—शिशु हाथ बढ़ा कर आकाश के सोम चन्द्र को ग्रहण करने की इच्छा करता है। क्या वह जानता है कि सोम तो शम्भु का मौलिभूषण 'सोमार्धधारिणे' है ? और, ओषधिरूप में व्रीहि, यव इत्यादि रूप में जो सोम का भक्षण करता है, वह क्या जाने कि स्वरूप में सोम = 'स उ म्' ऐसा है ? ।। १०२ ।।

[आदित्य-तत्वम्]

आदित्यो ब्रह्म मूर्तं विशति यदखिलं व्याप्य चार्कः स्वधाम्ना
नाभौ संगृह्य चक्रं ह्यरधृतवलयं वर्त्म छन्दो विभर्ति ।
सूते सूर्यश्च पूषाऽवति च बृहदृतं जक्षितीदं च रुद्रः
प्राणान् ॐ प्राणिनद्ध्रीं घृणिरिति हृदयं सून्म एकर्षयेऽर्घम् ।। १०३ ।।

अन्वय—आदित्यः (आदित्यरूप) मूर्तं ब्रह्म (मूर्त्त ब्रह्म है) यत् (जो) अखिलं विशति (अखिल विश्व में प्रविष्ट हैं) च (और) अर्कः (अर्क रूप में, वह ब्रह्म) स्वधाम्ना (अपने तेज एवं महिमा द्वारा) व्याप्य (व्याप्त करके) (रहते हैं), चक्रं (चक्र को) नाभौ (नाभि में संगृह्य संग्रह करके) अरधृतवलयं (अर का विस्तार करके उस चक्र के वलय या परिधि को धारण किए हुए हैं) वर्त्म (मार्ग, एवं) छन्दः विभर्त्ति (छन्द का भरण करते हैं) सूते (सब कुछ प्रसव करते हैं, अतः वह) सूर्यः (सूर्य या सविता हैं) अवति (पोषण करते हैं, अतः) पूषा (हैं), ऋतं बृहत् (ऋत ब्रह्म के रूप में) (सब कुछ का पालन और रक्षण करते हैं) रुद्रः (रुद्र के रूप में) इदं च जक्षिति (इस सब कुछ का भक्षण कर जाते हैं) ॐ (ओङ्कार रूप में) प्राणान् (प्राणों को) प्राणिनत् (प्राणित करते हैं) 'ॐ ह्रीं घृणिः' (यह आदित्य का) हृदयं (आदित्य-हृदय-मन्त्र है) (एवंविध) एकर्षये (एक ऋषि) (भगवान् आदित्य के लिए हम) अर्घं सून्मः (अर्घसवन करते हैं)।

भाष्य—ब्रह्म के दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त। अदितिरूप में ब्रह्म अमूर्त है, आदित्य रूप में मूर्त्त है। अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और पर, इन त्रिविध रूपों में जो कुछ भी 'अस्ति' और 'भाति' है, वह समस्त ही आदित्य है। स्थूल के मध्य में सूक्ष्म और सूक्ष्म के मध्य में पर, इस प्रकार का जो अखिल विश्व है, इसमें आदित्य प्रविष्ट हैं और अर्करूप में अपने (आधिभौतिकादि चतुर्विध) तेजः एवं महिमा द्वारा इन सबको वे व्याप्त किए हुए हैं। पुनश्च, (अणु अथवा महान्) भुवन में जो चक्र चलता है, उसकी नाभिनिष्ठ सत्ताशक्ति (nuclear power) के रूप में उसे 'संग्रह' करके रखे हुए हैं। स्वयं अर (moments) विस्तारपूर्वक उस चक्र का (जैसे एक atom का किंवा इस सौर जगत् का) जो वलय, नेमि या परिधि है, उसे (अपनी आकृति में वा pattern में) धारण किए हुए हैं; और, इस भुवनचक्र की गति (function) में जो अध्व (course वा curve) है, एवं जो छन्दः (law या equation) है, उसका 'भरण' कर रहे हैं। मूर्त ब्रह्म आदित्य की 'अन्तर्बहिः सर्वतः' पञ्चवृत्ति का ध्यान करें। आदित्य, विवस्वान्, अर्क, सविता, नारायण, गभस्तिमान्, हरिदश्व (या सप्ताश्व) ये रहस्यनाम इस प्रसङ्ग में स्मरणीय हैं। सब कुछ प्रसव करते हैं, अतः वे सविता, सूर्य हैं। पोषण करते हैं, अतः पूषा हैं। हंसवती ऋक् में प्रसिद्ध 'ऋतं बृहत्' अर्थात् ऋतब्रह्म (हंस) के रूप में सब कुछ का पालन और रक्षण करते हैं। ये cosmic life-principle हैं। पुनश्च, कालाग्निरुद्र रूप में सब कुछ का ये 'भक्षण' करते हैं। काल+अग्नि+रुद्र। रुद्र इस 'सम्पुट' का भी विशेष रूप से ध्यान करें। ध्यान करने पर भुवनचक्र की 'नाभि' भेद करके काल के अतीत तत्त्व में जाया जा सकता है। इन्होंने प्रणव (ॐकार) रूप में प्राणसमूह को भी प्राणित किया था (प्राणिनत्)। 'ॐ ह्रीं घृणिः' यही उनका (आदित्य का) 'हृदय' (ॐरूप में 'हृत्', ह्रीं रूप में 'अय' या गति) है। एवंविध एकर्षि प्रत्यक्ष भगवान् आदित्यनारायण का हम अर्धसवन (वाक्, मन और प्राण द्वारा कल्पित) करते हैं। हमारा जो अघ (पाप्मा, एनः, मन्यु इत्यादि रूप) है, वह भी सूर्यज्योति में सवन (हवन) के लिए, एवं सवन के फलस्वरूप रेफयुक्त (र=अग्नि) होकर 'अर्घ' बने ॥१०३॥

[श्रीतारा - तत्त्वम्]

या तारा त्रिपुरादिदुर्गगहनग्रन्थीन् दिदीर्षत्यसौ
मन्त्राणां च जिहीर्षते विषमतां चैतन्यमाधित्सते।
अभौंकिस्त्वामपाचिकीर्षति ततो भूयस्त्वमारिप्सते
प्रत्यालीढपदा विनीषति पदं बंहिष्ठवाचः परम् ॥१०४॥

अन्वय—या (जो) तारा (माँ तारा) (हैं वह) त्रिपुरादिदुर्गगहनग्रन्थीन् (समस्त त्रिपुर दुर्ग की गहन-ग्रन्थियों को) दिदीर्षति (विदीर्ण करने की इच्छा करती

हैं) असौ (वह माँ तारा) मन्त्राणां (मन्त्रों की) विषमतां (अरित्व या प्रतिकूलता या बाधा या विरोध को) जिहीर्षते (हरण करने की इच्छा करती हैं) (मन्त्र में) चैतन्यं (चैतन्य को) आधित्सते (आहित करने की इच्छा करती हैं) अर्भ+ओकस्त्वं (अल्प या क्षुद्र में अवस्थिति को) अपाचिकीर्षति (अपाकृत या दूर करना चाहती है) 'ततो भूयस्त्वं ('ततो भूयः' सूचनादि क्रम में) आरिप्सते (आरम्भ करना चाहती हैं) प्रत्यालीढपदा (शिव के वक्ष पर पादविन्यास करके खड़ी हैं) पदं (पद को) बंहिष्ठवाचः (वैखरी वाक् के बाद) निनीषति (ले जाना चाहती हैं)।

भाष्य—अब यहाँ तारा तत्त्व कहा जाता है। जो माँ तारा हैं, वे स्वरूपतः 'तार' बीज़ या ॐ काररूपा हैं। उनकी विभिन्न क्रियाएँ यहाँ वर्णित हैं। वे प्रथमतः त्रिपुरादि अर्थात् जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, अ-उ-म् मात्रात्रय, बहिःप्रज्ञ, अन्तःप्रज्ञ, घनप्रज्ञ इत्यादि समस्त त्रिपुर-दुर्ग, अर्थात् दुर्गम व्यूहों, की गहन ग्रन्थियों को विदीर्ण करने की इच्छा करती हैं। द्वितीयतः, मन्त्रसमूह की जो विषमता अर्थात् रूप और छन्द इत्यादि का जो अरित्व या प्रतिकूलता किंवा एक शब्द में छन्दोनिमित्त जो बाधा या 'विरोध' है, उसका वे हरण करने की इच्छा करती हैं। वे अर्धमात्र या अमात्र रूप में मन्त्रसमूह का समर्थ भाव से उद्धार करने की इच्छा करती हैं। केवल मन्त्रोद्धार से ही उनका कर्म परिसमाप्त नहीं होता। वे मन्त्र में 'चैतन्य' आधान करने की इच्छा करती हैं। इसके फलस्वरूप वस्तुनिमित्त बाधा या 'निरोध' का निरसन होता है। इसके अतिरिक्त वे 'अर्भोकस्त्व' हैं, अर्थात् अल्प में, क्षुद्र में, अवस्थिति अर्थात् स्वल्प सङ्कीर्ण 'देश' में गति-स्थितिरूप में जो देशनिमित्त बाधा या 'अवरोध' staticity, stagnation है, उसे भी अपावृत या दूर करने की इच्छा करती हैं। भगवान् सनत्कुमार जैसे नारद को 'ततो भूयः' इत्यादि क्रम से अन्त में भूमा में ले गए थे, उसी प्रकार अल्प से 'ततो भूयः' क्रम में वे साधक को ब्रह्म में ले जाने के लिए सूचना का आरम्भ करने की इच्छा करती हैं।

संक्षेप में, कालनिमित्त बाधा 'प्रतिरोध' को अपसारित करके विकास-प्रकाश-उल्लास की पूर्णता घटित करती हैं। परिशेष में, माँ तारा को देखता हूँ कि एक विशेष भङ्गी से शिवजी के वक्ष पर पादविन्यास करके खड़ी हैं। इसका रहस्य क्या है? वे 'प्रत्यालीढपदा' हैं अर्थात् अरिच्छन्दादि के विनाश के लिए सम्यग्विन्यस्त मन्त्राक्षरपदा होकर वैखरी वाक् के बाद मध्यमा, पश्यन्ति इत्यादि में पद को अर्थात् वाक्, मन और प्राण—इन समस्त की गति को लेकर जाने की इच्छा करती हैं। अर्थात्, अपने पाद की विशेष भङ्गी से मन्त्र के पदों के एक विशिष्ट रूप को या अवस्थान को सूचित करती हैं। मन्त्राक्षर पदों के इस प्रकार विन्यस्त होने पर वे वाक् के स्थूल वैखरी रूप का परित्याग करके उसके परमरूप परावाक् की ओर

धावित होती हैं। कहीं मध्यमा, पश्यन्ती इत्यादि क्रम से अथवा कहीं साक्षात् अक्रमिक भाव से ही वे धावित होती हैं।

अतः माँ तारा हमारे ग्रन्थि विदारण, मन्त्र की विषमता का हरण, चैतन्य आधान, क्षुद्रत्व या अल्पत्व अपाकरण, भूमाभिमुखी गति का सूचन एवं परिशेष में वाक् की परम अवस्था में नयन (ले जाना), ये सभी कृत्य सम्पादित करती हैं ॥१०४॥

[छिन्नमस्ता तत्वम्]

ब्रह्मास्मीति प्रमाणात् पदतलदलिता विप्रतीपा रिरंसा
प्रज्ञानं ब्रह्म पूर्णादिति पदगमनाच्छान्तिकृन्मन्त्रवर्णैः।
आत्मायं ब्रह्म चेति श्रुतिषु निगमनात् तत्वमस्यादितत्वं
नादैर्मृग्यस्तदर्थः स्फुटितपरिचया छिन्नमस्ताऽस्तु गुह्या ॥ १०५ ॥

अन्वय—ब्रह्मास्मीति प्रमाणात् ('अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रमाण से) विप्रतीपा (विपरीता) रिरंसा (रमणेच्छा) (उन छिन्नमस्ता के) पदतलदलिता (चरणों में दलित है) शान्तिकृन्मन्त्रवर्णैः ('ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं' इत्यादि शान्तिपाठ के मन्त्रवर्णों द्वारा) 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इति पूर्णात् पदगमनात् (इस पद द्वारा प्रकाशन से) 'अयमात्मा ब्रह्म' इति (इस के) श्रुतिषु (वेदों में) निगमनात् (प्रकाशन से) तत्त्वमसि-आदि-तत्त्वम् (को जो प्रकाशित करती हैं) तदर्थः (वाक्चतुष्टय का अर्थ) नादैः मृग्यः (नादानुसन्धान द्वारा अन्वेषणीय है) (वह) गुह्या (रहस्यमयी) छिन्नमस्ता (देवी) स्फुटितपरिचया अस्तु (हमारी बुद्धि में उद्भासित हों)।

भाष्य—माँ की और एक रहस्यमूर्ति है—छिन्नमस्ता। इस मूर्ति में वेदान्त के प्रसिद्ध चार महावाक्यों का रहस्य निहित है।

चार महावाक्यों में से 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप प्रथम पद के द्वारा उन्होंने विप्रतीप रिरंसा को सर्वतोभाव से दलित किया है। क्योंकि उक्त निश्चय होने पर केवल परमात्मा में ही पूर्ण रति हुआ करती है। 'विप्रतीप रिरंसा' का अर्थ है स्वरूप से जो विप्रतीप या विपरीत है, उस में रिरंसा या रमणेच्छा। आत्मा ही निरतिशय प्रिय है, अनात्मवस्तु में जो प्रियताधर्म है, वह स्वाभाविक नहीं है। अथच अल्प, खण्डित अनात्मपदार्थ में ही जीव की रमणेच्छा होती है। यही उसकी विपरीत रिरंसा है। छिन्नमस्ता के पदतल में विपरीत रतातुर रतिकाम इसी की प्रतिमूर्ति है। यह विपरीत रति दूर होती है केवल इस निश्चय बुद्धि से कि 'मैं स्वरूपतः आनन्द-ब्रह्म हूँ, 'ब्रह्मेतर कुछ नहीं है'। आत्मा को छोड़ कर और रति कहाँ होगी?' यही 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप महावाक्य का फल है। और 'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं'

इत्यादि शान्तिपाठ के मन्त्रवर्ण समूह द्वारा पद की गति से; अर्थात् पद की जो लक्ष्य वृत्ति है, उस के द्वारा 'प्रज्ञानं ब्रह्म' रूपी अपर महावाक्य को उन्होंने अपने में ही प्रकाशित किया है। किस प्रकार से? अपना मस्तक स्वयं ही छेदन कर के एवं अपने रुधिर का स्वयं पान कर वे दिखाती हैं कि 'यह भी पूर्ण है, वह भी पूर्ण है; पूर्ण से पूर्ण को ले लेने पर पूर्ण ही रहता है, पूर्ण के सिवा अपूर्ण कहाँ है?'। उस के बाद 'अयमात्मा ब्रह्म' को भी वे प्रकाशित कर के दिखाती हैं। अपने दिव्य कलेवर के भीतर जो आत्मा 'रुधिर' रूप में है, वह अन्तर्बहिः सर्वत्र ही है, वस्तुतः उस का हान अथवा उपादान नहीं है। अन्त में सब श्रुतियों ने जिस प्रकार निःसंशय प्रतिपादित किया है, उस रूप से 'तत्त्वमसि' रूप से महावाक्य रूप 'असि' के द्वारा अपने तत्त्व अर्थात् ब्रह्मत्व का, अपने में प्रतिपादन करती हैं। कर की असि इस 'असि' का प्रतीक है। अपनी देह 'त्वं' पदार्थ है, अपना उत्तमाङ्ग 'तत्' पदार्थ ही है। 'असि' पद इन दोनों की भाग-त्याग-लक्षणा का प्रदर्शन करता है। अर्थात् देह के धर्मादि (रूप-नाम) एवं मुण्ड के धर्मादि, दोनों का त्याग करते हुए 'रुधिर' रूपी अभिन्न वस्तु या सत्ता रूप में दोनों का ग्रहण हो रहा है। देह से जो 'निर्गलित' है, वह मुण्ड में 'समर्पित' एवं समाप्त हो रहा है; 'रुधिरमित्येव सत्यम्' इस का निगमन होता है।

वही गुह्यातिगुह्या छिन्नमस्ता अपने स्वरूप के परिचय द्वारा हमारी बुद्धि में उद्घाटित, उद्भासित हों। स्वरूप परिचय का साधन कैसा है? छिन्नमस्तारूप में और उन में उदाहृत रूप में, महावाक्य चतुष्टय के अर्थ (उपनिषत्) के नादानुसन्धान (अ, उ, म्; नाद, बिन्दु, शान्त, शान्तातीत) द्वारा ही साधक को अन्वेषण करना होगा। अथवा 'नादैर्मृग्यं तदर्थं'—तदर्थं अर्थात् तदुद्देश्य में, उस के लिए नादादि के द्वारा अन्वेषण करना होगा ।। १०५ ।।

('म्' है स्पर्श वर्णों का अन्तिम वर्ण। उच्चारण में अकारयुक्त है। 'अ' 'म्' के बाद है। 'अ' को 'म्' के आगे लाइए। उससे हुआ—'अम्'। इसे उलटा करने पर हुआ विपरीतकरण। दोनों के बीच 'उ' कार = उदानवृत्ति (lever action) है। इस वृत्ति द्वारा 'अ' और 'म्' दोनों का 'मन्थन' साधित होता है—जैसे यज्ञ में उत्तराधर अरणि का। इस मूल व्यापार को विपरीत रिरंसा कहा गया। प्राण के क्षेत्र में, अ = प्राणापान व्यापार, म् = समान, व्यान, उ = उदानवृत्ति। ये केवल शरीर की वृत्तियाँ नहीं हैं, विश्ववृत्ति (cosmic function) हैं। मन के क्षेत्र में भी इतका निजस्व रूप है। जो कुछ भी हो, व्यापार जब तक केवलमात्र 'अ उ, म्' आकृति (pattern) में रहता है, तब तक 'स्पर्शयोग' के बीच ही आबद्ध रहना पड़ता है। उसका अर्थ है, प्राकृत संचारक्षेत्र में (Spinoza के 'Natura Naturata' से तुलना कीजिए) रहना होगा। इसका अतिक्रम करना होगा। छिन्नमस्ता का कलेवर एवं

उससे छिन्न मुण्ड = नादबिन्दु है। किन्तु जबतक नाद-बिन्दु के मध्य व्यवधान, 'अन्तरिक्ष' (hiatus) बना रहता है, तब तक 'शान्त भाव' सम्भव नहीं होता। नाद में जो 'तत्त्व' निर्गलित है, बिन्दु में वह पर्यवसित है, यह समीकरण जब तक सर्वथा साधित नहीं होता तब तक 'शान्त' भाव नहीं है। तभी तो छिन्नमस्ता अपनी छाती का रुधिर स्वयं 'पान' करके शान्त हो रही हैं। और, शान्तातीत? वह तो परमाव्यक्त भाव है, उसका प्रतीक किसमें मिलेगा? बाद में देखा जाएगा कि 'ऐं, ह्रीं, क्लीं' इत्यादि चाहे जिस बीज का उद्धार हो, चैतन्य इत्यादि व्यापार में उसका एवं अन्यान्य रहस्य मूर्त्तियों का साक्षात् उपयोग है। जैसे, वैखरी जप = विपरीत रतातुर रतिकाम; देवी कलेवर = मध्यमा; मुण्ड = पश्यन्ती, रुधिरपान = परा।]

(श्रीधूमावती-तत्वम् श्लोक १०६—१०८)

आब्रह्मस्तम्बमेतज्जिजरिषति कुतश्च्योतितुं स्थेष्ठमिच्छेन्
मात्रापादांशकाष्ठाऽऽकलितरथपदां लौल्यमिच्छेच्च नेमिः।
सम्पाते विश्वबीजं ह्यसितमपि सिताद् भिद्यमानत्वमिच्छेत्
शूर्पेणाढ्यां रथस्थां विविदिषुरधवां वेद धूमावतीं कः॥१०६॥

अन्वय—एतत् (यह सब) आब्रह्मस्तम्बं (ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त) कुतः (क्यों) जिजरिषति (जरा को प्राप्त होना चाहता है) स्थेष्ठं च्योतितुम् इच्छेत् (जो ध्रुव है वह क्यों च्युत होना चाहता है) नेमिः (चक्र की नेमि) मात्रा + पाद + अंश + काष्ठा + आकलित + रथपदां (मात्रा, पाद, कला और काष्ठा ये भुवन-रथ के चार पद या चरण हैं, इनकी) लौल्यं (चञ्चलता को) इच्छेत् (चाहती है) विश्वबीजं (सृष्टि का बीज) सम्पाते (मिलित अवस्था में) हि + असितम् अपि सितात् भिद्यमानत्वम् इच्छेत् (असित-अशुक्ल विश्वबीज शुक्ल से भिन्न रहना चाहता है) शूर्पेण आढ्यां (शूर्पहस्ता) रथस्थां (रथ में स्थिता) अधवां (विधवा धूमावती धूमावती माता को) कः विविदिषुः वेद (कौन जिज्ञासु जान सका है)।

भाष्य—माँ की एक और रहस्यमूर्त्ति धूमावती के तत्त्व का यहाँ विश्लेषण करने का यत्न किया जाता है।

क्षुद्र तृण से ब्रह्मा पर्यन्त सभी कुछ जराकवलित होना चाहता है—यह विश्वजरा क्यों है? जो ध्रुवतम है, वह भी क्षयिष्णु है—क्या ध्रुव का यह अपाय या विनाश है? मात्रा; पाद, कला, काष्ठा ही भुवन रथ के चार चरण या चक्र हैं। चक्र की नेमि तो घूमते-घूमते लाल होना चाहती है, नियति का यह लौल्य क्यों है? निखिल सृष्टि का बीज जहाँ एकत्र पिण्डीभूत होता है, वहाँ भी जो शुक्ल है, वह अशुक्ल से अलग ही रहना चाहता है। क्यों यह मौलिक भेद है, यह निगूढ़ निर्वाचन

है ? यह सब रहस्य जानने की इच्छा कर के कौन जान पाया है कि रथस्थिता, शूर्पहस्ता, जरालोला, विधवा धूमावती कौन हैं ? अर्थात् माँ की इस मूर्ति में ही इन सभी रहस्यों का संकेत छिपा हुआ है। वे रथारूढ़ा होकर विश्वभुवन की नियत गति को दिखाती हैं। स्वयं जरालोला होकर इसकी नियत जीर्णता और लौल्य को प्रकट करती हैं। माँ के हाथ में जो सूप है, उसके द्वारा वे विश्व के समस्त सृष्टि-बीज को फटक कर निर्वाचन करते हुए अर्थात् बीनते हुए प्रत्येक को स्वतन्त्र रूप से, पृथक रूप से बनाये रखती हैं। विश्व का विपरिणाम, उसकी जरा, लौल्य एवं प्रत्येक सृष्ट वस्तु का पार्थक्य या वैशिष्ट्य रूपी सृष्टि के सभी रहस्य धूमावती की मूर्ति में छिपे हुए हैं। जब तक हम सृष्टि के आवर्तन में हैं, तब तक इसके स्वामी का सन्धान पाना असम्भव है। अतः हमारी माँ अधवा, पतिहीना हैं। इसीलिए हम उन्हें सधवा वेश में नहीं देखते। उनके पति होने की स्पर्धा भी किसमें है ? उनके सीमान्त में सिन्दूर डालने का दुःसाहस भी किसको होगा ? इसलिए वे चिरकाल से अधवा के वेश में आविर्भूत हैं। ॥१०६॥

नासृग्बीजप्रतीकोऽप्यजरमनसिजो जीर्यते जीर्यमाणे
विश्वे ग्रन्थिर्हृदां वाऽशनिशतसुदृढो दीर्यते ध्रौव्यहाने।
मा भूत् किं लौल्यलेशो जनिमृतिसरणौ संसृतेश्चक्रनेमौ
मिथ्योत्थेषु स्वरूपं किमु चिरमधवे नोऽचितं स्याच्चितं वा ॥१०७॥

अन्वय—असृग्बीजप्रतीकः (रक्तबीज जिसका प्रतीक है, ऐसा) अजरमनसिजः (जरा को न प्राप्त काम) विश्वे जीर्यमाणे अपि (विश्व के जीर्ण होने पर भी) न जीर्यते (जीर्ण नहीं होता), ध्रौव्यहाने (निखिल ध्रुवपदार्थ का क्षय घटित होने पर) हृदां (हृदयों की) ग्रन्थिः (ग्रन्थि-पाश) अशनिशतसुदृढः (सौ वज्रों की भाँति सुदृढ़) न दीर्यते (टूटता नहीं) जनिमृतिसरणौ (जन्ममरण की सरणि-रूप में) संसृतेः नेमौ (संसारचक्र की नेमि में) लौल्यलेशः (शैथिल्य का थोड़ा भी लेश) किं मा भूत् (क्या नहीं होगा); हे अधवे (हे विधवे) मिथ्योत्थेषु (मिथ्या की अनन्त परम्परा में) (स्वरूपं) (सत्य-स्वरूप) किम् उ (क्या) न अचितं स्यात् (हमारे लिए अचित अर्थात् असंग्रहीत ही रहेगा ?) चितं वा (या कभी संगृहीत होगा)।

भाष्य - रक्तबीज जिस का प्रतीक है, वही मनसिज काम है। वह समग्र विश्व के जीर्यमाण होने पर भी जीर्ण नहीं होता, अजर ही रह जाता है। इस का उपाय क्या है माँ ? निखिल ध्रुव पदार्थ का क्षय अपचय होने पर भी हृदय का ग्रन्थिपाश जीर्ण नहीं होता। वह सौ वज्रों की भाँति सुदृढ़ रह जाता है। इस का क्या उपाय है माँ ? अनादि क्लेशसंकुल जन्म-मरण के पथ में संसार रथ की चक्रनेमि घूम रही है, उस में क्या शैथिल्य का लेशमात्र भी लक्षित नहीं होगा ?

इस जन्म-मरण चक्र के विराम का क्या कोई चिह्न नहीं दिखाई देगा ? मिथ्या की इस अशेष जादू परम्परा में जो सत्य है, जो स्वरूप है, वह क्या है ? अयि अधवे ! वह संगृहीत होगा या चिरकाल ही इसी प्रकार खोया रहेगा, अथवा परित्यक्त रहेगा ? ॥१०७॥

का शक्तिः शक्तिमान् कः कमिति तदुभयोर्मेलनात् सामरस्यं
का वाक् कश्चार्थ एवं स्वरतदितरयोर्मातृकाद्यर्णयोगात् ।
प्राणापानैकताने विरमति च जवे काऽजपा चाजपः को
ध्माते कः केति हौंसो धमति न शृणुयाद् वायसे को ध्वजस्थे ॥१०७॥

अन्वय—का शक्तिः (शक्ति है 'का') कः शक्तिमान् ('का' शक्तिमान् है) तदुभयोः (शक्ति-शक्तिमान् के) मेलनात् (मिला देने से) कम् इति सामरस्यम् ('समरस' की स्थिति में 'सुख' है); का वाक् ('का' वाक् है) कः च अर्थः (और 'कः' अर्थ है) एवं (इस प्रकार) स्वरतदितरयोः (स्वर-व्यञ्जन के) मातृकाद्यर्णयोगात् (मातृका के आदिवर्ण के योग से) कम् इति (सुख है); प्राणापानैकताने जवे विरमति (प्राणापान-व्यापार की एकतानता या समता होने पर और उन के वेग का विराम होने पर) 'का' अजपा (है) च 'कः' अजपः ('कः' अजप है) ध्वजस्थे धमति वायसे (ध्वजस्थित बोलते हुए वायस के) कः केति ध्माते ('का' 'कः' इस उच्चारण में) कः (कौन) 'हौंसः' (इस मन्त्र को) न शृणुयात् (नहीं सुनता है ?) ।

भाष्य—धूमावती के रथध्वज पर जो यह काक है वह क्या है, क्या यह सोच कर देखा है ? एक ओर विश्व जरामृत्यु का आह्वान, दूसरी ओर जरामृत्यु से अजर, अमर जो अनपाय स्थान है, उस से उत्तरण का आह्वान, ये दोनों ही वायस के क्रमशः 'कः क्व' एवं 'हौंसः' रुति (पुकार) में सूचित होते हैं, उन्हें क्या नहीं सुनोगे हैं—'कः क्व'—'कौन कहाँ है ? आओ आओ ! रथचक्र के नीचे गिरो और पिसो ! शूर्प में पड़ कर विभक्त, विक्षिप्त हो जाओ ! नियति अनतिक्रम्य है ! किन्तु वायस के मुख से केवल यह रव ही सुनेंगे ! 'हौंसः' रूपी अमृत अभय का आह्वान नहीं सुनेंगे क्या ?

इस अभय का आह्वान कैसे सुनेंगे ? शक्ति हुई 'का', शक्तिमान् 'कः' । यदि इन दोनों में भेददृष्टि कीजिए तो शक्ति चिच्छक्ति नहीं होती । अतः जड़यन्त्र में तुम गिरे और पिस गये । किन्तु शक्ति-शक्तिमान् को यदि मिला कर समरस बना लो तभी न 'कं' अर्थात् 'सुखं' होगा ।

यह प्रपञ्च वाक् और अर्थ की समष्टि है । मूलतः ये दोनों सम्पृक्त मिथुन हैं । किन्तु उन का वियोग विश्वव्यवहार में होते देखता हूँ । तभी तो निरर्थक वाक् आनर्थक्य; वैयर्थ्य इत्यादि के कारण अमृत, अभय का सन्धान नहीं देती ।

'का' है वाक् 'कः' है अर्थ। 'काकः' शब्द में स्वरव्यञ्जन मातृकावर्ण के आदि अकार एवं ककार वर्णद्वय युक्त हैं। यदि स्वर एवं व्यञ्जन को वियुक्त कर के रखिए तो मृत्यु है, और यदि युक्त रखिए तो अमृत है। योग में वही 'कं'—सुखं है। स्वर क्या है, मातृकावर्ण क्या है, यह सोच कर देखें। वायस के रव में इस का निर्देश है!

पुनश्च, प्राणी के प्राणापान-व्यापार की एकतानता समता की रक्षा करेंगे या नहीं करेंगे? क्या उक्त व्यापार के प्राकृत वेग के विरामस्थल में भी शान्त स्वस्थ रहेंगे? तदि समता रख सकते हैं, तो जरा दूर रहेगी, विरामस्थल में भी यदि 'उदासीन' ('मध्ये वामनमासीनं') रह सकें तो मृत्यु नहीं आती। का=अजपा; कः=जपः। जरा-मृत्यु का एवं उस के पार का मूल रहस्य काक पुकार कर सुना रहा है। 'हौंसः' महाबीज में ही जरामृत्युवारिणी यह त्रिविध 'भावना' निहित है। सः=शक्ति, ह=शक्तिमान्' ॐ=उभय का सामरस्य। ॐकार की आद्य मात्रा अकार है, हकार व्यञ्जनों का शेष वर्ण है, इन दोनों के समर्थ संयोग का सूचक है 'सः'। और हंस=स्वाभाविक प्राणनक्रिया। यह ॐकार के द्वारा जरामृत्यु-जयी होती है ॥१०८॥

(श्रीकाली तत्वम् श्लोक १०९-१२४)

वर्णानां विश्वचित्रे निलयविलययोः स्थानमेवेति कृष्णा
वर्णैर्वाऽवर्णनीया कतियतिततिभिर्वाऽप्यनिर्देश्यवर्णा।
वर्णानां वा पटेऽस्मिन् कलनफलनयोः स्थानमेवेत शुक्लो
योऽभास्यत्वेऽपि वर्णैः पटपटुफलने भासकः स्वप्रकाशः ॥१०९॥

अन्वय—विश्वचित्रे (निखिल विश्व के चित्रपट में) वर्णानां (समस्त वर्णों के) निलयविलययोः (निलय और विलय का) स्थानं (स्थानभूत) एव (ही) (वह श्री काली हैं) इति (इसलिए) कृष्णा (घोर कृष्णवर्ण वाली हैं) वा (अथवा) वर्णैः (वर्णों द्वारा वह अवर्णनीया वर्णनीय नहीं हैं) कति+यति+ततिभिः वाऽपि अनिर्देश्य-वर्णा (कति=कितने, यति=जितने, तति=उतने इत्यादि के द्वारा उनका निर्देश नहीं हो सकता, क्या इसलिए वे श्यामा हैं?) अस्मिन् पटे वा वर्णानां कलनफल-नयोः स्थानम् एव इति (अथवा इस पट पर वर्णों के कलन और फलन का स्थान होने के कारण क्या) शुक्लः स्वप्रकाशः यः अभास्यत्वे अपि वर्णैः पटपटुफलने भासकः (काली में शुक्ल स्वप्रकाश है, जो अभास्य होते हुए भी विश्वपट पर वर्णों द्वारा पटु रूप से फलन या चित्रविस्तार का भासक है)।

भाष्य—परिशेष मे, सोलह श्लोकों में श्रीश्रीकालिका के तत्त्व का उद्घा-

टन किया जाता है। श्रीश्रीकाली की मूर्ति घोर कृष्णवर्णा है। उनके इस काले रूप का क्या रहस्य हैं, पहले वह समझने का यत्न करते हैं।

इस निखिल विश्व के चित्रपट में जो असंख्य वर्ण हैं, उन सब वर्णों का निलय और विलय उन्हीं में हैं। वे स्वयं वर्णहीना हैं, अथच सभी वर्णों की प्रसूति हैं, और वर्ण समापिका, वर्ण की ग्रासिका हैं। इसलिए क्या वे काली हैं? वर्ण, पद, पादमात्रा, क्रम या अन्वय आदि के द्वारा वे वर्णनीया नहीं हैं क्या इस प्रकार अवर्णनीया होने के कारण ही वे काली हैं? विश्व की अनन्त तरङ्ग यह ऊर्मिराशि एक अगाध दुरवगाह महाअज्ञात में उठती है और गिर-गिर पड़ती है। अतः 'इतनी, जितनी, कितनी' कह कर कौन इयत्ता करेगा? इस प्रकार अनिर्देश्या हैं, इसीलिए क्या वे श्यामा हैं? फिर माँ के पदतल में देखता हूँ कि उज्ज्वल शुभ्र-रूप है। एक ओर काला और एक ओर धवल! वे विश्व चित्रपट के कलन-फलन में सभी वर्णो का आधार हैं, सर्ववर्णमय हैं, तो क्या वे धवल हैं? अब 'वर्ण' शब्द त्रिविध अर्थ में व्यवहृत होता है। पट या रंग colour, पद letter, जाति caste। 'वर्ण' शब्द का चाहे जो अर्थ हो, किसी भी अर्थ के द्वारा वे प्रकाशित नहीं होतीं। वे अपने आप में प्रकाशित है। स्वप्रकाशस्वरूपा हैं, और सभी कुछ की प्रकाशिका वही हैं। इस विश्वचित्र के फलन में उनके पटुत्व की ओर तुलना ही नहीं है॥१०९॥

ये ग्राह्याश्चित्रवर्णा ग्रहणपरिचया मानसे बिम्बितास्ते
छायाचित्राणि साक्षाद् दधति जहति काः शक्तयः के च कायाः।
गम्भीरागोचराम्भस्तिमिरनिबिड़ता याऽऽदिमा सा क्षपा चेत्
स्पन्दैस्तस्याः प्रवृत्तैः किरणविकिरणैर्भाति भासा स्वयाऽहः॥११०॥

अन्वय--ये ग्रहणपरिचयाः चित्रवर्णाः ग्राह्याः ते मानसी बिम्बताः (जो शब्द, स्पर्श आदि प्रत्यक्ष-ग्रहण-मात्र से हमारे परिचय में आते हैं, वे ग्राह्य चित्रवर्ण हमारे मन में बिम्बित होते हैं), काः शक्तयः छायाचित्राणि साक्षाद् दधति जहति च (कौन सी शक्ति इन छाया-चित्रों को साक्षात् धारण करती हैं, अर्थात् विजृम्भित करती हैं, और फिर उनका संवरण भी कर लेती हैं?) के च कायाः (यदि इन छायाचित्रों के पीछे कोई काया है, तो कौन सी है?) या आदिमा गम्भीर+अगोचर+अम्भः+तिमिर+निबिड़ता का क्षपा चेत् (गम्भीर, अगोचर पयोराशि में जो आदिम घनान्धकार है, वह रात्रि है) तस्याः स्पन्दैः प्रवृत्तैः किरणविकिरणैः स्वया भासा अहः भाति (उस रात्रि के स्पन्दों द्वारा प्रवृत्त किरण-विकिरणों से, उसकी अपनी ज्योति से, दिन भासित होता है)।

भाष्य—तत्पश्चात्, यह सब शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, कामना, वेदना प्रभृति छायाचित्र की भाँति आते और चले जाते हैं। क्या यह सब इस चलचित्र

में कभी अपना सत्य परिचय देते हैं? यदि यह सब वस्तुहीन इन्द्रजाल ही है, तब कौन सी जादूगरी शक्ति इन छवि और पट, दृश्य और द्रष्टा इत्यादि रूप में इस भ्रान्ति को विजृम्भित करके भीतर-बाहर का छायारूपी खेल दिखला रही है? यदि यह छाया वस्तुहीन अर्थात् अवास्तव नहीं है, यदि इसके पीछे सचमुच ही कोई काया है, तब वह काया कौन-सी है? कैसे वह अचिन्त्य शक्तिरूपिणी महाकाली ये सब छबियाँ आँकती हैं, पट के ऊपर सजा देती हैं और फिर हटा भी लेती हैं? वे यह रहस्यक्रीड़ा छिप कर खेलती हैं, अतः क्या वे काली हैं? श्रुति के नासदीय सूक्त और रात्रिसूक्त प्रभृति में जिस आदिम, अगोचर, गम्भीर अम्भोराशि का वर्णन है, जिसके वक्ष पर यह विश्वबोध बुद्बुद् की भाँति ऊर्मिभङ्गों में फूट उठता है, क्या वह गाढ़ तमिस्रा ही मेरी माँ का नित्य काला रात्रिरूप है? यदि वही है तो अपने उस अन्धकार में अपने स्पन्दन या आलोड़न से क्या वह फिर प्रकाश की लहरी प्रस्फुट नहीं कर लेतीं? इसीलिए वे स्वरूपतः आलोक में अथवा अंधकार में, सर्वत्र समान रूप से प्रकाशमयी हैं। उनकी आत्मज्योति अनिर्वाण है। वे पूर्ण दिवा या श्रुति की 'सकृत् दिवा' रूपिणी हैं। ११०॥

सत्यास्यं या पिधाय प्रलयघनरुचिश्चिद्घनेन्दुप्रकाशं
मायाघोरेन्द्रजालञ्च चिकुरपटलैस्तन्वती या कराली।
नानाऽसृग्बीजकूटं प्रकटितरसना जक्षती सृज्यमानं
तत्सत्यं बाधमुक्तं हृदयनभसि नः कुर्वती सा सुहासा ॥१११॥

अन्वय—प्रलयघनरुचिः (प्रलय मेघ की भाँति) या काली (जो मां काली) चिद्घनेन्दुप्रकाशं (चिद्घन में इन्दु के प्रकाश सदृश अपनी) सत्यास्यं (सत्यरूप मुख-छवि को) चिकुरपटलैः (एलायित केशपाश द्वारा) मायाघोरेन्द्रजालं (माया का घोर इन्द्रजाल) तन्वती (फैलाती रहती है), (और) प्रकटितरसना (अपनी लोलजिह्वा प्रकट करके) सृज्यमानं (बनते जा रहे) नानाऽसृग्बीजकूटं (रक्तबीज के कूट अथवा समुद्र को) जक्षती (ग्रस लेती हैं) नः (हमारे) हृदयनभसि (हृदय के आकाश में) सा (वह) (उदित होकर) तत् सत्यं (उस सत्य को) बाधमुक्तं (बाधारहित) कुर्वती (कर देती हैं)। (अतः वे) सुहासा (मुख पर मृदु-मृदु हास्य वाली हैं)।

भाष्य—माँ काली ने अपनी एलायित (बिखरी हुई) कुन्तलराशि दसों दिशाओं में सञ्चालित करके मानो माया के घोर इन्द्रजाल का विस्तार किया है और कराली का स्वाँग धरा है। उनके इस एलायित केशपाश का यथार्थ रहस्य क्या है? इसके द्वारा उन्होंने अपनी यथार्थ या वास्तविक मुखच्छवि को, उस परम सुन्दर आनन को ढक रखा है। गोपन कर रखा है। अतः उनका यथार्थ रूप सब की दृष्टि

के अन्तराल में ही रह जाता है। कराली की देखिए लोलजिह्वा! घन, कृष्ण केशपाश के साथ ही यह रक्त रसना मानो मेघ के पास बिजली जैसी शोभा पाती है! वे इन्द्रजाल से शत कोटि रक्तबीजों की स्वयं ही सृष्टि करती हैं। (जिस रक्तबीज का स्वरूप है दुष्पूर तृष्णा) जितना ही सोचा है कि शायद अब तृष्णा मिट जायगी, फिर देखता हूँ वह सिर उठाकर खड़ी हो रही है!—वही काली फिर कोप का छल करके परम करुणा से अपनी लोलजिह्वा द्वारा उस रक्तबीज के 'कूट' अथवा समूह अथवा 'पेड़' को ग्रस लेती है। नहीं तो किसी काल में इस नित्य तरुणायमान तृष्णा का तर्पण हो सकता था? इस प्रकार हमने समझा कि उनका एलाधित केशपाश इस घोर इन्द्रजाल के विस्तार की सूचना देता है। लोल रसना इस इन्द्रजाल द्वारा सृष्ट असंख्य कामनाओं के निधन या संहार को ही समझाती है। इस प्रकार उनकी सृष्टि और संहार का सकेंत, दोनों संकेत पकड़ पाते हैं, फिर भी उनका यथार्थ स्वरूप, वह परम रमणीय मुखच्छवि हमारी दृष्टि के अन्तराल में ही रह जाती है। वह मुख कैसा है? काला या धौला? हम लोग नित्य ही इस प्रकार के द्वन्द्व-संशय की दोला में झूल रहे हैं। यह धन्धा, यह द्वन्द्व, यह संशय, वे स्वयं ही हमारे मोहमुक्त हृदयाकाश में पूर्णरूप से उदित होकर दूर कर देंगी। इसीलिए उनके मुख पर यह मृदु-मृदु हास्य है! ॥१११॥

नैष्पन्द्ये स्पन्द आद्यश्चिदमलगगनध्वान्तघोराम्बुदः किं
शश्वन्मौनं विलोड्य ध्वनिशतसततध्मातनादस्ततः किम्।
ध्वान्तध्वंसाय सान्द्रा स्फुरति च परमा चिन्नभश्चन्द्रिका किं
मान्द्यं जीमूतमन्द्रे भजति भवमृतेस्तुर्यनादस्ततः किम्॥११२॥

अन्वय—चिदमलगगनध्वान्तघोराम्बुदः (निर्मल आकाश में घोर काला मेघ) नैष्पन्द्ये (स्पन्दहीन स्वरूप के बीच) आद्यः स्पन्दः किम् (क्या आदिम स्पन्द है!) ततः (और वहाँ) शश्वन्मौनं (शाश्वत मौन को) विलोड्य (विलोडित कर के) किं (क्या) ध्वनिशतसततध्मातनादः (सैंकड़ों ध्वनियों से निरन्तर ध्मात त्रिस्तृत नाद के रूप में प्रकट है?) सान्द्रा (सघन) परमा (परम) चिन्नभश्चन्द्रिका (चिदाकाश की चन्द्रिका के रूप में) ध्वान्तध्वंसाय (अन्धकार के नाश के लिए) किं (क्या) स्फुरति (स्फुरित होती है) ततः किं जीमूतमन्द्रे मान्द्यं भजति भवमृते तुर्य-नादः? (तब फिर मेघमन्द्र के मन्द हो जाने पर भव अर्थात् संसरण की मृत्यु अर्थात् नाश हो जाने पर तुरीय नाद क्या नहीं रहता?)।

भाष्य—निर्मल चिदाकाश में जो काली घनघटा का आविर्भाव है, यह क्या उस स्पन्दहीन स्वरूप के बीच आदिम स्पन्दन के घनीभाव को सूचित करता है? जो पूर्ण हैं, उन में कैसे कामना का उदय होता है? जो निःस्पन्द

हैं, उनमें कैसे स्पन्द का आविर्भाव होता है ? क्या यह पहेली चिरकाल से दुर्बोध्य होने के कारण ही वे काली हैं ? सृष्टि के मूल के जितने तत्त्व हैं, जितने बीज हैं, सभी का वर्षण उन से है, क्या इसीलिए उस स्पन्द ने महावृष या वर्षणकारी मेघ का रूप धारण किया है ? तभी क्या हमारी उस माँ ने घोर कृष्ण अम्बुद से अपनी प्रतिमा को गढ़ा है ? और किसी शाश्वत मौन का आलोड़न कर के वे महानाद के रूप में प्रकट हुई हैं ? उस नाद ने शत कोटि ऊर्मियों का विस्तार कर वाङ्मय विश्व-सृष्टि रचना की है और अन्त में संवरण नाद में सब कुछ का संवरण तथा लय किया है । क्या वे इस काले महामेघ की घटा अंत में विलीन कर परम चिरपूर्ण चिद्गगन चन्द्रिका के रूप में प्रकाश नहीं पाती हैं ? उसी प्रकार जो कभी गाढ़, कभी घोर मेघचन्द्र है, क्या उसे मन्दीभूत कर अन्त में अपने विश्वोत्तर अभय धाम में वही तूर्यनाद या तुरीय नाद नहीं सुनाती हैं ?—उस तुरीय नाद में स्थूल, सूक्ष्म, कारण, सब कुछ का, ही अवसान होता है, एवं महाभीतिकर पुनःपुनः 'भव' का या 'संसरण' का भी 'मरण' हो जाता है, अर्थात् गतागतिचक्र रुक जाता है । उनके काले रूप के पीछे रहता है परम आलोक, उनके इस महानाद के विभिन्न गर्जन-आलोड़न के पीछे भी है वही परम नाद या तुरीय शान्त प्रपंचोपशम नाद ॥११२॥

क्षिप्येर्विश्वं विमृश्य त्वदितरदिव यत् स्थापयेर्यत् स्वभित्तौ
तच्च स्वात्मेति विद्याः प्रमिति पदमितं वस्तु संख्यापयेर्यत् ।
स्वात्मैक्यं च प्रमयादिकमिव गमयेर्दर्पणास्यं स्वबिम्बं
सातुं स्पन्दं नदेस्त्वं तव कलनकृतौ पञ्चधा नित्यकालि ॥११३॥

अन्वय—हे नित्यकालि, त्वं तव कलनकृतौ पञ्चधा (हे नित्यकालि ! तुम अपने कलन-व्यापार में पञ्चधा हो), यत् विश्वं त्वत् इतरत् इव विमृश्य क्षिप्येः, स्वभित्तौ यत् स्थापयेः (जिस विश्व को अपने से भिन्नवत् विमर्श कर के उछालती हो और स्वभित्ति में स्थापित भी रखती हो—यह क्षेपण है), तत् च 'स्वात्मा' इति विद्याः (उसे 'स्वात्मा' ऐसा समझती हो—यह ज्ञान है) यत् प्रमितिपदमितं वस्तु संख्यापयेः (जिस विश्व को 'प्रमिति' पदमित अर्थात् केवलमात्र बोधभास्य वस्तु के रूप में संख्यान करती हो—यह संख्यान हुआ), स्वात्म+ऐक्यं च प्रमेय+आदिकमिव दर्पणास्यं स्वबिम्बं गमयेः (दर्पणस्थित स्वबिम्ब को प्रमेयादि की भाँति स्वात्मैक्य को प्राप्त कराती हो—यह गमन है) स्पन्दं सातुं नदेः (स्पन्द का अवस्थान करने के लिए तुम नाद करती हो—यह नाद है) ।

भाष्य—हे मातः ! नित्यकाली ! तुम परम तत्व के साथ समरसा, अभिन्ना शक्तिस्वरूपिणी हो । तुम्हारे सिवा अन्य क्या था या है जिसे इस विश्व कन्दुक रूप में उछाल-उछाल कर यह खेल रही हो ? 'मानो वह और कुछ है तुम नहीं हो'

ऐसा विचार तुम्हें क्यों होता है ? इस प्रकार जिसे उछाल कर फेंक देती हो उसे क्या बिल्कुल ही वस्तुहीन, सर्वस्वहीन बना कर अपने अङ्क से नितान्त दूर फेंक देती हो ? उसे क्या अपनी भित्ति में स्थापन कर के नहीं रखती हो ? मानो आसमान में गुड्डी उड़ा रही हो, किन्तु डोर रखती हो अपने हाथ में। उन लाख-लाख गुड्डियों में से यदि कोई एक कट जाय तो वह भी तो तुम्हारी ही गोद में लौट आती है। जो उड़ता है वह भले ही आत्मविस्मृत हो, वह नहीं जानता कौन सूत्रधर उसे उड़ा रहा है, किन्तु तुम तो उसे नहीं भूलती हो ! बोधरूप दर्पण में जो कुछ प्रस्फुटित होता है, उसे तुम्हीं तो रूप, मान इत्यादि दिया करती हो। जब जब दर्पण को तोड़ कर प्रतिबिम्ब को बिम्ब में मिला लेती हो, तब फिर तो वही एक हो। सब कुछ को अद्वयस्वरूप में खींच लोगी इसीलिए वहि स्पन्द का संवरण नाद में अवसान किया करती हो। हे नित्यकाली ! क्षेपण, ज्ञान, संख्यान, गमन और नाद, इन पाँच रूपों में तुम ने अपना कलन प्रपञ्चित किया है ॥११३॥

व्यस्तं खड्गेन वस्तु क्षिपसि यदसकृत् स्वात्मनो देशकाल-
सम्बन्धापेक्षतत्त्वं जनिमृतिभयदं हंसि तच्चापि हेयम्।
व्यस्तं मुण्डं कराब्जे कलयसि च गले मुण्डमालां समस्तां
दृग्भासा वेत्सि दृश्यं गिरसि रसनया यद् बहिः स्फारनादे ॥११४॥

अन्वय--व्यस्तं वस्तु यत् असकृत् खड्गेन क्षिपसि (हे माता; तुम अपने खड्ग से 'व्यस्त' अर्थात् परिच्छिन्न वस्तु को बार-बार जो खण्ड-खण्ड कर डालती हो) तत् च अपि स्वात्मनः हेयं जनिमृतिभयदं देशकालसम्बन्धापेक्षतत्वं हंसि (वह भी तुम्हारा अपना ही रूप है, जो हेय है, जन्म-मृत्यु-भयप्रद है, देशकाल-सम्बन्ध क अपेक्षी तत्व है, उसे भी तुम छिन्न करती हो), कराब्जे व्यस्तं मुण्डं गले च समस्तां मुण्डमालां कलयसि (कर-कमल में एक व्यस्त मुण्ड अर्थात् छिन्न मुण्ड और गले में समस्ता मुण्डमाला धारण करती हो) दृश्यं दृग्भासा वेत्सि (दृश्य को तुम अपनी नेत्रज्योति से जानती हो) यद् बहिः स्फारनादे रसनया गिरसि (जो बाह्य है, उसे स्फारनाद में रसना से निगल जाती हो)।

भाष्य—माँ ! तुम्हारे खड्ग का ही क्या अपूर्व रहस्य है ! तुम भूमारूपिणी अखण्ड सामग्री हो; अथच अपने खड्ग से उसे व्यस्त, परिच्छिन्न वस्तुरूप में बार-बार खण्ड करके फेंक देती हो। स्वयं 'दो बनूंगी, बहु बनूंगी, अगणित बनूंगी' क्या इसी साध से तुमने असि धारण किया है ? देश-काल, कार्य-कारण इत्यादि नाना सम्बन्धों का जाल ऊर्णनाभ (मकड़ी) की भाँति बुन कर क्या व्यस्त, खण्ड वस्तुओं को अपने बीच गूँथ लेती हो ? क्या अपूर्व उपादेय तुम्हारा यह सब विरचन है ? सब तो तुममय है, तुम्हीं तो सब हो ! अथच भ्रान्ति-रूप में सब को भुलाकर अपने को जन्म, मृत्यु,

दुःख, पाश महाबल दैत्यों के रूप में ही दिखलाती हो। मातृज्ञान में तुम उपादेय हो, फिर भी भ्रान्तिज्ञान में मानो हेय बन गई हो ! फिर दयारूप में इस हेयरूप असुर को तुमने असि द्वारा छिन्न किया है ! तुम्हारी इस लीला का पार पाना कठिन है। और तुम्हारे हाथ में देखते हैं एक छिन्न मुण्ड, इस ओर गले में देखते हैं, बहुत से छिन्न मुण्डों के एकत्र समावेश से ग्रथित एक अपरूप मुण्डमाला। तुम्हारे करकमल में एक व्यस्त मुण्ड है, और गले में समस्त मुण्डों की माला है। इस प्रकार व्यस्त और समस्त, को तुम धारण किए हुए हो। तुम्हारे एक हाथ में वर, दूसरे हाथ में अभय है। यह व्यस्त-समस्त की जो सन्धि या साम्यस्थल है, क्या वही वर है ? व्बस्त-समस्त की अतीत भूमि ही क्या अभय है ? इसीलिए क्या श्रुति में सुनते हैं कि इस सन्धि अथबा मिथुन में सब कुछ समृद्धि और तृप्ति, अभ्युदय या वरलाभ है, उसके भी पार उस रसतम में परम अभय, चरम शान्ति है ? हे माँ ! इसीलिए अभ्युदय और निःश्रेयस्, भोग और मोक्ष का अपने दोनों हाथों से वितरण करती हो। यह सभी रहस्य अपनी नेत्रज्योति से देखा करती हो। दूसरा और कौन जानता है ? तुम्हारी जिह्वा बाह्यवत् इस अनात्मा को आत्मसात् करती है, और अन्त में स्फारनाद में प्रपञ्च का लय हो जाता है ॥११४॥

> **स्वाधिष्ठानप्रकाशो विमृशति च कथं स्वामनन्यां स्फुरत्ता-**
> **मीशं मायां सदाख्यं परमशिबपदे कञ्चुकांश्चापि कस्मात् ।**
> **नाहं नेदं न चोभे न च भवति गिरः प्रत्ययश्चापि यत्र**
> **तत्र प्रत्येति काली विलसति च मुदा नित्यकैवल्यतत्त्वा ॥११५॥**

अन्वय—स्वाधिष्ठानप्रकाशः कथं स्वाम् अनन्यां स्फुरत्तां विमृशति (तुम्हारा स्वाधिष्ठान-प्रकाशस्वरूप अपनी अनन्या अर्थात् अभिन्ना स्फूरत्ता का 'विमर्श' कैसे करता है, अर्थात् 'तुम'–'मैं', 'दृश्य'–'द्रष्टा' इस प्रकार की भेदात्मक स्फूर्ति कैसे करता है ?) परमशिवपदे (हे परम शिव-पदस्वरूपा) सत्+आख्यम् ईशं (सदाशिव, ईश्वर) मायां (माया) कञ्चुकान् (कञ्चुक अर्थात् कोश) (इन सबको) च अपि (भी) कस्मात् (कैसे) (प्रसुत करती हो ?)। यत्र न अहं न इदं न च उभे न च गिरः प्रत्ययः च अपि भवति (जहाँ न 'मैं', न 'यह', न ये दोनों रहते हैं, और न ही वाणी का प्रत्यय होता है) तत्र काली प्रत्येति (वहाँ काली प्रत्यय करती हैं) नित्यकैवल्यरूपा मुद्रा विलसति च (और नित्य कैवल्यस्वरूपा सामोद विलास भी करती हैं)।

भाष्य—पुनः प्रश्न उठता है 'माँ !' तुमने अपने स्वाधिष्ठान प्रकाश-स्वरूप में किस प्रकार 'तुम-मैं' 'दृश्य-द्रष्टा' 'यह-वह' इन सब विचित्र स्फूर्त्तियों के रूप प्रस्फुटित कर रखे हैं !' किन्तु जहाँ, जो कुछ स्फूर्ति या प्रकाश है, वह सभी तो

तुम्हारी ही स्वतःस्फूर्त्ति है, तुम्हीं तो एकमात्र प्रकाश हो ! तुम्हीं तो स्वयं परम-शिवपद हो, किन्तु किस प्रकार उससे सदाशिव, ईश्वर, प्रकृति, माया प्रभृति तत्त्वों की, कञ्चुक 'कोश' की तुम प्रसूति बनी हो ? सुनते हैं तुम नियत कैवल्यारूपा हो। अपने में भेद का कोई बीज नहीं रखती हो ! क्या अपने संगोपन में 'मैं—तुम' रूपी भेद का बीज अपने में ही रख लेती हो ? तुम्हारे अगाध रहस्य में किसी वाच्य-वाचक को गति या अवकाश नहीं है। तब भी हे काली ! तुम अपने कलन में, प्रत्यय या बोधरूप में तत्त्व, वस्तु, सम्बन्ध के वेश में, अपने को दिखलाती हो, प्रकाशित करती हो। तुम चिति हो कर भी विश्व-भुवन की पर चिति हो। और अपने कैवल्यस्वरूप में साक्षात् आनन्दरूपिणी हो शिवादि तत्त्व को लेकर नियत आनन्द-उल्लास किया करती हो ॥११५॥

चैतन्ये निष्क्रियेऽसौ शवशिवहृदि या प्रैधते शक्तिरूपा
सा शक्तिश्चेतयित्री चितिरिति गदिता तामृते चिन्मृतेव।
यास्ते तिस्रो लहर्यः कृतिरतिमतयः सच्चिदानन्दसिन्धौ
ताभिः सद् यत्प्रमेयं प्रमितिरिति चिदानन्द उल्लासराशिः ॥११६॥

अन्वय—चैतन्ये निष्क्रिये शवशिवहृदि या असौ शक्तिरूपा प्रैधते (चैतन्य की निष्क्रिय अवस्था में शव-शिव के हृदय में जो शक्ति प्रकृष्टरूप में वृद्धि को प्राप्त होती है), सा शक्तिः चेतयित्री चितिः इति गदिता (वह शक्ति चेतना देने वाली है, अतः 'चिति' कहलाती है) ताम् ऋते चित् मृता इव (उस शक्ति के बिना चित् मृता जैसी रहती है, अर्थात् चिति नहीं बनती है) सच्चिदानन्दसिन्धौ याः कृतिरतिमतयः ते तिस्रो लहर्यः (सच्चिदानन्द सिन्धु में कृति, रति, मति रूप जो तुम्हारी तीन लहरियाँ हैं) ताभिः सत् प्रमेयं ('सत्' उनसे प्रमेय बनता है) चित् प्रमितिः ('चित्' प्रमिति या ज्ञान बनती है) आनन्दः उल्लासराशिः (और आनन्द उल्लासराशि बनता है)। (चतुर्थ चरण में 'यत्' पाद-पूरक-मात्र है)।

भाष्य—नित्यकैवल्य में भी हम तुम्हारा अपरूप विचित्र विलास देखते हैं। तुम्हारे पदतल में शव-शिव हैं। वह क्या केवल निष्क्रिय चैतन्य, निरञ्जन अधिष्ठान-मात्र हैं ? किसी-किसी मूर्ति में देखा जाता है, शिव बाहु के ऊपर भार देकर सिर को थोड़ा-सा उठाए हुए हैं। क्या इस प्रकार वे वक्रभङ्गी में सिर उठा कर तुम्हारी लीला के 'साक्षी' या द्रष्टा भी बनते हैं ? स्वरूप में रमणेच्छा के द्वारा तुम दिखा देती हो कि तुम्हारे बिना चित् केवल चित् ही रहता है, चिति नहीं बनता। तुम्हारे बिना वह मूक, स्तब्ध आनन्द मात्र है, वहाँ उल्लास-विलास नहीं है। चैतन्य के अधिष्ठान में शक्तिरूपा तुम महोत्साह से नाचती चलती हो। कौन कहता है कि वह शक्ति जड़, केवल दृश्य या भोग्या है ? वह चेतन की भी

चेतयित्री या चैतन्यसम्पादनकारिणी है। वह चितिरूपा जगद्व्यापिनी 'चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्' हैं। चिति के बिना चित् शवशिव है, मानो मुर्दे की भाँति है। तुम ही सच्चिदानन्द समुद्र में तीन लहरियाँ उठाया करती हो यथा ज्ञान, इच्छा और क्रिया। फलस्वरूप सत् ने ज्ञेय के आकार में सत्य रूप धारण किया। चित् की ज्ञान-ज्ञातृरूप में चेतना हुई, और आनन्द तो अनन्त उल्लासराशिरूप में आनन्दी हुआ। इस रूप में सच्चिदानन्द का आत्मप्रकाश हुआ है ॥११६॥

आनन्दव्योमसान्द्रा त्वमसि शशिकला निष्कला या तुरीया
साऽऽद्या नैष्कल्यनित्या कलयसि च कलां शक्तितत्त्वादिरूपाम्।
उन्मेषे पूर्णिमोमा ध्रुवनिजनिलयेऽव्याकृताऽमास्यमेया
व्यक्तौ कायादिमुख्याः कतिविधकलनास्ते कला अम्ब कालि ॥११७॥

अन्वय—अम्ब कालि (हे माता काली) त्वम् आनन्दव्योमसान्द्रा शशिकला असि (तुम आनन्द-व्योम की घनीभूत अवस्था चन्द्रकला हो) या तुरीया निष्कला सा आद्या (जो तुरीया और निष्कला है, वह फिर आद्या भी है) नैष्कल्यनित्या शक्तितत्त्वादिरूपां कलां च कलयसि (नित्यनिष्कला हो, फिर भी शक्तितत्त्वादिरूपा कला का कलन करती हो) उन्मेषे पूर्णिमा उमा (कला का उन्मेष होने पर तुम पूर्णिमा उमा हो) ध्रुवनिजनिलये अव्याकृता (अपने ध्रुव आलय में तुम अव्याकृता अमा हो) व्यक्तौ अमेया असि (व्यक्त अर्थात् व्याकृति में तुम अमेया हो) कामादि-मुख्याः कतिविधकलनाः ते कलाः (तुम्हारी कलाएँ कामादि रूप में न जाने कितने प्रकार की हैं)।

भाष्य—सर्वश्रुति प्रसिद्ध जो आनन्दरूप आकाश है, जो सर्वद्वन्द्व का उप-रमस्थान है, जिसका योग-वियोग नहीं होता, जो पूर्ण और परम है, उसी आदि आनन्दव्योम में तुम कैसे अप्राकृत सान्द्र मनोरम शशिकलारूप में उदित हुई? किस प्रकार तुमने स्वरूपतः नाद-बिन्दु-कलातीत-निष्कला तुरीया परास्वरूपिणी होकर भी शक्तिकला का आकार धारण किया, ललाट में यह शशिकला धारण किया? जो पूर्ण और परम है, उसके सामरस्य में अच्युत रहकर भी तुम शिव-शक्ति-तत्त्वादि कला में कैसे दिखाई दीं? इस इन्दुकला के प्रकाश में क्या तुम्हारी परम अचिन्त्य इच्छा का ही आविर्भाव सूचित होता है? इसका पूर्णोदय होने पर, अर्थात् कला की सम्पूर्णता होने पर तुम हो पौर्णमासी-रूपिणी उमा, श्रीविद्या या लक्ष्मीस्वरूपिणी। अपने गोपन, ध्रुव आलय में तुम नित्य अमारूपिणी हो। जहाँ समुदित समस्त कलानिचय विलय को प्राप्त होता है, वहाँ भी तुम क्या ललाट में शशिकला धारण करती हो? एक ओर उमा दूसरी ओर

अमा, यह दोनों हुई परम की सीमा । इन दो सीमाओं के बीच 'अ उ म्' मात्रात्रय से समुदित कामादिकला में तुम्हारे कितने ही असंख्य कलन कितने ही विचित्र परिणाम हैं, कौन उनका संख्यान या गणन करेगा ? ।।११७।।

ज्योतिर्व्योम्नि स्वकीये किरसि निजकणान् भास्करा ये महान्तो
नादज्योतिर्विलोभ्याकलयसि लहरीः केन्द्रसान्द्रांश्च बिन्दून् ।
धाराधारः स कालः क्रमलवविरही बैन्दवो यः क्रमेत
धत्से चोभौ स्वरूपेप्यनवरगहने काल एवासि काली ।।११८।।

अन्वय—स्वकीये ज्योतिर्व्योम्नि ये महान्तः भास्कराः [तान्] निजकणान् किरसि (अपने ज्योतिर्मय आकाश में तुम अपने कणों को फैलाती हो, जो कि महान् भास्कर के रूप में प्रकाशित हो रहे हैं) नादज्योतिः विलोभ्य लहरीः केन्द्र-सान्द्रान् बिन्दून् च आकलयसि (नादज्योति को स्पदिंत करके तुम नादलहरियों को और केन्द्र में घनीभूत बिन्दुओं को सृष्ट करती हो) स कालः क्रमलवविरही धाराऽऽधारः (वह काल क्रमशून्य धारा का आधार-रूप है) यः बैन्दवः क्रमेत (वही काल बैन्दव रूप में क्रमिक बनता है) उभौ च अनवरगहने अपि स्वरूपे धत्से (अपने श्रेष्ठ और गहन स्वरूप में तुम काल के इन दोनों रूपों को धारण करती हो) काली काल एव असि (तुम काल-स्वरूपा काली हो) ।

भाष्य—पूर्वश्लोक में हमने आनन्दव्योम या आनन्दरूप आकाश की बात कही है। वह क्या केवल आनन्दव्योम है ? वह तो सभी ज्योतियों की ज्योति है। परम आश्चर्यमय ज्योतिर्व्योम में तुम्हारी ज्योति मानो सहस्र कणों में विच्छुरित होकर आन्तर और बहिर्विश्व में कितने ही महान् भास्वर रूप में प्रकाश पा रही है ! अपने आनन्दज्योति-रूप इस व्योम को स्पन्दित कर के तुम बनती हो 'नाद' की लहरी। नाद है असीम और विस्तृत। उस असीम वितत नाद में परम घनी-भाव की सृष्टि करके, अर्थात् उस विस्तृत नाद को उसकी चरम सूक्ष्म अवस्था में ले जा कर सङ्कुचित कर तुम 'बिन्दुरूप' धारण करती हो ! नाद एवं बिन्दु में तब तुम पूर्ण होती हो। और इन दोनों पूर्णों के बीच तुम कला-कला में लीलायित होती हो, निज को विवर्तित करती हो। नाद-बिन्दु की लहरें कोनों की ओर धावमान हैं। अर्थात् एक बार विस्तार—फिर संकोच एवं एक बार संकोच फिर विस्तार। इस प्रकार से एक बार विस्तार अपने को सङ्कुचित करना चाहता है, फिर संकोच अपने को विस्तृत करने का प्रयास करता है। यह जो परस्पर के बीच गति या धावन है—यही जगत् है। धावन में भी तुम्हारी दो धाराएँ हैं, नादरूप में नित्य महाकाल, धारा के आधार-रूप में वर्तमान। वह अक्रम या क्रमशून्य अर्थात् sucession या पारम्पर्य तब भी नहीं आया है।

भग्नांशविहीन अर्थात् अखण्ड है। और बैन्दव रूप में तुम बिन्दु बनती हो। क्रम एवं अंशरूप धारण करती हो, पहले के प्रतीक के रूप में देखता हूँ तुम्हारे पदतल में स्वयं महाकाल को और द्वितीयतः मुण्डमाला-मेखला में देखता हूँ तुम्हारी बैन्दवी मूर्ति को। इसीलिए तुम कालब्रह्म काली हो ॥११८॥

उद्गीर्णं किञ्च जिह्वा त्वरयति कवलं केवलं व्याकृतं किं
साध्वी वाऽसृक्स्फुरन्ती दशनवररुचिश्चर्वणे व्याहृतानाम्।
अग्नीषोमार्कक्लृप्ता किमपि तव दृशो व्यावृतव्यञ्जनाय
निर्व्यापारैकतत्त्वा कृतिहृतिभिर्व्यापृता व्यापिताभि ॥११९॥

अन्वय—किञ्च, उद्गीर्णं व्याकृतं केवलं कवलं (कर्तुं) किं जिह्वा त्वरयति (तुमसे जो कुछ व्याकृत हुआ है, अर्थात् तुमने जो कुछ उद्गीर्ण किया है या उगल दिया है, उसी को कवल बनाने के लिए क्या तुम्हारी जिह्वा त्वरा से प्रत्यनशील है!) साध्वी असृक्स्फुरन्ती दशनवररुचिः वा व्याहृतानां (चर्वितानां) चर्वणे (त्वरयति) (अथवा रक्त से रञ्जित तुम्हारी सुन्दर दन्तकान्ति क्या व्याहृत या सृष्ट-वस्तु के ही निगिरण अथवा चर्वितवस्तु के ही चर्वण में व्यापृत है?) अग्नीषोमार्कक्लृप्ताः तव दृशः अपि किं व्यावृत-व्यञ्जनाय (अग्नि, सोम, अर्क रूप तुम्हारे तीन नेत्र क्या 'व्यावृत' अर्थात् जो विशेष रूप से आवृत है, उसके व्यंजन के लिए हैं?) निर्व्यापारैकतत्त्वा व्यापिताभिः कृतिवृतिहृतिभिः कथं व्यापृता (तुम निर्व्यापारैकतत्त्वा हो, अर्थात् पूर्णब्रह्मस्वरूपा हो, फिर भी व्यापक कृति, वृति, हृति अर्थात् सृष्टि, स्थिति लय से क्यों व्यापृत हो?)।

भाष्य—तुम अव्याकृत से कुछ व्याकृत होता है, अर्थात् तुमने जो कुछ उद्गीर्ण कर दिया है, अथवा बाहर फेंक दिया है, उस सब-कुछ को फिर अपने कवल में लाने के लिए ही क्या तुम्हारी रसना व्यापृत बनी हुई है? उसे क्या और कोई काम तुमने नहीं दिया है? तुम्हारी रक्तरागरंजित दशनवररुचि, दन्त-पङ्क्ति क्या केवल व्याहृत या सृष्ट वस्तुओं के ही व्याहरण में या चर्वित के ही चर्वण में निरत है? तुम्हारी आदि व्याहृति क्या है—जिसे तीन या सात या अनन्त व्याहृतियों के रूप में तुमने प्रकाशित किया है? व्याहृति की ग्रन्थि-सन्धि सब कुछ तुम्हारे चर्वण में समीकृत है। तब क्या तुम्हारे दशन की रक्तच्छटा, जिस व्याहृति होम में सब वैगुण्यों का समाधान होता है, उस व्याहृति-होम की शिखा है? फिर देखता हूँ तुम त्रिनयनी हो—अर्क, अग्नि, सोम—ये तीन नयन क्या तुम्हारे रसना-स्रुवा से चलने वाले नित्यहोम के तीन होता हैं। क्या वे केवल इसी कर्म में व्रती है? क्या सृष्टि स्थिति-लय; नाभि-अर-नेमि, तुम्हारे इस महाकर्म के संकेत हैं?

तुम तो निर्व्यापारैकतत्त्वा, पूर्णब्रह्मस्वरूपा हो, तब अनन्त व्यापार में व्यापृत क्यों रहती हो ? किस प्रयोजन से इतनी व्याकृति, व्याहृति, व्यावृति, की घटा है ? क्या यह सब स्वभाववशतः ही होता चलता है ? स्वभाववादी तो यह कहते हैं कि सब कुछ अपने आप प्रकृति के कारण होता चलता है, किन्तु हम तो जानते हैं कि तुम जब तक निमित्त न बनो तब तक स्वभाव भी स्व+अभाव बन जाता है। अर्थात् उसका भी अस्तित्व नही रहता । अतएव तुम्हीं सब कुछ का मूल हो ।।११८।।

जिह्वायां वैखरी वाग् दति किमपि वसेन्मध्यमा स्फोटमध्या
पश्यन्तीं च त्रयीं किं व्यवसितमनुदृग्-ज्योतिषा स्वेन पश्येः ।
सौषुम्णं मध्यगा त्वं प्रविशसि कुहरं न्यस्यसि न्यस्तवर्णान्
मात्रा वाऽप्यर्धमात्राऽप्यमितपररवा नीरवा त्वं परा वाक् ।।१२०।।

अन्वय—जिह्वायां वैखरी वाक् (जिह्वा में वैखरी वाक्) स्फोटमध्या किमपि दति वसेत् (और स्फोटमध्या मध्यमा क्या तुम्हारी दन्तपंक्ति में रहती है ?) पश्यन्तीं च त्रयीं किं स्वेन व्यवसितमनुदृग्-ज्योतिषा पश्येः (त्रयी या वेदरूपा पश्यन्ती को क्या तुम निश्चित मन्त्र और मन्त्रार्थ के रूप में अपनी नयनज्योति से देखती हो ?) मध्यमा त्वं सौषुम्णं कुहरं प्रविशसि (मध्यवर्तिनी हो कर तुम सुषुम्णा कुहर में प्रवेश करती हो) व्यस्तवर्णान् न्यस्यसि (यथास्थान वर्णो का न्यास करती हो) मात्रा वाऽपि अर्धमात्राऽपि अमितपररवा त्वं नीरवा परा वाक् (मात्रा, अर्धमात्रा, पूर्णमात्रा और अमात्रा इन चार चरणों द्वारा चलने वाली हे परा वाक् ! तुम अमित-पर-रवा अर्थात् परात्परा और नीरवा हो) ।

भाष्य—जब वाक् की दृष्टि से देखता हूँ, तब सोचता हूँ कि तुम ने अपनी व्यक्त रसना में क्या वैखरी वाक् को प्रकाशित कर रखा है ? [वैखरी वाक् है स्थूल स्फुटवाणी या व्यक्त शब्द । वाचिक, उपांशु और मानस रूप त्रिविध व्यवहार भी वैखरी के अन्तर्गत हैं ।] क्या तुमने अपनी ईषत् विस्फुट दशनपङ्क्ति पर उसी मध्यमा वाक् को प्रकाशित किया है जो मध्यमा बाहर की स्फुट वाणी रूप में नित्य स्फोट के उतरण का सेतुस्वरूप है ? अपौरुषेय त्रयी या वेदरूपा पश्यन्ती वाक् को क्या तुम साक्षादनुभवगोचर मन्त्र एवं मन्त्रार्थ के रूप में अपनी अकृपण, अकुण्ठित नयनज्योति से प्रकाशित किए हुए हो ! तुम वैखरी रूप का त्याग करते हुये मातृकारूपिणी प्रथम निगूढ़ा मध्यमा तनु धारण कर सुषुम्णा कुहर में प्रविष्ट हुई । उस के फलस्वरूप चक्र-चक्र में, कमल-कमल में, प्रत्येक का वर्णमय मन्त्रविन्यास करती चली गई ! अन्त में महाकुण्डलिनीस्वरूपा तुम, परतत्त्व-सामरस्य के पथ पर अग्रसर

हो कर क्या अपने मुदित यन्त्र-तन्त्र को प्रस्फुटित, 'पश्यत्' या प्रकट रूप में प्रकाशित कर देती हो ? तुम कौन से अभिसार में चली हो ! क्या परतत्व या परा वाक् की ओर नहीं चलती हो ? क्या स्वरूपतः परात्परा या परा के भी पार नहीं हो ? तब भी हे परा वाक् ! तुम क्यों मात्रा, अर्धमात्रा, पूर्णमात्रा, एवं अमात्रा के चतुष्पाद में नियत ही चल रही हो ? क्या तुम नाद, बिन्दु, ज्योति और आनन्द की विच्छिन्न धारा को, मुक्त वेणी को, उस परम संगम से युक्त करती हो ? क्या तभी तुम्हारा यह अशेष अभिसार है ? ॥१२०॥

वाग्दोहं धोक्षि तारं कलयसि च मनून् हुंफडादीन् समर्थान्
वौषट् स्वाहा स्वधैवं कतिविधमनवस्ते च विद्याः कियत्यः ।
लक्ष्मीर्वाणी च काली निजनिजमनुगाः स्वस्ववर्णैः प्रकाश्याः
स्वैः स्वैस्तन्त्रैः प्रकार्यास्त्वमसि निजकृतौ कालिकाद्या स्वतन्त्रा ॥१२१॥

अन्वय—वाग्दोहं तारं धोक्षि (वाग्दोह-रूप ॐकार का तुम दोहन करती हो) हुंफडादीन् समर्थान् च कलयसि ('हूँ फट्' इत्यादि समर्थ मन्त्रों का कलन करती हो), वौषट् स्वाहा स्वधा एवं ते कतिविधमनवः विद्याः च कियत्यः ('वौषट्' 'स्वाहा' 'स्वधा' इत्यादि कितने ही प्रकार के तुम्हारे मन्त्र हैं, और कितनी ही विद्याएं हैं) लक्ष्मीः वाणी काली च निजनिजमनुगाः स्वस्ववर्णैः प्रकाश्याः (लक्ष्मी, वाणी और काली अपने-अपने मन्त्रों द्वारा गम्य हैं और अपने-अपने वर्णो द्वारा प्रकाश्य हैं) स्वैः स्वैः तन्त्रैः प्रकार्याः (वे तीनों देवियाँ अपने-अपने तन्त्र द्वारा आकारित हैं) त्वं निजकृतौ आद्या स्वतन्त्रा कालिका असि (तुम अपनी कृति में स्वतन्त्रा हो, आद्या कालिका हो) ।

भाष्य—तुम ने किससे निखिल वाक् के सार वाग्दोहरूप ॐकार का उस शान्तातीता परा वाक् से दोहन किया है ? तुम तो केवल शान्ता नहीं हो, शान्तातीता हो इसलिए अपने को 'तूष्णीं नाद' के युग्म-रूप में व्यक्त कर बिन्दु का मन्थन किया है । उसी मन्थन से ही अकारादि समस्त कलावर्णों का उद्भव हुआ है । तूष्णीं हैं शिव ! शिवा हैं नाद! इन दोनों के मेलन से ही बिन्दु का मन्थन होता है, जैसे उत्तर और अधर अरणि के घर्षण से अग्नि का मन्थन होता है । उस के पश्चात्, तुम 'हुँ' 'फट्' इत्यादि कितने ही उत्सों के रूप में शक्ति का स्रोत खोल देती हो । तुम्हारी मन्त्रमयी महाविद्या कितनी असंख्या हैं । महाकाली महालक्ष्मी, महासरस्वती को तुम ने अपना-अपना मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र दिया है । उसके मध्य से ही प्रकाशित और आकारित हुई है यह दैवी सम्पत् । तुम स्वयं किसी मन्त्र से किसी यन्त्र-तन्त्र से पकड़ में आओगी, इसीलिए सर्वेश्वरेश्वरी, स्वच्छन्दा, स्वतन्त्रा नहीं रही हो ? अर्थात् तुम स्वतन्त्रा होकर भी हमारी पकड़ में आओगी, इसी-

लिए अपना स्वातन्त्र्य विसर्जित करके मन्त्र के द्वारा परतन्त्र होकर, मन्त्राधीना रूप में प्रकाशित हुई हो। तुम अकिञ्चन प्रपन्न की भी माँ हो, करुणावरुणालया हो ॥१२०॥

नो मन्त्रैर्मन्त्रितं तद् यतिततिपटुनी यन्त्रतन्त्रे न तत्र
नो ध्यानं तच्च धत्ते चिदपि न तु चितिर्निर्विकल्पे समाधौ।
शान्तातीतं च शान्ते हर हरदयिते चण्डमुण्डौ पशू यौ
रुन्धानौ स्तः प्रपित्सुं स्वयमिह वृणुया यद्वरेण्यं शरण्ये ॥ १२२ ॥

अन्वय— शान्तातीतं यत् च वरेण्यं तत् मन्त्रैः नो मन्त्रितम् (जो शान्तातीत वरेण्य तत्व है, वह मन्त्रों द्वारा मन्त्रित अर्थात् मन्त्रों के अधीन नहीं है) यतिततिपटुनी यन्त्रतन्त्रे तत्र न (यति अर्थात् यमन और तति अर्थात् तनन में पटु या कुशल वहाँ समर्थ नहीं हैं; ध्यान च तत् नो धत्ते (ध्यान उसको धारण नहीं करता अर्थात् वह ध्यान का विषय नहीं है) निर्विकल्पे समाधौ चित् अपि न तु चितिः (निर्विकल्प समाधि में उस तत्व के विषय में चिति नही बन सकती, अर्थात् ज्ञान भी उसका चयन नहीं कर सकता) हे शान्ते, शरण्ये हरदयिते ! यौ चण्डमुण्डौ पशू प्रतित्सुं रुन्धानौ स्तः [तौ] हर (चण्डमुण्ड नाम के जो दो पशु प्रपत्ति के इच्छुक का पथ रोक रहे हैं, उनका तुम हरण करो) स्वयम् इह वृणुयाः (उस प्रपित्सु का तुम स्वयं वरण करो) ।

भाष्य—मन्त्राधीना होकर भी तुम सर्वमन्त्रेश्वरी हो। फिर यह कहो कि किस मन्त्रशूल से तुमने अपने को मन्त्रित किया है ? तुम तो सबकी मूल यन्त्री हो; अपनी महिमा से ध्रुवा स्थिता हो। तुम्हारा चालक कौन संयमनकुशल यन्त्रचक्र है ? नित्यस्वतन्त्रा तुम्हें कौन 'तायन' (विस्तार) में निपुण तन्त्रपाशाङ्कुश तति गति-पद्धति सिखायेगा ? तुम नित्य मुक्तकेशी हो। अतः किस ध्यान में तुम्हारी 'धारणा' प्राप्त होती है ! कठश्रुति में जिस चरम आहुति की बात कही गई है—'तद् यच्छेत् शान्त आत्मनि'— वह निर्विकल्प 'शान्त आत्मनि' हवन होने पर फिर तुम कहती हो "मैं शान्तातीता हूँ" ! तुम्हारा पार या अवधि कहाँ हैं ? उपाय भी क्या है ? तुम प्रपन्नार्तिहरा हो, फिर भी तुम्हारे इन लोल चरणों में शरण लेने को सोचकर जो मन के गहन में लाल जवा खोज कर मरता है, उसके पथ में तुमने कण्टक रूप चण्ड-मुण्ड महापशु रख दिए हैं। अतः वह पशुवत् ममतावर्त में, मोहगर्त में, घूम-घूम कर मरता है ! हे शरणागतपालिके ! तुम जब तक स्वयं वरण न कर लो, तब तक कौन तुम्हारा बन सकता है ? हे कुलेश्वरि ! तुम्हारे बिना कौन कूल (किनारा) दिखलाएगा इस अकूल में ! ॥ १२२ ॥

हृद्याद्या या शयाना दहरसुविपुला मानमेयाद् दविष्ठा
हृल्लेखा या तनिष्ठा जगदुदयलयावृत्तिहेतुर्वरिष्ठा।
हृद्देशे या द्रढिष्ठेरयति च भुवनं त्वाश्रिताय म्रदिष्ठा
योगक्षेमाय साऽम्बा शमयतु हृदयं ग्रन्थिभेदे पटिष्ठा ॥ १२३ ॥

अन्वय—या आद्या हृदि शयाना (जो आद्यास्वरूपिणी हृदय में शयाना हैं) दहरसुविपुला (दहर अर्थात् सूक्ष्म की पराकाष्ठा में सुविपुल अर्थात् सूक्ष्मादपि सूक्ष्म भाव से स्थिता हैं) मानमेयाद् दविष्ठा (जो कुछ मान अथवा मेय है, सबसे दूरतमा हैं) या तनिष्ठा हृल्लेखा (जो तनुतमा हृल्लेखा हैं) जगत्-उदयलय-आवृत्तिहेतुः वरिष्ठा (जगत् के उदय-लय-आवृत्ति की हेतुभूता उरुतमा हैं) द्रढिष्ठा हृद्देशे या च भुवनम् ईरयति (और जो हृद्देश में दृढ़तमा रूप से स्थित होकर विश्व का ईरण या वर्णन करती हैं) आश्रिताय तु म्रदिष्ठा (आश्रित के लिए जो मृदुतमा हैं) ग्रन्थिभेदे पटिष्ठा (ग्रन्थि का भेदन करने में पटुतमा हैं) सा अम्बा योगक्षेमाय हृदयं शमयतु (वह अम्बा योगक्षेम-निर्वाह के लिए हृदय को शमित करें)।

भाष्य—तुम आद्यास्वरूपिणी निखिल सृष्टि के हृदय में अथवा केन्द्रस्थल में शयाना (सोई हुई) हो। कारण के केन्द्र (nucleus) का आश्रय लेकर अणु विराट् सब कुछ स्पन्दित हो रहा है, यह है उसका 'हृदि'। यह हृदि' स्थुल या पीन नहीं है। श्रुति कहती है कि वह 'दहर' अर्थात् सूक्ष्म की पराकाष्ठा है। इस दहर के मध्य में भी तुम अवस्थिता हो। तदपेक्षा अतः सूक्ष्मा, अणोरणीयसी हो ! इस प्रकार सूक्ष्मतमा होकर भी फिर महान् की अपेक्षा भी महीयसी हो। जो कुछ मान या मेय है, सब कुछ में तुम ही रहती हो दूरतमा ! ऐसी तुम्हारी विपुलता, असीमता है। जो कुछ सृष्ट हुआ है उसकी "हृल्लेखा" अर्थात् मूल शक्तिचित्रलेखा (basic pattern or power-picture) के रूप ये तुम बनी हो तनुतमा। इस विशाल जगत् के उदय, लय और आवृत्ति की हेतुभूता के रूप में तुम उरुतमा, विशालतमा हो ! इतनी सी बीजकणिका के बीच भी, यहाँ तक कि धूलिकण के मध्य भी तुमने अपना अत्याश्चर्य रूप प्रकट कर रखा है। वहाँ भी देखता हूँ एक स्थिर केन्द्र का आश्रय लेकर असंख्य शक्तिपुञ्जों का अविराम नर्तन है। यह मूल चित्र जगत् की प्रत्येक वस्तु में, नगण्य धूलिकण से आरम्भ करके जीवकणपर्यन्त सर्वत्र उदाहृत हो रहा है ! सर्वभूतों के हृद्देश में तुम वज्रहस्ता के रूप में सबकी चालयित्री बनकर बैठी रहती हो। केवल नीरव नहीं हो। इसीलिए सभी तुम्हारे भय से अपने निजकक्ष में, अपनी-अपनी धारा में, आवर्तन कर रहे हैं, कहीं भी च्युति नहीं हो रही है ("भयादस्याग्निस्तपति" इत्यादि)। इस सेतु या नियम की विचार-त्री के रूप में तुम वज्र की भाँति दृढ़तमा हो। तुम में जो प्रपन्न है, तुम्हारा जो

एकान्त आश्रित है, उसके प्रति तुम तो मृदुतमा, कुसुमकोमला हो ! अतः आज प्रार्थना है, तुम में ही एकान्त प्रपत्तियोग के लिए, तुम में ही एकान्त गतिक्षेम के लिए। इस हृदय को शान्त बना दो, क्योंकि तुम ही समस्त ग्रन्थिभेद में पटुतमा हो ! ॥ १२३ ॥

सा काली निरुपाधिशुद्धनिलये शान्ते नरीनृत्यते
कैवल्यं विदधाति निर्गुणतया द्वैतं मरीमृज्यते।
ब्रह्मास्मीत्यवबोधखड्गमहसा मिथ्याजनीन् प्रत्यया-
नास्ते ब्रह्मणि सर्वमेव दधती चेच्छिद्यमाना स्वयम् ॥ १२४ ॥

अन्वय—शान्ते निरुपाधि-शुद्ध-निलये सा काली नरीनृत्यते (वह काली निरुपाधि, शुद्ध, शान्त, चैतन्य निलय में नृत्य करती रहती हैं।) निर्गुणतया कैवल्यं विदधाति (निर्गुण होने के कारण कैवल्य का विधान करती हैं) द्वैतं मरीमृज्यते (और द्वैत का मार्जन करती रहती हैं) ब्रह्मणि सर्वमेव दधती मिथ्याजनीन् प्रत्ययान् 'ब्रह्माऽस्मीति-अवबोध-खड्गमहसा स्वयं चेच्छिद्यमाना आस्ते (अपने ब्रह्मरूप में सब कुछ धारण करती हुई 'ब्रह्माऽस्मि' इस ज्ञानरूपी महान् खड्ग से मिथ्या-जनित प्रत्ययों को काटती हुई स्वयं स्थित हैं)।

भाष्य—वही माँ काली निरुपाधि, शुद्ध, शान्त चैतन्यनिलय में शवशिव के हृदय पर नियत ही नाचती हैं, मानो किसी भावमदिरा से विभोर हों। तब क्या वे केवल गुणमयी, गुणशोभात्मिका हैं ? नहीं, वैसी तो नहीं हैं। वे ही निखिल द्वैत का लेशपर्यन्त 'मार्जन' करके साक्षात् कैवल्यदान करती हैं। काली कैवल्य दायिनी हैं। वे एकाधार में गुणात्मिका, गुणाश्रया और गुणातीता हैं। वे "ब्रह्माऽस्मि' अर्थात् "मैं ब्रह्मरुप ही हूँ" इस अवबोध या ज्ञानरुप खड्ग की छटा से मिथ्या अहमिका से विजृम्भित समस्त भवप्रत्यय का निरसन करती हैं। "तत्त्वमसि"—"तुम वही हो"। इसलिए असिच्छिन्न मुण्डास्थि निचय को दूर नहीं फेंकती हो। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—समस्त ही ब्रह्म-स्वरुप है। ब्रह्ममयी सब कुछ को अपने में धारण करती हैं मुण्डमाला के रुप में। जो छिन्न है, वह भी समाहृत होता है उनकी अखण्ड सत्ता में। इस प्रकार वे एकाधार में निर्विशेष एकतत्त्वा और अशेष तत्त्वों की साक्षात् जननी या प्रसूति हैं। वे सर्वतत्त्वमयी, भुक्तिमुक्ति, ज्ञान, प्रेम, सब कुछ की पूर्ण खनि हैं ! ॥ १२४ ॥

—०—

जपसूत्रोपक्रमणी

[दृष्टि भेद-निरुपणम् श्लो० १, २]

पिहिताद्यन्तधारासु वगाह्याधीरमूढयोः ।
भ्रान्तश्रान्ते तु दृष्टि स्तः क्रान्तशान्ते कवौ मुनौ ॥१॥

अन्वय—पिहिताद्यन्तधारासु (आदि और अन्त धाराओं के आवृत होने की स्थिति में) वगाह्य (अवगाहन करके) अधीरमूढयोः (अधीर और मूढ़ व्यक्ति की) भ्रान्तश्रान्ते (भ्रान्त और श्रान्त ये दो) दृष्टि (दृष्टियां) स्तः (हैं) (और) कवौ मुनौ (कवि और मुनि में) क्रान्तशान्ते (क्रान्त और शान्त) (दृष्टियां है) ।

भाष्य—जप का मूल उद्देश्य है ज्ञान के आवरण का क्रमशः उन्मोचन करते हुए दृष्टि का क्रमिक प्रसारण । हमारी साधारण दृष्टि नितान्त विभ्रान्त है । हम नहीं जानते, कहां से हम आए है, कहाँ चले हैं । अतः साधारण जीव जिस धारा में पतित है; उसके आदि एवं अन्त दोनों ही अपिहित या आवृत हैं । इस धारा में पतित अधीर और मूढ़ व्यक्ति की दृष्टि है—भ्रान्त और श्रान्त । अधीर की (उसके भीतर रजोगुण के आधिक्य के कारण) दृष्टि होती है भ्रान्त एवं मूढ़ में तमोगुण का प्राबल्य होने के कारण दृष्टि होती है श्रान्त । किसी तत्त्वविचार अथवा ध्यान में बुद्धि को अथवा दृष्टि को नियुक्त करने पर हम साधारणतः यह देखते हैं कि बुद्धि तत्त्वालोक लाभ न कर वृथा भटकती है और भ्रान्त ज्ञान में आबद्ध हो जाती है । किंवा तत्त्वानुसरण में एकान्त अक्षम होकर कुछ दूर जाकर प्रतिनिवृत्त होती है और श्रान्त होकर लौट आती है । बुद्धि में यह द्विविध मल—रजः और तमः या विक्षेप और आवरण होने के कारण ही साधारण दृष्टि का यह द्विविध रूप दिखलायी देता है । अर्थात् भ्रान्त और श्रान्त मल के दूर होने पर बुद्धि क्रमशः निर्मल हो उठती है । दृष्टि का भी प्रसारण होता रहता है ।

मलिन दृष्टि के जैसे द्विविध रूप हैं, उसी प्रकार इस निर्मल, विशद, स्वच्छ दृष्टि के भी दो रूप हैं—क्रान्त और शान्त । क्रान्त दृष्टि होती है कवि की एवं शान्त दृष्टि होती है मुनि की । निर्मल दृष्टि के इस द्वैविध्य का कारण है सत्त्व के परिणाम का तारतम्य । सत्त्वगुण के उद्रेक में ही यह निर्मलता दिखाई देती है, किन्तु सत्त्व में और दो हैं—एक आनन्द; दूसरा प्रकाश । इनमें

कभी एक का प्राधान्य एवं दूसरे की गौणता देखी जाती है। जब आनन्द का प्राधान्य होता है तब उल्लास, विलास और व्यापकता का अन्त नहीं होता। बुद्धि तब अनन्त विस्तार लाभ करती है, विश्वह्लादिनी हो उठती है। जब आनन्द की अपेक्षा सत्य के प्रकाश अंश का आधिक्य होता है, तब इस व्यापकता में, गौणता में, आती है एक असीम, प्रशान्त अतलस्पर्शी गभीरता। अतः एक दृष्टि आनन्द आकाशकल्प है और दूसरी दृष्टि ज्योतिर्घन महोदधिकल्प है। एक हैं व्यापिनी, दूसरी है अवगाहिनी। कवि की दृष्टि में प्रकृति या विश्व अपना समस्त रहस्य उन्मुक्त कर देता है, किन्तु आत्मा का रहस्य अज्ञात ही रहता है। आत्मरहस्य का भेदन करने के लिए चाहिए मुनि की मर्मी शान्त दृष्टि। तभी ज्ञान या दृष्टि की यथार्थ पूर्णता होती है। जब व्यापकता और सूक्ष्मता की सीमा में बुद्धि की अकुण्ठ गति होती है, तभी वह चरितार्थता लाभ करती है।

अतः भ्रान्त, श्रान्त एवं क्रान्त और शान्त, इन चतुर्विध दृष्टि में मानव-ज्ञान के सभी स्तरों का एक संक्षिप्त परिचय पा लेते हैं ॥१॥

स्थूलं व्याप्नोति यत्सूक्ष्ममन्वयव्यतिरेकतः।
अनावरकसंयोग - वियोगादेरपेक्षकम् ॥२॥

अन्वय—अनावरक-संयोजवियोगादेः अपेक्षकं सूक्ष्मम् अन्वयव्यतिरेकतः स्थूलं व्याप्नोति (अनावरक के संयोग-वियोगादि की अपेक्षा करके सूक्ष्म अन्वयव्यतिरेक से—सर्वतोभाव में स्थूल को व्याप्त करके रहता है)।

भाष्य—हम पहले दृष्टि की क्रमिक स्वच्छता और विशुद्धि के सम्बन्ध में आलोचना कर चुके हैं। वह वस्तुतः दृष्टि की क्रमिक सूक्ष्मावगाहिता का ही परिचय है। साधारण दृष्टि स्थूल में या surface में ही बंधी रहती है। स्थूल के उस पार नहीं जाती। किन्तु योगज दृष्टि या कवि और मुनि की दृष्टि स्थूल के पार स्थित जो सूक्ष्म रूप है, उस का साक्षात् दर्शन करती है। यह सूक्ष्म रूप सर्वदा ही स्थूल रूप को सर्वतोभाव में व्याप्त करके विद्यमान रहता है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है: यह सूक्ष्म है, इसका प्रमाण क्या है? इसका प्रमाण है अन्वय और व्यतिरेक, अर्थात् जहाँ स्थूल है वहीं सूक्ष्म है एवं जहाँ सूक्ष्म नहीं है वहाँ स्थूल भी नहीं है। तब भी शङ्का उठ सकती है कि तब हम सर्वदा सूक्ष्म को क्यों नहीं देखते हैं? इसका उत्तर है कि अनावरक के संयोग-वियोगादि की अपेक्षा करके ही यह होता है। अर्थात् आवरक के रहने के कारण ही सूक्ष्म की अनुपलब्धि होती है, और अनावरक अर्थात् आवरण के अपावरक के संयोग में उसकी उपलब्धि होती है। **Positive** (स्वीकृतिमूलक) है **negation**

(निषेध) का negation (निषेध) ही ! संयोग-वियोगादि में जो आदि शब्द दिया गया है उसके द्वारा संख्या, परिमाण आदि को पाना होगा। मान लें, जप आरम्भ किया, किन्तु उसकी शक्ति सूक्ष्मरूप में रहने पर भी स्थूल में सक्रिय नहीं हो रही है, अर्थात् जप की कार्यकारिता की कुछ भी उपलब्धि नहीं हो रही है। उस क्षेत्र में अनेक बार एक निर्दिष्ट संख्या में पहुँचने पर उसका आवरण भंग होता है, अर्थात् एक निर्दिष्ट संख्या में पहुँचने के बाद जप का फल प्रत्यक्ष होता है। इस विशिष्ट संख्या के परिपूरण में जप के फलवत्त्व के प्रति दृष्टि रखकर ही गायत्री प्रभृति सर्वविध मन्त्रों के पुरश्चरणादि का विधान शास्त्रों में किया गया है ॥ २ ॥

[स्थूल-सूक्ष्म-ज्ञानम् श्लो०, ३. ४]

आरम्भकादिसूत्रेण सहितं छन्दसा च यत्।
ज्ञानं सूक्ष्मस्य तज् ज्ञानं स्थूलस्य ज्ञानमुत्तमम् ॥ ३ ॥

अन्वय—आरम्भकादिसूत्रेण छन्दसा च सहितं यत् सूक्ष्मस्य ज्ञानं तत् ज्ञानं स्थूलस्य उत्तमं ज्ञानम् (आरम्भकादिसूत्र और छन्द, इन दोनों के सहित जो सूक्ष्म का ज्ञान है, वह ज्ञान स्थूल का उत्तम ज्ञान है)।

भाष्य—समझा यह जाता है कि सूक्ष्म का परिज्ञान न होने पर स्थूल का भी यथायथ ज्ञान नहीं होता। स्थूल के किस ज्ञान को उत्तम ज्ञान कहेंगे ? आरम्भकादि अर्थात् पूर्वोक्त अनावरक-संयोगवियोगादि रूप जो सूत्र अर्थात् principles हैं एवं छन्दः अर्थात् जिस विधान के अनुसार पूर्वोक्त सूत्र कार्य करते हैं, the law according to which the principle operates इन दोनों के साथ अर्थात् सूत्र और छन्दः समेत जो सूक्ष्म का ज्ञान है—वही स्थूल का सम्यक् ज्ञान है। तभी स्थूल का ठीक-ठीक ज्ञान होता है ॥ ३ ॥

[द्रष्टव्य—जपादि कर्म में देश, काल, वस्तु एवं छन्दः जिस प्रकार आवरक या प्रतिबन्धक (negative moment) के रूप में रह जाते हैं, उसी प्रकार ये सभी अनावरक (positive moment or factor) रूप में भी रह सकते हैं। यह अनावरण कर्म आरम्भ से समापन पर्यन्त सात स्तरों में शेष हुआ करता है। प्रति स्तर में मान्द्य (slowing down) होने की सम्भावना रहती है। अतः मान्द्य परिहारपूर्वक लक्ष्य पर्यन्त पहुंचने में कितने ही सूत्र एवं उनके प्रयोग के छन्दः का अनुवर्तन करना पड़ता है। तब जप का मन्त्र एवं उसकी भावना अपनी स्थूल संकीर्ण सीमा से मुक्ति पाकर उदार, विपुल, सूक्ष्म शक्ति के रूप में प्रकटित होगी। यही मन्त्रादि की यथार्थ शापमुक्ति एवं पाशमुक्ति है ॥३॥

यतोऽनावरकं सूत्रं छन्दश्च सूक्ष्मसंवृतम्।
सूक्ष्मज्ञातश्च विज्ञानं सूक्ष्मं ज्ञेयं परं ह्यतः ॥ ४ ॥

अन्वय—यतः अनावरकं सूत्रं छन्दः च सूक्ष्मसंवृतम् (जिस कारण अनावरक सूत्र और छन्दः—ये दोनों सूक्ष्म के बीच आत्मगोपन कर लेते हैं) सूक्ष्मज्ञानं च विज्ञानं (सूक्ष्मज्ञान ही विज्ञान है) अतः परं सूक्ष्मं ज्ञेयं (अतएव सूक्ष्म को विशेष भाव से जानना चाहिए) ।

भाष्य—अनावरक सूत्र और छन्दः सूक्ष्म में आत्मगोपन किए हुए हैं । इसलिए ये दोनों ही सूक्ष्म के अन्तर्गत हैं । सूक्ष्मज्ञान को ही "विज्ञान" या विशेष ज्ञान कहा जाता है । स्थूल ज्ञान सामान्य ज्ञान मात्र है । अतएव सूक्ष्म को ही विशेष भाव से जानना होगा । वही परम ज्ञेय है । कारण, सूक्ष्म को जानकर ही स्थूल को भी जाना जाता है, क्योंकि स्थूल सूक्ष्म में ही अन्तर्भुक्त है ॥४॥

[आशङ्का हो सकती है—बीज के आवरण भंग में मृत्तिका का रस, ताप, आलोक, वायु तो स्थूल ही हैं; किन्तु स्थूल रूप में ही ये सब आवरणभंग के हेतु नहीं बनते । बीजनिष्ठ सूक्ष्मस्पन्दनादि के समजातीय और समरूप होने पर ही वे आवरणभंग के हेतु होते हैं । 'स्थूल' क्रिया के द्वारा 'मन्त्रचैतन्य' घटित कराने पर वह क्रियाजन्य स्पन्दनादि (१) सूक्ष्मता की एक निर्दिष्ट मात्रा में जायगा । (२) छन्दोगत अनुरूपता प्राप्त करेगा । अन्यथा सौ बार चेष्टा से भी 'मन्त्रचैतन्य' का "उपयोग" नहीं घटित होगा । गुरुशक्ति एवं जापक की श्रद्धा के आधार पर यह उपयोग सहजसाध्य है ।]

[ब्रह्मणो व्योमरूपत्वम् श्लो० ५, ६]

क्रमानुरोधिनी धारा पर्यवस्यति यत्र च ।
सर्वेष्वन्वयाद् ब्रह्म तच्च व्योमेति पश्यत ॥५॥

अन्वय—यत्र च क्रमानुरोधिनी धारा पर्यवस्यति तत् च सर्वेषु अन्वयात् ब्रह्म, व्योम इति पश्यत (जहाँ क्रमानुरोधी धारा पर्यवसान को प्राप्त होती है, सबमें अन्वित होने से वह ब्रह्म हैं और उन्हें 'व्योम' रूप में देखिए) ।

भाष्य—"यह जो स्थूल से सूक्ष्म है, उससे सूक्ष्मतर क्रमानुरोधी धारा भी है इसमें एक पर्यवसान की भूमि है, जहाँ सूक्ष्मता अपनी चरम काष्ठा में जा पहुँचती है । यह सूक्ष्मता की धारा केवल चलती रहती है । इसकी कही परिसमाप्ति या अवसान नहीं है ।" इस प्रकार कहने से अनवस्था रूप दोष आ जाता है । इसके अतिरिक्त श्रुति और अनुभव द्वारा भी यह सिद्ध होता है कि कहीं एक परिसमाप्ति या काष्ठा है । यह काष्ठा, सबमें अन्वित हैं । वह ब्रह्म ही है । किन्तु उसकी विशेष संज्ञा है—व्योम या आकाश । (व्योम=वि+ओम् । निखिल विशेष के उदय, स्थिति एवं अवसान की "भूमि" जो है वह नाद, ॐ है और,

व्याप्ति एवं अवधि इन दोनों रूपों में "काश"-प्रकाश जिस आधार पर है, वह आकाश है।) इस परोवरीयान् प्रवाह की चरम सीमा के रूप में, उसे व्योम के रूप में देखिए ॥५॥

(जप का जो वाक् या मन्त्र है, उसकी भी क्षिति से आरम्भ करके व्योम-पर्यन्त पञ्चतत्त्व रूप में भावना करें। जैसे, जप के स्थूल या प्रकट भाव के उदय का स्थान = क्षिति। लय का स्थान = अप्। तैजस् शक्ति रूप में आविर्भाव का स्थान = तेजः। सर्वव्यापी विपुल स्पन्दरूप में वितति का स्थान = वायुः। इन सब का चरम आधार या आश्रय-स्थान = व्योम।)

आश्चर्यं यत् शुक्लकृष्णपक्षाभ्यां च प्रकाशयन्।
आवरयन्निदं सर्वं व्योमात्मा तार्क्ष्यं ऋध्यति ॥६॥

अन्वय – आश्चर्यं यत् व्योमात्मा तार्क्ष्यः शुक्लकृष्णपक्षाभ्यां इदं सर्वं प्रकाशयन् आवरयन् च ऋध्यति (आश्चर्य है कि व्योमात्मा गरुड़ शुक्ल और कृष्ण इन दोनों पक्षपुटों में इस समग्र विश्व को प्रकाशित एवं आवृत करते हुए विद्यमान हैं।)

भाष्य—अब तार्क्ष्य या गरुड़ की इस व्योमात्मा के रूप में कल्पना कीजिए। इनका आश्चर्यमय रूप हैं। ये दो पक्ष विस्तार करते हैं। एक शुक्ल दूसरा कृष्ण है। एक के द्वारा प्रकाश करते हैं, अपर द्वारा आवरण करते हैं। स्थूल भाव से देखने पर एक दिवा, दूसरा रात्रि है। इन दो पक्ष पुटों से ही वे समग्र विश्व को आवृत करके रखते हैं। ('शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते') ॥६॥

[क्षिति के रूप में जप वाक् और काय की प्रतिकूल वृत्ति का आवरण और अनुकूल वृत्ति का प्रकाश करता है। वहाँ गरुड़ के कृष्ण और शुक्ल दो पक्ष यही हैं। अप् के रूप में जप ही प्राण एवं अव्यक्त मन (sub-conscious) की भूमि में अनुरूप कर्म करता है। तेजोरूप में वह वाक्, काय, प्राण एवं मन, इन चारों का अनुकूल उत्तेजक है। वायुरूप में इन सब के मूल में जो महत्तत्त्व (बुद्धि) है, उसकी भी सहायता करता है। व्योम रूप में मूल प्रकृति की भी। प्रति स्तर में दो (+, −) पक्ष रहते हैं। ऐसे गरुड़ ही श्रीभगवान् के वाहन हैं। ये वेद में एवं गरुड़पुराणादि में प्रख्यात हैं।]

[निरोधिका-प्रकाशिका-शक्ति-निरूपणम्]

बीजादिषु हि सर्वेषु प्रकाश्यताऽप्रकाश्यते।
द्वे शक्ती युगपत् स्तश्च प्रकाशिका-निरोधिके।
यदनुपातवैषम्याद् व्यक्ताव्यक्तनिरूप्यता ॥७॥

अन्वय—सर्वेषु बीजादिषु प्रकाश्यताऽप्रकाश्यते स्तः (बीजादि सकल पदार्थ में दो वस्तुएँ हैं—प्रकाश्यता और अप्रकाश्यता) द्वे शक्ती युगपत् स्तः—प्रकाशिका-निरोधिके (दो शक्तियां युगपत् प्रकाशिका एवं निरोधिका हैं) यदनुपातवैषम्यात् व्यक्ताव्यक्तनिरूप्यता (जिनके अनुपात-वैषम्य के अनुसार सब वस्तु की व्यक्ता-व्यक्तता है) ।

भाष्य—यह कैसे विश्व में सर्वत्र अनुस्यूत है वह देखिए। बीजादि सकल पदार्थ में प्रकाश्यता और अप्रकाश्यता रहती है । बीज प्रकाशोन्मुख होकर भी कुछ अप्रकाश रह जाता है और अप्रकाश रह कर भी अपना कुछ प्रकाश करता है । एक हिसाब से जगत् की कोई वस्तु सम्पूर्ण अप्रकाशित या प्रकाशित नहीं है । एक विचित्र आलोक-अंधकार के संमावेश में मानो वे हमें नयनगोचर होती हैं । यह समझ में आता है कि मूल में दो शक्तियां काम करती हैं एक निरोधिका या veiling, दूसरी मोचिका या revealing factor है । यह आवरण और उन्मोचनरूप शक्तिद्वय विश्व में सर्वत्र क्रियाशील हैं। इनका जो अनुपात-वैषम्य या ratio, तारतम्य है, तदनुसार ही सब वस्तुओं की व्यक्ताव्यक्तता विकसित होती है । अर्थात् यह ratio के ऊपर ही निर्भर करता है कि वस्तु कितनी व्यक्त या कितनी अव्यक्त है । जहां मोचिका शक्ति का अनुपात अधिक है, वहां वस्तु को कहते हैं व्यक्त, और निरोधिका शक्ति के अनुपाताधिक्य होने पर कहते हैं अव्यक्त ॥७॥

[जपशक्ति या छन्द के जो सात मान्द्य स्थान कथित हैं, उन सब स्थानों में आने पर क्या होता है ? मोचिका और रोधिका का जो अनुपात है, वह भग्नांश है, अर्थात् लव (मोचिका) की अपेक्षा हर (रोधिका) बड़ी होती है । फलस्वरूप जप का शक्तिह्रास होता हैं । जैसे देह में metabolism में अनुपात-वैरूप्य से देह का क्षय होता है । जैसे देह में जप में भी वैसे ही यह अनुपात अनुकूलरूप में पाना है । उसका एक प्रकृष्ट साधन है—उक्त मान्द्यस्थान (retarding factor) को समिध् रूप में भावना द्वारा अन्तर्ज्योति में ईन्धन बनाइए । अब वह अग्नीन्धन होगा । 'ॐ यदिदं मयि समारम्भदौर्बल्यरूपं मान्द्यं तदहं हव्यं कल्पयामि, तच्च (श्रीश्री इष्टदेवता) परम-ज्योतिषि जुहोमि ॐ भू स्वाहाः ॥' इस प्रकार एक-एक मान्द्यस्थान का एक-एक व्याहृतियोग से परमज्योति में हवन करें ।]

[आविः-क्षपा-तत्त्वम् श्लो० ८-१०]

भूयस्त्वे यन्मोचिकायास्तदाविरिति दृश्यते ।
भूयस्त्वे रोधिकाया वा तदेव गुह्यते क्षपा ॥८॥

अन्वय—यत् मोचिकायाः भूयस्त्वं (जो मोचिका का आधिक्य है) तत् 'आविः' इति दृश्यते (वह 'आविः' इस प्रकार दिखाई देता है) रोधिकायाः भूयस्त्वे वा तदेव क्षपा गृह्यते (रोधिका के आधिक्य से उसी का 'क्षपा' रूप में ग्रहण होता है) ।

भाष्य—जब मोचिका शक्ति का भूयस्त्व या आधिक्य होता है, तब 'आविः' कहा जाता है। (जैसे आविष्करोति, आविर्भवति इत्यादि शब्दों में 'आविः' यह अर्थ पकड़ में आता है) । वैसे ही जब रोधिका या आवरिका शक्ति का भूयस्त्व या आधिक्य होता है, तब क्षपा या रात्रि कही जाती है। जैसे दिन में प्रकाश के आधिक्य में सब कुछ देखा जाता है और रात्रि में जैसे सब कुछ ढँक जाता है–यह भी वैसा ही है ॥८॥

[मोचिका=मो=म, रोधिका=रों=र। म=सोम, र=अग्नि। सृष्टि में सर्वत्र, जपादि में भी म : र यह अनुपात चल रहा है। सोम की मात्रा के प्राधान्य से पोषण एवं स्निग्धता; अग्नि की मात्रा के प्राधान्य से दहन, शोषण और रूक्षता होती है। यह सब कुछ बाद में आलोचित होगा। जपकर्म में 'र' के आधिक्य से शरीर और मन में सन्ताप (ज्वाला, अनिद्रा, मन की रूक्षता इत्यादि) का अनुभव हो सकता हैं। तब वही करणीय है जिससे सोम का उद्रेक हो ।]

आविष्ट्वं किञ्च रात्रित्वं दृग्भङ्गीनयकल्पिते ।
या निशा सर्वभूतानामि'त्यादौ स्मर्यते यथा ॥९॥

अन्वय—आविष्ट्वं किञ्च रात्रित्वं दृग्भङ्गी-नय-कल्पिते ('आविः' और रात्रि के रूप दृग्भङ्गी द्वारा कल्पित हैं) यथा 'या निशा सर्वभूतानां' इत्यादौ स्मर्यते (जैसे 'या निशा सर्वभूतानां' गीता के इस श्लोक में कहा गया है) ।

भाष्य—यह जो 'आविः' और रात्रिरूपा है, वह दृष्टिभङ्गी पर निर्भर हैं; अर्थात् किस stand-point से देखा जा रहा है, उसी पर क्षपात्व या आविष्ट्व अर्थात् रात्रित्व या दिवात्व निर्भर रहता है। एक दृष्टिभङ्गी से देखने पर जो क्षपा या रात्रि प्रतीत होती है, अपर दृष्टिभङ्गी से देखने पर वही फिर 'आविः' रूप में भी प्रतीत हो सकती है। अतः गीता ने भी 'या निशा सर्वभूतानां' इत्यादि श्लोक में यही बात कही है कि सर्वभूतों अर्थात् साधारण प्राकृत जनों के लिए जो रात्रि है, संयमी या योगी वहाँ भी जाग्रत रहता है अर्थात् उसके लिए वह दिवातुल्य है। और सर्वभूतों के लिए जो जागरण की भूमि या दिवास्वरूप है, वही योगी या मुनि की उन्मीलित दृष्टि के लिए निशा या क्षपासदृश है। इसीलिए

देखा जाता है कि दृष्टिभङ्गी के तारतम्य के अनुसार एक ही वस्तु क्षपा या आविः प्रभृति का दो रूप धारण करती है ॥९॥

[जप के समय यह दिवा एवं क्षपा तत्त्व विशेष रूप से चिन्तनीय है। वैखरी (स्थूल) जप का विच्छेद होने पर जब मध्यमा (सूक्ष्म) जप चलता है तब पूर्वालोचित 'प्रथम पुरुष' के लिए वह 'रात्रि' है, किन्तु 'मध्यम पुरुष' की दृष्टि में वह 'दिवा' है। इस प्रकार जपाक्षर एवं जपार्थ के ध्यान के सम्बन्ध में एक व्यक्ति की दिवा अन्य की रात्रि हो सकती है। **Kinetic** और **Potential** के भेद की तुलना करें।]

आवीरात्रीति युग्मत्वं सर्वमन्वेति वृत्तिमत्।
एकेन बाधिता चान्यैकेनान्या साधिता भवेत् ॥ १० ॥

अन्वय—आविः रात्रि इति वृत्तिमत् युग्मत्वं सर्वम् अन्वेति (आविः और रात्रि का वृत्तिशील जोड़ा सम्पूर्ण सृष्टि में अन्वित है) एकेन अन्या बाधिता एकेन च अन्या साधिता भवेत (एक द्वारा दूसरी बाधित है और एक द्वारा दूसरी साधित भी है)।

भाष्य—सृष्टि में सर्वत्र 'आविः' और 'रात्रि' रूप युग्मत्व अनुस्यूत है। यद्यपि ऐसा दिखाई देता है कि ये दोनों तत्त्व परस्पर विरोधी हैं, एक के द्वारा दूसरा बाधित होता है, किन्तु एक दिशा से देखने पर समझ में आता है कि एक के द्वारा दूसरा साधित भी होता है। जैसे विरुद्ध शक्तियों के निरोध के द्वारा किसी एक वस्तु के स्वरूप आविर्भाव में सहायता होती है, उसी प्रकार यहाँ निरोध तो आविर्भाव का साधन ही कर रहा है, बाधन नहीं। अतः 'आविः' और 'रात्रि' केवल परस्पर बाधक ही नहीं, साधक भी हैं ॥ १० ॥

[जैसे, जपाक्षर अथवा जपार्थ का ध्यान करना है, तज्जनित ज्योतिरस में अभिषिञ्चित होना है। एकतान अथवा एकाग्रवृत्ति न होने पर यह 'आविः' रूप सम्भव नहीं होता। किन्तु उसके लिए क्या चाहिए? इसकी विरोधी जो तीन वृत्तियाँ हैं (क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़), उनकी 'रात्रि' अर्थात् निरोध चाहिए। केवल उतना ही नहीं, 'निरोध' के नाम से जो पञ्चमी वृत्ति है, उसका भी निरोध होना चाहिए। अन्यथा जप में ध्यान अथवा सम्प्रज्ञात भूमि का उदय नहीं होगा]।

[अरिस्पन्द--मित्रस्पन्द—युग्मम्]

अरिस्पन्द-निवृत्त्या यन्मित्रस्पन्दप्रवर्तनम्।
युग्मं तत्रानुसन्धेयं जपादिसर्वकर्मसु।
क्षयायाच्छाद्य रोद्धव्यं छन्दश्छादयति श्रियम् ॥ ११ ॥

अन्वय—अरिस्पन्दनिवृत्त्या यत् मित्रस्पन्दप्रवर्तनं (अरिस्पन्द की निवृत्ति करके मित्रस्पन्दन का जो प्रवर्तन किया जाता है) तत्र जपादिसर्वकर्मसु युग्मम् अनुसन्धेयम् (उसके प्रसंग में जपादि सर्वकर्म में युग्म या जोड़ा समझना चाहिए)। क्षयाय आच्छाद्य रोद्धव्यम् छन्दः श्रियं छादयति (जिनका क्षय अभीष्ट है उनका आच्छादन द्वारा रोधन किया जाता है; और 'श्री' का छादन करके छन्द उसकी रक्षा करता है)।

भाष्य—अब देखिए, जपादि सभी कर्मों के बीच किस प्रकार इस युग्म का अनुसन्धान करना होगा। जपकर्म अरिस्पन्द या प्रतिकूल स्पन्द (Vibrations) का निरोध रात्रि रूप में करते हैं एवं 'आविः' रूप में मित्रस्पन्द का प्रकाश करते हैं। जप-जनित जो छन्दः है उसका काम है आच्छादन ('छादनात् छन्दः')। यह आच्छादन भी दो प्रकार का है। एक क्षय के लिए आच्छादन करता है, जो रोद्धव्य हैं उनको अर्थात् प्रतिकूल वृत्तियों को समूल विनाश के लिए अभिभूत करता है। दूसरा, श्री अर्थात् अभ्युदय की हेतुभूता दैवी सम्पत् की रक्षा करता है, वर्म की भाँति। इसीलिए छन्द की आच्छादन क्रिया में भी वह युग्मभाव है ॥ ११ ॥

[छन्दोमात्र में 'गोप्तव्य' और 'रोद्धव्य' को ध्यान रखना होगा। आनुनासिक, तालव्य, 'छम्' के द्वारा प्रथम, हसन्त दन्त्य 'दस्' के द्वारा द्वितीय सूचित होता है। प्लुत उच्चारण करके प्राणप्रयत्न व्यापार के प्रति ध्यान दो। इस द्विविध मूल वृत्ति के आश्रय में ही सृष्टि-स्थिति-लय होता है। जप में कायिकादि विघ्नों का रोध करते हुए जपक्रिया फल की रक्षा करनी होती है। ['गुह्यातिगुह्यगोप्त्री त्वम्']।

[ज्योतिस्तामिस्रयुग्मम्]

यावद्धि वर्धते ज्योतिरुत्तर-भूमिकान्वयात्।
तावद् वर्धेत तामिस्रमधस्तान्नक्तमाश्रितम् ॥ १२ ॥

अन्वय--उत्तर भूमिका + अन्वयात् यावत् हि ज्योतिः वर्धते (ऊँची भूमिका के योग से जिन परिमाण में ज्योतिः बढ़ती है) नक्तं आश्रितं तामिस्त्रं अधस्तात् तावत् वर्धेत (उसी परिमाण में नीचे की ओर रात्रि का आश्रित 'तामिस्र' बढ़ता है)।

भाष्य--इन दो युग्म तत्त्वों का और एक विचित्र सम्बन्ध है। एक की वृद्धि से दूसरे की वृद्धि होती है। उत्तरोत्तर भूमियों में जैसे—ज्योतिः या आविः बढ़ती जाती है, दूसरी ओर अन्य pole में उसी प्रकार तमिश्र या अन्धकार गाढ़ होता जाता है। जपादि साधन के फल से चेतना या प्रकाश की दीप्ति क्रमशः उज्ज्वल होती रहती है। उसी प्रकार अवचेतन में जो आसुर, प्रतिकूल संस्कार, सुप्त हैं वे भी प्रबल शक्ति जनित उत्साह में भर कर सिर उठाते हैं और अपने

अन्धकार के राज्य को दुगने पराक्रम से स्थायी करना चाहते हैं। इसीलिए ज्योतिः और रात्रि का ऐसा अविना सम्बन्ध है। एक की वृद्धि होने पर दूसरी की भी वृद्धि हो चलती है ॥१२॥

[आलोक एवं तामिस्र इन दोनों ने मिल कर एक 'धूम्रलोक' की सृष्टि की है। जीव का जागतिक व्यवहार इसी में होता है। 'आलोक' और 'अन्धकार' को आरम्भ में ही अलग कर लेना होगा। दोनों को अलग-अलग 'विशुद्ध' भाव से पाना आवश्यक है। elimination (निरसन) से पहले isolation (पृथक्करण) होना चाहिए।]

[सन्धि-सेतुतत्त्वम् श्लो० १३, १४]

नक्तंदिवमिति द्वन्द्वे यः सन्धिः सन्दधीत तम् ।
ऋते न सन्धिसन्धानादहोरात्रसमन्वयः ॥१३॥

अन्वय—नक्तंदिवं इति द्वन्द्वे यः सन्धिः तं सन्दधीत (रात्रि-दिवा के द्वन्द्व में जो सन्धि है उसका अनुसन्धाव करना चाहिए) सन्धिसन्धानाद् ऋते अहोरात्रसमन्वयः न (सन्धिसन्धान के बिना अहोरात्र-समन्वय नहीं होता)।

भाष्य—यह 'नक्तंदिवा' या रात्रि-दिन की जो सन्धि है, जिसे अभिव्यक्त भी नहीं कह सकते, अनभिव्यक्त भी नहीं कह सकते, उस zero Point या neutral point को खोज निकालना होगा। क्योंकि इस सन्धि-सन्धान के बिना अहोरात्र का समन्वय नहीं होगा। दिवारात्रि का द्वन्द्व नहीं मिटेगा। अतः महात्मा महाजनों का चिरन्तन उपदेश है—'सन्धि को पकड़ो।' हमारे दैनन्दिन सन्ध्या-वन्दनादि के लिए भी सन्धिकाल प्रातः मध्याह्न और सायाह्न में निर्दिष्ट हैं, वे भी सन्धि को पकड़ाने के लिए ही हैं। इन सन्ध्याओं में प्रकृति भी स्वभावतः सन्धिगामिनी हो जाती है, इसलिए यदि साधक उस समय ज्ञानपूर्वक प्रकृति के इस आनुकूल्य को काम में लगा सके, तो सहज ही सन्धिलाभ और द्वन्द्व अतिक्रम में समर्थ हो सकता है। जैसे रात्रि की निबिड सुप्तिजडिमा कट गई है, किन्तु अभी भी दिन की कोलाहलमुखरता नहीं है—इस सन्धि में प्रातःसन्ध्या का विधान है। इसी प्रकार सारे दिन का कर्मकोलाहल शान्त है, किन्तु अभी सुप्ति की घोर तमिस्रा में वह डूब नहीं गया है—इस अवस्था में सायंसन्ध्या का विधान है। इस प्रसंग में माँ की सन्धिपूजा का रहस्य भी चिन्तनीय है ॥१३॥

समेरुसन्धिसेतुं यस्त्रिसूत्रीं भजति क्रियाम् ।
वैप्रतीप्येन तस्य स्यान्नक्तं दिवा ह्यहः क्षपा ॥१४॥

अन्वय—यः समेरु-सन्धि-सेतुं त्रिसूत्रीं क्रियां भजति (जो मेरु, सन्धि और

सेतु इस त्रिसूत्री क्रिया का भजन करता है) तस्य वैप्रतीप्येन नक्तं दिवा हि अहः क्षपा स्यात् (उसके लिए दिन रात्रि हो जाता है और रात्रि दिन) ।

भाष्य—मेरुः सन्धि और सेतु–इस त्रिसूत्री का अनुसरण करके जो भजन करते हैं, क्रियातत्पर होते हैं, उनके समीप विपरीत क्रम से दिन भी रात्रि बन जाता है। रात्रि भी दिवा बन जाती है, अर्थात् उन्हें गीतोक्त संयमी मुनि की अवस्था प्राप्त है। साधना में सिद्धिलाभ के लिए इन तीनों का ज्ञान विशेष रूप से अपेक्षित है। इन तीनों को यथार्थभाव से जान लेने के बाद ही जपादि कर्म में अग्रसर हुआ जाता है। अन्यथा सब कुछ वृथा हो जाता है। हो सकता है कि जप करता जा रहा हूँ, किन्तु यह पता नहीं कि मेरु अर्थात् crisis phase या climax कौन सा है, जहाँ आकर रुकना होगा ? क्योंकि ठीक से न रुककर यदि और भी अग्रसर होता चलूँ और मेरु का उल्लंघन करूँ, तो पहले की सभी चेष्टाएं वृथा हो जायगी। यहाँ तक कि अवाञ्छित परिणाम भी हो सकता है। वैसे ही सन्धि या neutral point कब आया था, उसे यदि जान न सकें, तो उसे कस कर पकड़ना उसका लाभ लेना (avail करना) भी नहीं हो सकेगा और वृथा द्वन्द्व के आवर्तन में घूमकर मरना होगा। मौका पाकर भी सीमा काटकर बाहर निकल नहीं सके, ऐसा होगा। और फिर कभी क्रिया की प्रान्तभूमि में आ पहुँचने पर भी तत्त्व के साथ संयोग घटित नहीं होता। न जाने कहाँ एक दरार एक chasm रह जाती है। इस पार और उस पार के बीच एक व्यवधान रह जाता है। गुरुगण कृपा करके इस व्यवधान को दूर कर देते हैं, बीच में एक सेतु का स्थापन करके। जिस समय वे सेतु बाँध देते हैं, उसी समय सेतु का योग लेकर पार हो जाना होगा। इसीलिए सेतु को न जानने पर यह उत्तरण सम्भव ही नहीं होगा। कब सेतु आ गया, इस ओर सजग दृष्टि रखनी होगी। अतः मेरु, सन्धि और सेतु जपादि साधन के सबसे बड़े संकेत हैं और इनके तत्त्व का विशेष रूप से अनुधावन करना आवश्यक है। हम अब मेरु, सन्धि और सेतु के सम्बन्ध में संक्षेप में आलोचना करेंगे ॥१४॥

(क्षिति; अप् इत्यादि मिट्टी, जल इत्यादि नहीं हैं, यह तो हमने देखा। पाँचों मूल उपादान तत्त्व हैं। सृष्टि के सब कुछ में इन पाँचों का मिश्रण 'पञ्चीकरण' हुआ है। इसलिए जपकर्म में भी ऐसा ही है। अब मान लें, क्षितितत्त्व का प्रधानभाव से जप हो रहा है। फलस्वरूप कर्म में स्थूलता, जड़ता, गुरुता का आधिक्य है। यह आयास बहुल है। अल्प में ही क्लान्ति ला देता है—**mechanical, laborious, fatiguing** है। इस प्रकार जप को अप्, तेजः प्रभृति ऊपर के स्तरों में बढ़ाना हो तो मेरु, सन्धि, सेतु को ही पकड़ना होगा।)

[मेरुत्रयम्]

सुमेरुश्च कुमेरुश्च मध्यमेरुरिति त्रिधा ।
यो जानीते स जानीते कलाकाष्ठान्वयं ध्रुवम् ।।१५।।

अन्वय—सुमेरुः च कुमेरुः च मध्यमेरुः इति त्रिधा (सुमेर, कुमेरु और मध्यमेरु—मेरु के इस त्रिविधत्व को) यः जानीते सः कलाकाष्ठान्वयं ध्रुवं जानीते (जो जानता है वह कला, काष्ठा के अन्वय को निश्चित जानता है) ।

भाष्य—कला की वृद्धि की जो धारा और काष्ठा है, उसका अन्वय या योग वे ही जानते हैं जो सुमेरु, कुमेरु और मध्यमेरु इस त्रिविध भाव को जानते हैं । सब क्रियाओं का एक critical phase (सङ्कटाकुल या संक्रान्त्युन्मुख अवस्था) होता है । उसी को मेरु कहा जाता है । जैसे सूर्य उदय हुआ, चढ़ते-चढ़ते apex (शिखरदेश, मध्यगगन) में पहुँचा । यहाँ पर वह वृद्धि की एक काष्ठा में climax में जा पहुँचा, क्योंकि इसके बाद ही वह अस्त हो ढल पड़ेगा । चन्द्र के पक्ष में भी ऐसा ही है । शुक्लपक्ष में एक-एक कला द्वारा वृद्धि को प्राप्त होते-होते पूर्णिमा में जाकर वह climax में पहुँचता है, और उसके बाद से ही क्षय की ओर गति होती है । ऐसा विश्व में सर्वत्र है । जैसे मनुष्य में यौवन की पूर्णता और उसके बाद ही क्षयोन्मुखता इत्यादि । इस मेरु (crisis phase) को तीन प्रकार से देखा जा सकता है । Positive (भावात्मक या धनात्मक), negative (अभावात्मक या ऋणात्मक) और neutral (मध्यवर्ती) । प्रथम को सुमेरु, द्वितीय को कुमेरु और तृतीय को मध्यमेरु कहा जा सकता है ।।१५।।

(केवल यह पृथ्वी ही क्यों, 'सृष्टि में स्थूल, सूक्ष्म सभी पदार्थ,' क्या अणु क्या महान् सभी ने 'मेरुत्रय आकृति' पाई है । एक दोलक झूल रहा है, हृत्पिण्ड स्पन्दित हो रहा है, अणु के भीतर इलेक्ट्रॉन चक्कर काट रहा है, जागरण के बाद निद्रा, निद्रा के बाद जागरण आ रहा है—इत्यादि सभी दृष्टान्तों में इस मेरुत्रय का अनुसन्धान करें । मान लें किसी एक दिशा में क्रिया हो रही है । उस दिशा में एक 'सीमा' तक क्रिया अपने रूप को बनाये रखेगी । सीमा के पार या तो रुक जायगी और नहीं तो रूप ही बदल देगी । उसके बाद, क्रिया को अनुलोम क्रम से न करके विलोम क्रम से करें । क्रिया (action) को उलट दें (reverse कर दें) । उस दिशा में भी एक 'मेरु' है । फिर, दोनों ओर दो सीमाओं के बीचों बीच एक भूमि है । जैसे magnet (चुम्बक) में । जहाँ आने पर क्रिया को अनुलोम (positive) भी नहीं कहा जा सकता, विलोम (negative) भी नहीं कहा जा सकता ।)

[सन्धिसूत्र-त्रैविध्यम्]

प्रातरादिविभेदैश्च विसर्गव्यञ्जन-स्वरैः ।
सन्धिसूत्रं त्रिधा विद्युरहोरात्रविदो बुधाः ॥१६॥

अन्वय—अहोरात्रविदः बुधाः (अहरोत्र के ज्ञाता बुधजन) प्रातः+आदि +विभेदैः (प्रातः, मध्याह्न, भेदों से) विसर्गव्यञ्जन-स्वरैः च (और विसर्गव्यञ्जन स्वर से) सन्धिसूत्रं त्रिधा विद्युः (सन्धिसूत्र को त्रिधा जानते हैं) ।

भाष्य—उसी प्रकार सन्धि के भी तीन भेद हैं—प्रातः, मध्याह्न और सायाह्न । एक है उदय या उत्थान की सन्धि, द्वितीय है उन्मेष की सन्धि, तृतीय ही अस्त या अवसान की सन्धि है । शक्तिलेख (dynamic curve) मात्र का यह मौलिक रूप है । वेद में 'ऊषस्' रूपी रहस्य नाम में यह मौलिक रूप निर्दिष्ट है । यथा—ऊ=शक्ति का उत्थान; ष=मूर्द्धा apex; स्=दन्त्य वृति द्वारा अवसान । उसमें प्रातः उत्थान का प्राधान्य होने से उकार का दीर्घत्व है । इस उदय उन्मेष और अस्त को यथाक्रम से स्वर, व्यञ्जन और विसर्ग के रूप में भी देखा जा सकता है । जो लोग अहरोत्रविद् ज्ञानी हैं, वे सन्धि के इस त्रिविध भाव को जानते हैं ॥१६॥

[सेतुज्ञान-निरूपणम्]

मन्त्रं च यन्त्रं च श्रद्धाच्छन्दःस्वराश्च वै ।
एतत् त्रितयविज्ञानं सेतुज्ञानं समासतः ॥१७॥

अन्वय—मन्त्रं यन्त्रं च तन्त्रं च (मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र) श्रद्धा-छन्दः-स्वराः च वै (और, श्रद्धा, छन्द और स्वर) एतत्-त्रितयविज्ञानं समासतः सेतुज्ञानं (इन तीनों का विज्ञान संक्षेपतः सेतुज्ञान है) ।

भाष्य—सेतु के ज्ञान को भी संक्षेपतः तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है । मन्त्रज्ञान, यन्त्रज्ञान और तन्त्रज्ञान । एक (plane) स्तर से दूसरे (Plane) स्तर में जाने का संयोजक है यह सेतु । इसीलिए यह (सेतु) nexus principle या link अथवा line of approach है । अथवा जोड़ने वाली कड़ी है । मन्त्रसेतु के हिसाब से प्रणव में 'उ' कार को देखा जा सकता है । यह 'अ' कार और 'म' कार के बीच में रहकर दोनों को संयुक्त करता है । वैसे ही मात्रा की ओर से देखने पर 'अर्धमात्रा' वह सेतु हैं । फिर वाक् की ओर से देखने पर सेतु है मध्यमा । इसी प्रकार यन्त्रसेतु के हिसाब से भूतशुद्धि, आपोमार्जन या आचमन आदि को देखा जा सकता है । तन्त्रसेतु के उदाहरण के रूप में न्यास को लिया जा सकता है । जैसे मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र का आश्रय लेते हैं, वैसे ही

श्रद्धा, छन्दः एवं स्वर का सेतुरूप से आश्रय लेना होगा। श्रद्धारूप सेतु के द्वारा दो वस्तुओं में एकभावता आती है। छन्दसेतु से एकतानता और स्वरसेतु से एक-वृत्तिता आती है। नेमिगत विरूपता को स्वर द्वारा दूर करें। अरगत वैषम्य को छन्दः के द्वारा और नाभि या केन्द्रगत पार्थक्य को श्रद्धाभक्ति द्वारा दूर करें। 'हरिः' रूपी तीन वर्ण यथाक्रम से नाभि, अर एवं नेमि को मूल में अन्वित और प्रतिष्ठित करते हैं। मूल बात यह है कि मन्त्र ही कहें, यन्त्र ही कहें या तन्त्र ही कहें, सभी के बीच में इस सेतु को विशेष भाव से पहचानना और पहचान कर उसे यथायथ भाव से काम में लगाना आवश्यक है। तभी मन्त्रादि सफल होंगे ॥१७॥

[नियन्तव्य नियामक-तत्त्वम्]

व्यष्टि-समष्टिसर्गेऽपि स्थूले सूक्ष्मे च कारणे ।
गृह्येते क्रमसम्बद्धौ नियन्तव्य-नियामकौ ॥१८॥

अन्वय—व्यष्टि-समष्टि-सर्गे अपि (व्यष्टि-समष्टि सृष्टि में) स्थूले सूक्ष्मे कारणे च (स्थूल, सूक्ष्म और कारण में) नियन्तव्य-नियामकौ क्रमसम्बद्धौ गृह्येते (नियन्तव्य-नियामक क्रमबद्ध रूप में गृहीत होते हैं) ।

भाष्य—पहले जैसे सूक्ष्मता की एक क्रमानुरोधिनी धारा की बात कही गई है, वैसे ही विश्व में और एक धारा का परिचय मिलता है। वह है नियन्तव्य और नियामक की धारा। विश्व की सभी वस्तुओं में एक नियन्त्रण का principle (तत्त्व) देखने में आता है। वह नियन्त्रण जिसके द्वारा हो रहा है, उसे नियामक कहेंगे और जो नियन्त्रित या चालित हो रहा है उसे नियन्तव्य कहेंगे। इसकी भी एक क्रमपरम्परा, धारा है। उसकी दृष्टि से एक सम्पर्क (relation) में जो नियामक हैं वह फिर अन्य सम्पर्क (relation) में नियन्तव्य हो जाता है। मान लें, यह देह यन्त्र है। इसका नियामक प्राण दिखाई देता है। प्राण ने ही इस यन्त्र को चालू रखा है और वही इसे नियन्त्रित कर रहा है। उसके बाद अनुसन्धान करने पर दिखाई देता है कि इस प्राण का भी चालक और नियामक कोई सूक्ष्मतर तत्त्व है। जैसे मन इत्यादि। इस प्रकार और भी अनुसन्धान द्वारा हमें नियामक और नियन्तव्य की एक सोपान परम्परा देखने को मिलती है। केवल स्थूल में नहीं, सूक्ष्म एवं कारण तक में एवं व्यष्टि और समष्टि उभय सृष्टियों में भी हमें इस धारा का परिचय मिलता है ॥१८॥

[जपादि कर्म में मन्त्र, यन्त्रादि के इस नियम्य-नियामक सम्बन्ध को विशेष रूप से ध्यान में रखते हुए चलना होता है। एक मन्त्र जप रहा हूँ। यह जानना

आवश्यक है कि किस-किस के द्वारा क्रिया प्रभावित हो रही है। बाहर की गवेषणा में जैसे fiald picture अथवा समग्र क्षेत्र चित्र होता है]

[नियन्तव्य-नियामकयोस्त्रिधात्वम्]

प्रत्येकं च त्रिधा ज्ञेयं क्रियाऽऽकृती च दैवतम् ।
आद्ये स्युस्त्रीणि रुपाणि तन्त्रयन्त्रे मनुः परे ॥१९॥

भाष्य—प्रत्येकं च त्रिधा ज्ञेयं (नियम्य और नियामक में से प्रत्येक को त्रिविध समझना चाहिए) क्रिया + आकृति दैवतं च (क्रिया, आकृति और दैवत के रूप में) आद्ये (प्रथम में, अर्थात् नियम्य में) त्रीणि रूपाणि स्युः (तीन रूप हैं) परे तन्त्र-यन्त्रे मनुः (दूसरे में अर्थात् नियामक में तन्त्र, यन्त्र और मनु या मन्त्र है) ।

भाष्य—विश्व में नियम्य-नियामक की जो क्रमोन्नत श्रेणी है ('क' 'ख' के द्वारा नियन्त्रित है, 'ख', 'ग' के द्वारा इत्यादि) उसमें ध्यान से देखने पर प्रतीत होगा कि नियम्य एवं नियामक में से प्रत्येक ही तीन रूपों या आकारों में वर्तमान है। प्रथम अर्थात् नियम्य के तीन रूपों को साधारण भाव से कहा जाता है—क्रिया (action), आकृति (pattern) एवं दैवत (शक्ति या power)। जैसे, आँख से देखता हूँ। देखना एक क्रिया है। जिस विशेष इन्द्रिय (organ) के द्वारा एक 'निरूपित' भाव से देख रहा हूँ वह है 'आकृति'। और, जिस प्राण एवं चैतन्य शक्ति (चक्षुरभिमानी आदित्य) के द्वारा देख रहा हूँ उसे कहते हैं 'दैवत'। 'रेडियम'-जातीय किसी वस्तु के अणु स्वभावतः फटे जा रहे हैं, यहाँ विदीर्ण होना क्रिया है। अणु की जिस आभ्यन्तरीण अथवा पारिपार्श्विक विन्यासभङ्गी के फलस्वरूप यह क्रिया हो रही है, वह है आकृति। जिस निरूपित आकार से (अल्फा, बीटा, गामा रश्मियों की त्रिधारा के विकिरण पूर्वक) यह हो रही है वह भी आकृति है और, जिस 'रहस्य' शक्ति द्वारा (बाह्य ताप-चापादि की अपेक्षा न रखकर ही) यह हो रही है उसका नाम 'दैवत' है। ऐसा ही सर्वत्र है। नियम्य के जैसे तीन रुप हैं, नियामक के भी वैसे ही तीन रुप हैं—तन्त्र, यन्त्र एवं मनु (मन्त्र)। अर्थात् जो क्रिया को नियन्त्रित करता है उसे कहते हैं तन्त्र। जो आकृति को नियन्त्रित करता है उसे कहते हैं 'यन्त्र'। दैवत अथवा अन्तर्निहित शक्ति को जो नियन्त्रित करता है उसे कहते हैं मनु या मन्त्र। चाहे जिस क्षेत्र में समर्थ भाव से कुछ भी करें, उन तीनो की आवश्यकता है। कर्म का correct technique और formula (सही विधि और सूत्र नियम) ज्ञात हो। उक्त नियम के सफल प्रयोग के लिए आवश्यक क्षेत्र (field), करण (instrument अथवा means) एवं पद्धति (way or method) की एक निर्दिष्ट, उपयुक्त आकृति (plane and pattern) हो एवं

अन्त में चाहिए उपयुक्त भाव से और उपयुक्त परिमाण में शक्तियों का समूहीकरण (organisation of forces)। 'रेडियो आइसोटोप' के साथ किसी-किसी वस्तु (जैसे हल्का यूरेनियम) के सम्पर्क में इन तीनों (तन्त्र यन्त्र, मन्त्र) का योगायोग हम (मारण व्यापार में) कर सके हैं और इस प्रकार हमने बनाया है आणविक बम। जपादि साधन में समर्थ भूमि के लाभ के लिए यह नियम्यनियामक सूत्र विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिए। जप चल रहा है, किसी एक 'आकार' में चल रहा है, किसी एक 'शक्ति' में चल रहा है। किन्तु सामर्थ्य और साफल्य के लिए इन तीनों को ही अपनी-अपनी मनमानी करने के लिये छोड़ देने से नहीं चलता। इन तीनों के ही नियामकों को अनुकूल भाव से पाना होता है ॥ १९ ॥

[अन्तर्यामिणो नियामकत्वम्]

अन्तर्यामी तु सर्वेषां नियामकोत्तमः श्रुतः।
योऽन्यते प्राण्यते तस्य प्राणस्य प्राण ईशिता ॥ २० ॥

अन्वय—सर्वेषां अन्तर्यामी तु नियामकोत्तमः श्रुतः (जो सबका अन्तर्यामी है उसे श्रुति में नियामकोत्तम कहा है) यः अन्यते प्राण्यते (जो कुछ स्पन्दित होता है या प्राणित होता है) तस्य प्राणस्य ईशिता प्राणः (उस सब कुछ का प्राण का प्राण वह प्रभु है)।

भाष्य—नियम्य-नियामक की शाखा-प्रशाखाओं का गहन और असीम विस्तार है ! इसलिए मूल में जहाँ से समग्र नियन्त्रण हो रहा है, वहीं आश्रय लेना सर्वोत्तम कल्प है। 'एषोऽन्तर्यामी पुरुषः' कह कर श्रुति ने इस मूल नियन्ता, नियामकोत्तम का निर्देश किया है। जपादि साधन का मुख्य लक्ष्य यही होगा कि उनमें किस प्रकार 'प्रसन्न' हुआ जाय (अर्थात् किस प्रकार उनका 'प्रसाद' मिले)। विश्व में अणु या विराट् जो कुछ भी है वह केवल स्पन्दित हो रहा है (अन्यते) अथवा यत्किञ्चित् ज्ञान-इच्छा-कृति के सहकार से स्पन्दित हो रहा है (प्राण्यते)। वे उन सभी के प्रभु, प्राण के भी प्राण हैं ॥ २० ॥

[नियन्तव्य—तत्त्वम्]

नियन्तव्यं पृथग् ज्ञेयं नान्तर्भावान्नियामके।
नहि यन्त्र्यादिविज्ञानाद् यन्त्रादिज्ञानमुह्यते ॥
सूक्ष्मव्योम्नस्त्वभेदाद्धि प्राणे सर्वं समर्पितम् ॥ २१ ॥

अन्वय—नियन्तव्यं पृथक् ज्ञेयं नियामके अन्तर्भावात् न (नियन्तव्य को पृथक् रूप से जानना चाहिए, नियामक में उसके अन्तर्भाव से नहीं) यन्त्री + आदि + विज्ञानात् यन्त्र-आदि-ज्ञानं न हि ऊह्यते (यन्त्री के विज्ञान से यन्त्र आदि का ज्ञान

नहीं होता) सूक्ष्मव्योम्नः तु अभेदात् हि सर्वं प्राणे समर्पितम् (सूक्ष्मव्योम के साथ अभेद-सम्बन्ध से सब कुछ प्राण में समर्पित है) ।

जो नियन्तव्य है (यथा, जप आदि का करण, यन्त्र) उसे पृथग्भाव से अच्छी तरह जानना होता है । जान कर ही मूल नियामक के अनुसन्धान का यत्न करना होता है । जैसे, यन्त्री को साधारण भाव से जान लेने से ही उसके यन्त्र को नहीं जाना जाता । उसे अलग से जानना होता है । अवश्य ही पूर्ण समापत्ति के लिए जो विज्ञान है, उसमें यह भेद फिर नहीं रहेगा । तब मूल के ज्ञान से ही काण्ड, शाखा प्रशाखादि सब कुछ का ज्ञान होगा । तब यन्त्र-यन्त्री का ज्ञान दो वृत्तों की भांति एक दूसरे के बाहर नहीं रहता । उसके पूर्व एक के बीच दूसरे का अन्तर्भाव तो कहीं दिखाई नहीं दे रहा है--इस प्रकार ही अनुसन्धान करना होता है। विश्वचक्र की नेमि एवं अरसमूह सभी एक प्राण (प्राणब्रह्म) में समर्पित हैं। वह प्राण सब कुछ का नाभिनिष्ठ होकर भी सूक्ष्मव्योम रूप में सर्वव्यापी है। अर्थात् एकाधार में वह बिन्दु एवं नाद है। इस प्राण में जब तक गति न हो जाये, तब तक यन्त्रादि को यथासम्भव स्वतन्त्र भाव से विश्लेषण पूर्वक जानना आवश्यक है ।।२१।

[भावपञ्चकम् श्लो० २२, २३]

तत्र प्रभावसम्भावौ विप्रतिपूर्वकौ च यौ ।
भावावन्वादिभावश्च पञ्चैत आसते क्रमाः ।।२२।।

अन्वय--तत्र प्रभाव-सम्भावौ यौ च भावौ वि-प्रति-पूर्वकौ अनु+आदि-भावः च पञ्च एते क्रमाः आसते (नियमन-कर्म में पाँच क्रम रहते हैं प्रभाव, सम्भाव विभाव, प्रतिभाव, अनुभाव) ।

भाष्य--नियामक का नियमन कर्म पाँच क्रमों से होता है (इनकी विशेष व्याख्या बाद में होगी । जैसे प्रभाव, सम्भाव विभाव, प्रतिभाव, अनुभाव ।।२२।।

भास्करे चाप्ययस्कान्ते सुवर्णे मकरध्वजे ।
दध्यादिषु च बीजाणौ वीणायन्त्र उदाहृता ।।२३।।

अन्वय--[एते भास्कर अयस्कान्ते च अपि सुवर्णे मकरध्वजे बीजाणौ दध्यादिषु वीणायन्त्रे च उदाहृताः (ये प्रभावादि भास्कर में, अयस्कान्त में, सुवर्ण मकरध्वज में, दध्यादि बीजाणु में और वीणायन्त्र में उदाहृत हैं) ।

भाष्य--प्रभावरूप क्रम को भास्कर के उदाहरण से समझने का यत्न करें। अनुभाव क्या वस्तु है, इसे लौह के सन्निधान में आये अयस्कान्त (चुम्बक) के दृष्टान्त से समझने का यत्न करें। विभाव को समझें मकरध्वज को प्रस्तुत

करने में सुवर्ण की क्रिया (catalytic action) के द्वारा। सम्भाव को समझें दुग्ध आदि से दध्यादि की उत्पत्ति द्वारा, प्रतिभाव को समझें वीणायन्त्र में अनुरणन आदि की सृष्टि द्वारा। Direct action, influence action, catalytic action; subtle transformation action, resonance action—ये पांच क्रमशः प्रभाव, अनुभाव, विभाव, सम्भाव, प्रतिभाव हैं ॥२३॥

[व्यक्त, व्यक्ताव्यक्त, अव्यक्त, रूपान्तर में अभिव्यक्त, प्रतिस्पन्द में उपचित व्यक्त हैं।]

[कर्तृतापञ्चकम्]

अधिभूतं तथाऽध्यात्ममधियज्ञं च दैवतम्।
अध्यक्षरं नियन्तृणां पञ्चाधिकृत्य कर्तृता ॥२४॥

अन्वय—अधिभूतं तथा अध्यात्मं अधियज्ञं दैवतं अध्यक्षरं च नियन्तृणां पञ्च अधिकृत्य कर्तृताः (अधिभूत, अध्यात्म, अधियज्ञ, दैवत-अधिदेव, अध्यक्षर—ये पांच अधिकारानुसारी कर्तृता हैं)।

भाष्य—क्रिया की दृष्टि से जैसे पँच 'अधिकृत्य कर्तृता' हैं, अर्थात् पाँच अधिकारों (frame of reference, situation) में कर्तृता (कर्ता होने का भाव) है; इसलिए इस पञ्चविध कर्तृता से भी नियन्ता को पाँच प्रकार से देखना होगा। इनकी विशेष व्याख्या बाद में होगी ॥२४॥

[अधिभूत, अध्यात्म, अधियज्ञ, अधिदेव, अध्यक्षर अर्थात् क्रिया का आधार और उस-उस आधार में कर्तृत्व (agency) पाँच प्रकार का है।

[प्रणवस्य नियामकत्वम्]

प्रणवे पञ्चमात्रा यास्ताभिः सर्वं नियम्यते।
परत्वाच्च नियन्तृणामोङ्कारः प्राण एव च ॥२५॥

अन्वय—प्रणवे याः पञ्च मात्राः ताभिः सर्वं नियम्यते (प्रणव में जो पाँच मात्राएँ हैं, उनके द्वारा सब कुछ का नियमन होता है) नियन्तृणां परत्वात् च ओंकारः प्राण एव च (नियन्ताओं में से पर या श्रेष्ठ होने के कारण ओंकार प्राण ही है)।

भाष्य—जपादि के मूल में स्थित प्रणव की पाँचों मात्राओं से सर्वद्रव्य, सर्वगुण एवं सर्वकर्म नियमित होते हैं, ऐसा जानना चाहिए। ब्रह्मवाचक ओंकार सब नियन्ताओं में श्रेष्ठ है। इसलिए ओंकार ही पूर्वोक्त प्राण है। ओंकार (अथवा ईश्वर के नाम) का आश्रय लेकर जप करके जो सर्वनियामक प्राण के प्राण हैं, उन्हीं का आश्रय स्वतः प्राप्त हो जाता है ॥२५॥

[नियामक-पञ्चकम्]

जपादावनुसन्धेयाः पञ्चैते च नियामकाः ।

मन्त्रं गुरुश्च देवश्च क्षेत्री छन्दः समूहतः ॥

गुरोर्याऽनुग्रहाख्या चाग्रहाख्या क्षेत्रिणो धृतिः ॥२६॥

अन्वय––जपादौ एते पञ्च नियामकाः अनुसन्धेयाः (जपादि में ये पाँच नियामक अनुसन्धेय हैं) मन्त्रं च गुरुः च देवः च क्षेत्री छन्दः समूहतः (मन्त्र, गुरु, देव' क्षेत्री अर्थात् जीव और छन्दः ये मिल कर पाँच नियामक हैं) गुरोः या अनुग्रहाख्या क्षेत्रिणः च आग्रहाख्या धृतिः (गुरु की अनुग्रहाख्या धारा और क्षेत्री की आग्रहाख्या धारा है) ।

भाष्य––विशेष भाव से अर्थात् ईश्वर नाम के सहयोगी भाव से विशिष्ट मन्त्र, गुरु, देवता, जीव (भगवान् की परा प्रकृति) एवं छन्दः (मधुच्छन्दः इत्यादि) को कर्म के नियामक के रूप में जानना चाहिए। इन पाँचों में से गुरुशक्ति के आश्रय से भगवान् की अनुग्रहाख्या धारा एवं जीवप्रकृति में से आग्रहाख्या धारा (inspiration and aspiration) निःसृत होकर एक-दूसरे में मिल जाती हैं। इस मिलन के द्वारा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-सम्बन्ध 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-योग' बन जाता है ॥२६॥

[नाद-बिन्दु-कला-तत्त्वम्]

सङ्कुचत्प्रसरद्रूपा तार्तीया विश्ववृत्तिता ।

नाद-बिन्दु यतः काष्ठेऽदिधिषति कला च या ॥२७॥

अन्वय––तार्तीया विश्ववृत्तिता सङ्कुचत्प्रसरद्रूपा (तृतीया विश्ववृत्ति संकोच-प्रसार-रूपा है) यतः नादबिन्दू काष्ठे (इस वृत्ति की दो काष्ठाएँ या सीमाएँ हैं––नाद और बिन्दु) या च कला अदिधिषति (और जो कला है वह स्थित नहीं रहना चाहती, अर्थात् बढ़ना चाहती है) ।

भाष्य––पहले हमने विश्व में दो वृत्तियों (principles) का परिचय पाया है। एक है सूक्ष्मता के तारतम्य की धारा एवं उसकी चरम सीमा में हैं व्योमरूप ब्रह्म। द्वितीय है नियन्तव्य-नियामक की धारा उसकी चरम सीमा में अन्तर्यामि रूप ब्रह्म हैं। अब विश्व में एक तृतीय वृत्ति की बात कही जा रही है। यह है संकोच-प्रसार की धारा। विश्व की प्रत्येक वस्तु एक ओर क्रमशः संकुचित होती जा रही है, फिर दूसरी ओर वृद्धिगत है। इन दोनों की सीमा कहाँ है? मान लें, एक मृत्पिण्ड है। उसको मैंने चूर्ण कर दिया। वह कितने ही धूलि-

रेणुओ में परिणत हो गया। इन रेणुओं को भी यदि तोड़ते चलें, तब आधुनिक विज्ञान के मत से एक सूक्ष्म वैद्युतिक शक्ति में, इलॅक्ट्रॉन में जा पहुँचेगे। किन्तु वहीं पर क्या संकोच का अन्त है? वैसे ही विस्तार के पक्ष में भी यही प्रश्न उठता है। इन दोनों धाराओं की काष्ठां कहाँ है? क्या संकोच होते-होते या प्रसार होते-होते किसी भूमि में विश्राम है? यदि न हो तब तो अनवस्था दोष आ जायेगा इसके अलावा श्रुति एवं अनुभूति एक विश्रान्ति स्थान का निर्देश देती हैं। निश्चय ही इन दो धाराओं का विश्रान्ति स्थल कहीं न कहीं है। वे दो हैं—नाद और विन्दु। विस्तार (expansion) की परम भूमि है नाद। संकोच (condensation) की चरम भूमि है विन्दु। इन दोनों के बीच में है कला--जो केवल ऋद्धिःप्राप्ति की इच्छा करती है अर्थात् infinite, सब सीमाएं लाँघ कर वृद्धि लाभ करना चाहती है। नाद-बिन्दु के बीच एक रहस्य सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध के कारण ही कला की अभिव्यक्ति है। रहस्य यह है कि जब कोई भी वस्तु अपने संकोच की चरम सीमा या विन्दु में पहुँचना चाहती है, वैसे ही उसमें विपरीत क्रम से विस्तार लाभ करने की एक प्रचेष्टा भी जागती है। पक्षान्तर में, प्रसार या विस्तार की चरम काष्ठा में जाने के प्रयान में ही संकुचित होने की प्रेरणा भी जागती है। नादाभिमुखी प्रयास को यदि 'धनी' (=ध) कहा जाय एवं विन्दु-अभिमुखी को यदि 'ऋणी' (=ऋ कहें, तब स्मरण रखना होगा कि सृष्टि के संकोच-विकासादि व्यापारों में इन दोनों (ध, ऋ) का सहअनुपात है अर्थात् कौन कितना संकुचित अथवा विस्तारित है, यह इन दोनों के अनुपात मान पर ही निर्भर है। जो संकोच प्राप्त है वह विस्तार की ओर अग्रसर होता है। तब क्रिया का जो रूप होता है उसे कहते है 'ऋध्' (ऋध्यति)। इस क्रिया का वैपरीत्य (reversing) होने पर होता है 'धृ' (धृत हो रहा है) gathered and massed हो रहा है, ऐसा समझना होगा। 'ऋध्' से ऋद्धि, समृद्धि; और 'धृ' से धर्म (conservation)। एक है योग दूसरा है क्षेम! जैसे जप में प्रथम का प्राधान्य होने पर जपस्पन्द अपने को विस्तारित करके एक महान् विश्वजप के रूप में अपना प्रत्यक्ष करता है। दूसरे के प्राधान्य से अपने का सूक्ष्मतर महाशक्ति केन्द्र (nucleus) के रूप में आविष्कार करता है। एक expansive aspect है और दूसरा intensive; concentrated aspect है। जैसे जड़ के क्षेत्र में cosmic rays एवं nuclear energy कही गयी है।

एक बार संकोच की चरमसीमा में पहुँच कर अथवा उसकी ओर अग्रसर होकर पुनः क्रमशः विस्तार लाभ करना, फिर प्रसार की चरम सीमा पहुँच कर अथवा उसकी ओर अग्रसर होकर क्रमशः सूक्ष्म होना--यह 'झूला' विश्व में अवि-

राम चल रहा है। जैसे चन्द्र की प्रसार की चरम सीमा पूर्णिमा में पहुँचने के साथ ही साथ संकोच की ओर गति आरम्भ कर देती है। वह गति बढ़ते-बढ़ते जब संकोच की चरम सीमा अमावस्या में पहुँचती है, तब है विपरीत, विस्तारमुखी गति। नाद और विन्दु की यह जो मिथुनीभावेच्छा एवं परस्पराभिमुखी गति है, उसी के द्वारा कला की अभिव्यक्ति कामकला है। परम राहस्यिक 'योनि-लिङ्ग' इसका प्रतीक है। इस प्रसंग में 'क्लीं' बीज बाद में परीक्षित होगा। कला है एक **aspect** या **partial element**। वह पूर्ण नहीं है। इसीलिए वह केवल ऋध्यमान है, ऋद्धि पाना चाहती है, पूर्ण होना चाहती है। किन्तु कला की यह वृद्धि दो दिशाओं में है--संकोच की ओर और प्रसार की ओर **negative** और **positive** रूप से, **minus** और **plus** रूप से। कृष्ण पक्ष में संकोच मुख में कला की वृद्धि है और शुक्लपक्ष में विकास मुख में ।।२७।।

[अर्धमात्रा-तत्त्वम्]

कलानामृध्यमानानां मात्रा या ज्यायसी स्थिता।
अर्धमात्रेति जानीयात् साऽनुच्चार्या विशेषतः ।।२८।।

अन्वय—ऋध्यमानानां कलानां या ज्यायसी मात्रा स्थिता (ऋध्यमान कलाओं की जो श्रेष्ठ मात्रा या काष्ठा है) सा अर्धमात्रा इति जानीयात् (उसे अर्धमात्रा समझना चाहिए), विशेषतः अनुच्चार्या (वह विशेषतः अनुच्चार्या है)।

भाष्य—कला की ऋध्यमान या क्रमवर्धमान धारा की जहाँ पराकाष्ठा है, उसे (विशेष रूप से) अर्धमात्रा समझना चाहिए। वह विशेष रूप से अनुच्चार्या है। अर्थात् पूर्वोक्त संकोच और प्रसार की दिशाओं में कला की वृद्धि की जहाँ परिसमाप्ति है, वहीं तक अर्द्धमात्रा की व्याप्ति है। उभय धारा की समष्टि में है अर्ध मात्रा। एक ओर शेष सीमा (culminating point) नाद है, दूसरी ओर ब्रिन्दु। इन दोनों सीमाओं को दो पंखों की भाँति फ़ैला कर अर्धमात्रा स्थिता हैं।।२८।।

[पहले अर्धमात्रा के विषय में कुछ कहा गया है; आगे और भी आलोचना होगी। मान लें, मात्रा = ऊर्मि-मान (**wave-length**); इसकी ऋध्यमानता (**progression**) दो ओर होती है—एक विस्तार की दिशा में (जैसे, **long-waves**), और एक संकोच की दिशा में (जैसे, **short-waves**)। दो दिशाओं में दो काष्ठा (**limit**) हैं। बीच में कतिपय ग्रामों में यह धारा व्यक्तकला होती है, जो विशेषतः 'उच्चार्या' है। दो दिशाओं में दो काष्ठासह धारा की इस समग्र आकृति और आवेग को कहते हैं अर्धमात्रा।]

[अग्नीषोम-तत्वम्]

अग्नीषोमीयतां चास्याः साक्षात्त्वेन प्रकल्पय ।
अग्नीषोमावुभौ मुख्ये प्राणे स्त आज्यकल्पितौ ॥२९॥

अन्वय—अस्याः अग्नीषोमीयतां च साक्षात्त्वेन प्रकल्पय (इस अर्धमात्रा की अग्नि और सोम के रूप में साक्षात् कल्पना करो) अग्नीषोमौ उभौ मुख्ये प्राणे आज्यकल्पितौ स्तः (अग्नि और सोम मुख्य प्राण में आज्य या आहुति के रूप में कल्पित हैं) ।

भाष्य—अर्धमात्रा के इन दोनों पक्षों की अग्नि और सोम के रूप में कल्पना करें—नाद की अग्निरूप में एवं बिन्दु की सोमरूप में । किसी भी वस्तु का सकोच एवं घनीभाव करते-करते अन्त में जाकर essence (सूक्ष्मतम तत्त्व) के रूप में, nuclear substance (आणविक तत्त्व) के रूप में मिलता है सोम ! इसी अमृत-बिन्दु के बीच समग्र अभिव्यक्ति या विकास की सम्भावना विधृत है । विस्तार के अन्त में जाकर विश्वव्यापी शक्ति (field-energy) के रूप में (अवश्य ही, केवल जड़शक्ति नहीं) मिलता है अग्नि; जो नाद के रूप में सर्वत्र ओतप्रोत है । फिर ये दोनों ही मुख्य प्राण में, आज्य के रूप से, आहुति के रूप से कल्पित हैं । अर्थात् नाद एवं बिन्दु विस्तार एवं संकोच—इन दोनों का ही उत्थान एवं अवसान होता है मुख्य प्राण में, प्राण-ब्रह्म में । संकोच-विकास मुख्य प्राण की ही दो मुख्य कला (phase) मात्र हैं । इनकी उसी में आहुति देना आवश्यक है । वैसा होने पर ही कृतार्थता है । २९॥

[जप में मुख्य प्राण में अथवा प्राण ब्रह्म में आहुति कर्म अत्यावश्यक है । आग्नेय मात्रा के आधिक्य से चञ्चलता इत्यादि रजस् लक्षणों के होने पर भी और सोमीय मात्रा के आधिक्य से 'शीतस्तब्धता' 'मत्तता' इत्यादि तामस लक्षणों के दिखाई देने पर भी ।]

[ह्लाद्य-ह्लादक-धारा, धार्य-धारक-धारा च]

ह्लाद्यह्लादक-धाराया आरसतमवाहिता ।
धार्यधारकधारायाः शेषोऽदितौ च दृश्यताम् ॥३०॥

अन्वय–ह्लाद्यह्लादकधाराया आरसतमवाहिता (ह्लाद्यह्लादक धारा आरसतम-वाहिनी है अर्थात् उसकी सीमा है रसतम) धार्यधारकधारायाः शेषः च अदितौ दृश्यतां (धार्यधारक-धारा का शेष या सीमा अदिति में देखें) ।

भाष्य—जैसे संकोच-प्रसार की धारा का शेष है मुख्य प्राण में, वैसे ही ह्लाद्य-ह्लादकधारा की शेष सीमा या काष्ठा है रसतम। वहाँ पहुँचे बिना आनन्द की पूर्णता, तृप्ति नहीं है। इसीलिए आनन्द का अनुसन्धान उतने दिन निरन्तर चलता रहेगा। धार्यधारक (contained and cotainer) की जो धारा है, उसकी सीमा (limit) है अदिति। अतः श्रुति ने अदिति का ही द्यौ, अन्तरिक्ष, माता, पिता और पुत्र रूप में वर्णन किया है ॥३०॥

[धाराणां त्रित्वं, पञ्चत्वं, सप्तत्वं वा]

पञ्च वा सप्त वा तिस्रो धारा एकत उत्सृताः।
तदेकं विद्धि वै ब्रह्म व्योमप्राणाद्युपाधिकम् ॥३१॥

अन्वय—पञ्च वा सप्त वा तिस्रः धाराः एकतः उत्सृताः (तीन, पाँच या सात धाराएँ एक से ही निकली हैं) तत् एकं व्योम-प्राण-आदि-उपाधिकं ब्रह्म वै विद्धि (उस एक को व्योम, प्राण आदि उपाधियों से युक्त ब्रह्म समझना चाहिए)।

भाष्य—हमने यहाँ विश्व की कतिपय धाराओं की चर्चा की है। धारा तीन ही हों या पाँच ही हों या सात ही हों, मूल में वे एक केन्द्र से ही निर्गत एवं निःसृत हुई हैं। वह एक केन्द्र या मूल है ब्रह्म—जो व्योम, प्राण प्रभृति विभिन्न उपाधियों में प्रकाशित होते हैं। गीता ने भी इन्हीं को लक्ष्य करके कहा है—'यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी' ॥३१॥

[अध्यारोप-अपवाद-तत्त्वम्]

अध्यारोपापवादाभ्यां गता विशिष्यमाणता।
हानोपादानराहित्ये तच्च ब्रह्म परं स्थितम् ॥३२॥

अन्वय—अध्यारोप+अपवादाभ्यां विशिष्यमाणता गता (अध्यारोप और अपवाद से विशिष्यमाणता अर्थात् विशिष्टभाव दूर होता है) हान+उपादानराहित्ये तत् च परं ब्रह्म स्थितं (हान-उपादान से रहित वह परब्रह्म स्थित है)।

भाष्य—ब्रह्म को प्राप्त करने अथवा ब्रह्मतत्व को अधिगत करने की वेदान्त प्रसिद्ध रीति (method) है अध्यारोप और अपवाद। सब वस्तुओं को पहले ब्रह्म में आरोपित करके ब्रह्म को उन-उन उपाधियों द्वारा युक्त करके देखने की धारा है अध्यारोप। बाद में इन सब उपायों का अपवाद (negation) करके ब्रह्म को सर्व उपाधिनिर्मुक्त रूप के देखने की धारा अपवाद है। पहली अन्वय-

मुखी है, 'इति' रूपा है दूसरी व्यतिरेकमुखी है, 'नेति' रूपा है। इस उभय-धारा (method) के सहयोग (combined application) के द्वारा ही विशिष्यमाणता या विशिष्ट उपाधिकृत भाव दूर होने पर 'ब्रह्म' अपने स्वरूप में प्रकाशित होते हैं। इन दो उपायों के प्रयोग से भी ब्रह्म का हान या उपादान नहीं होता अर्थात् अध्यारोप के द्वारा उसमें नया कुछ युक्त (added) भी नही होता, अपवाद के द्वारा उससे कुछ वियुक्त (subtracted) भी नहीं होता। उनकी इससे कोई क्षति-वृद्धि नहीं होती, क्योंकि उनमें योग या वियोग (addition subtraction) करने के लिए कुछ भी नहीं है। वे हान-उपादान-शून्य परब्रह्म हैं ॥३२॥

[ज्ञानपूर्णता-निरूपणम्]

सर्वसाहित्य-राहित्य-समेता ज्ञानपूर्णता ॥ ३३ ॥

अन्वय--ज्ञानपूर्णता सर्व-साहित्य-राहित्य-समेता (ज्ञान की पूर्णता सम्पूर्ण साहित्य और राहित्य से युक्त है)।

भाष्य—ब्रह्म में हान-उपादान कुछ भी नहीं है, वे स्वयं पूर्ण, स्वतः नित्यपूर्ण हैं, किन्तु ज्ञान के समय वैसा नहीं है। ज्ञान तभी पूर्ण होता है जब वह साहित्य और राहित्य इन दोनों के द्वारा समेत या युक्त होता है। अर्थात् ज्ञान को पूर्णाङ्ग बनाने के लिए सर्व उपाधिसहित या उपाधि के सहयोग से ब्रह्म को जानना होगा। पुनः सर्व उपाधिरहित या उपाधिनिर्मुक्त भाव से भी जानना होगा। नहीं तो ज्ञान की त्रुटि रह जायगी। एकदेशीय दर्शन हो जायगा। integral vision पूर्णाङ्ग दर्शन नहीं होगा। 'असंशयं समग्रं मां' को जानना नहीं होगा। ज्ञान की पूर्णता के सम्पादन के लिए अन्वय और व्यतिरेक, साहित्य और राहित्य, दोनों ओर से ही ब्रह्मानुसन्धान चलाना होगा ॥ ३३ ॥

[बुद्धेः शरण्यत्वम्]

बुद्धौ शरणमन्विच्छ बुद्धिः सर्वावभासिका।
महत् सूक्ष्मं परं यात्यतः स्थितिस्थापिकोत्तमा ॥
तच्छुद्धिशेषमापन्नः स्वतो वेत्ति ह्यशेषतः ॥ ३४ ॥

अन्वय—बुद्धौ शरणं अनु + इच्छ (गीता की भाषा में, बुद्धि की शरण लो) बुद्धिः सर्व + अवभासिका (बुद्धि सबका प्रकाश करने वाली है) परं महत् सूक्ष्मं याति अतः स्थितिस्थापिका + उत्तमा (बुद्धि परम सूक्ष्म या परम व्यापक रूप धारण करती है, अतः वह उत्तमा स्थितिस्थापिका है) तत् + शुद्धि-शेषं आपन्नः हि

अशेषत: स्वत: वेत्ति (उसको परम शुद्धि को जो प्राप्त कर लेता है, वह स्वत: ही अशेष ज्ञानवान् बन जाता है) ।

भाष्य—अब प्रश्न उठता है—यह जिस पूर्ण ज्ञान की बात कही गई उस पूर्ण ज्ञान में कैसे पहुँचूँगा ? इसका उत्तर है—बुद्धि की शरण लो । क्योंकि वह सर्वाव-भासिका है, सब कुछ का प्रकाश कर देती है । वह जैसे एक ओर परम सूक्ष्म में प्रवेश कर सकती है, वैसे ही परम महत् में भी अनायास अपना विस्तार कर सकती है । पूर्णत: लचीला कुछ है तो वह बुद्धि है, इसीलिए वह 'स्थितिस्थापिकोत्तमा' है, उसे चाहे जैसे ढाल सकते हैं, (mould कर सकते हैं) । परम सूक्ष्म या परम व्यापक चाहे जिस रूप में ले सकते हैं । यही, अर्थात् यह बुद्धि ही मनुष्य की विशेष सम्पत्ति है । यही उसे अन्य प्राणिवर्ग से पृथक् करती है । इसके सम्यक् अनुशीलन से वह विश्व के समस्त रहस्य से अवगत हो सकता है । परिशेष में विश्वनाथ को भी समझ सकता है । हम आज विज्ञान का जो कुछ चमत्कार देखते हैं, वह सब इस बुद्धि का ही आविष्कार है, बुद्धि के ही विकास का फल है । किन्तु हमारी साधारण बुद्धि में कोई तत्त्व प्रतिभात नहीं होता, इसका कारण क्या है ? इसका कारण और कुछ नहीं, हमारी बुद्धि की अशुद्धि है । जैसे दर्पण कचरे से मैला हो जाने पर उसमें कुछ भी प्रतिबिम्बित नहीं होता, वैसे ही अशुद्धि से भरी बुद्धि में किसी तत्त्व का भी उन्मीलन नहीं होता । जैसे दर्पण स्वभावत: स्वच्छ है, बुद्धि भी वैसे ही स्वरूपत: प्रकाशरूपा ही है । केवल आगन्तुक मालिन्यवशत: मानो उसकी प्रकाशमयता तिरोहित मात्र हो गई है । इसीलिए पातञ्जल दर्शन में कहा गया है, 'प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वम्' । इस मालिन्य या अशुद्धि के क्रमश: दूर होने पर जब शुद्धि को शेष सीमा में जाकर बुद्धि अपनी परम निर्मलता और स्वच्छता को पा लेती है, तब समस्त तत्त्व स्वत: ही उसमें विशेष रूप से स्फुरित होते हैं, अथवा प्रकाश पाते हैं । तब सब जानने के लिए प्रयास भी नहीं करना पड़ता । इसीलिए सर्व प्रयास से बुद्धि को शुद्ध करना और उसकी शरण लेना आवश्यक है ।। ३४ ।।

[खण्डज्ञानस्यासामर्थ्यम्]

हिमाद्रितनुनिर्माताऽश्मरेणून् कोऽपि चाययेत् ।
शिशिरशीकरैः को वा प्रपूरयेन् महाम्बुधिम् ।। ३५ ।।

अन्वय—हिमाद्रि-तनु-निर्माता अश्मरेणून् अपि कः चाययेत् (कोई हिमाद्रि का शरीर निर्माण करने के लिए प्रस्तर-रेणुओं का संचय कर सकता है ?) कः वा शिशिरशीकरैः महाम्बुधिं प्रपूरयेत् (कौन ओस-कणों से महाम्बुधि को भर सकता है ?)

भाष्य—शङ्का उठ सकती है—बहिर्विज्ञान या 'साइंस' भी तो इस प्रकार से बुद्धि की शरण लेकर तत्त्व आविष्कार कर रहा है, तब क्या विज्ञान का पथ ही अनुसरण करने को कहा जा रहा है ? क्या उसी से परमार्थ भी मिल जायगा ? नहीं, विज्ञान के पथ से परम तत्त्व कभी नहीं मिलेगा। क्योंकि विज्ञान चला है खण्ड के पथ पर, अल्प के पथ पर, और आर्षज्ञान चला है अखण्ड के पथ पर, भूमा के पथ पर। विज्ञान केवल कह रहा है "बाहर का यह जानो, वह जानो, विश्लेषण करते चलो', किन्तु इस प्रकार जोड़-जोड़ कर कभी परम ज्ञान नहीं मिलता। खण्ड की समष्टि से अखण्ड नहीं बनता। प्रस्तर के रेणुओं का संचय करके कौन हिमालय का विराट् वपु तैयार करेगा ? शिशिरकणों का संग्रह करके कौन महोदधि को प्रपूरित करने जायगा ? यह सब मानो बातुल की प्रचेष्टा है, वैसे ही खण्ड जोड़कर अखण्ड ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास भी नितान्त उपहासास्पद है। इसलिए प्रज्ञान की तुलना में विज्ञान की यह अपरिहार्य त्रुटि है, क्योंकि उसकी अनुसन्धान रीति (method) ही सदोष और असम्पूर्ण (inadequate) है ॥३५॥

[बुद्धेः पारगामिता]

विशारदादिभिर्लिङ्गैः कृत्स्नेषु क्रमते च धीः।
समावृत्तावियात् पारं स्वामतीत्य स्वतः परम् ॥३६॥

अन्वय—विशारद-आदिभिः लिंगैः धीः कृत्स्नेषु क्रमते (विशारद आदि लिङ्गों से युक्त बुद्धि अर्थात् उन-उन स्तरों में विकसित बुद्धि कृत्स्न या समस्त तत्त्वों को जान लेती है) समावृत्तौ पारम् इयात् ('समावृत्ति' में पहुँच कर पार हो जाती है) स्वाम् अतीत्य स्वतः परं (इयात्) (अपना अतिक्रमण करके अपने से पर जो तत्त्व है, उसमें पहुँच जाती है)।

भाष्य—तब किस उपाय का अनुसरण करना चाहिए ? बुद्धि के मार्जन का पथ ही आश्रयणीय हैं। बुद्धि की जो विशारद, प्रातिभ, ऋतम्भरा प्रभृति स्तर या भूमियाँ हैं, उन्हें क्रमशः विकसित करना आवश्यक है। इस प्रकार बुद्धि (अर्थात् जिस कारण द्वारा सब कुछ जानते हैं) जब विशुद्ध और उज्ज्वल हो उठती है, प्रज्ञा की सप्तधा प्रान्तभूमि जब खिल उठती है, तब अनायास कृत्स्नवित् (सर्ववित्) बना जाता है। सब वस्तुओं में बुद्धि प्रविष्ट हो जाती है। पहले जिस समावृत्ति की बात कही गई है, उस समावृत्ति में जा पहुँचने पर जानने की चरम सीमा में अर्थात् ज्ञान की परम भूमि में स्थिति हो जाती है। वहाँ विश्व का

कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता। अन्त में, समावृत्ति के भी पार जा सकने पर उस विश्वातीत निरञ्जन 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' को जाना जाता है। बुद्धि को उत्तरोत्तर स्तरों में विकसित करके उसके चरम विकास में पहुंचाना एवं अन्त में उसका भी अतिक्रमण करना यही यथार्थ ज्ञान-लाभ का पथ है ॥३६॥

[बुद्धेः प्रपन्नत्व-प्रार्थनम्]

अध्यारोपापवादौ त्वयि निगमयतः शुद्धनैर्गुण्यमात्रं
जन्माद्यस्यादिलिङ्गैस्त्वयि च निविशते ज्ञानशक्त्यादिकात्स्न्यर्म् ।
सिद्धः सन्धानशेषात् त्वयि च मधुरिमा प्रेम्ण आत्यन्तिकोऽपि
कुर्या गोविन्द ! नाथाच्युतचरणदृशो नो धियस्त्वां प्रपन्नाः ॥३७॥

अन्वय—अध्यारोप+अपवादौ त्वयि शुद्ध-नैर्गुण्य-मात्रं निगमयतः (अध्यारोप और अपवाद तुम में शुद्ध निर्गुणता मात्र का प्रतिपादन करते हैं) जन्माद्यस्य आदिलिङ्गैः च त्वयि ज्ञान-शक्ति-आदिकात्स्न्यं निविषते ('जन्माद्यस्य' इत्यादि वचनों द्वारा नाना लिङ्गों या लक्षणों से तुम में ज्ञान शक्त्यादि की समग्रता रहती है, ऐसा विदित होता है) सन्धानशेषात् च त्वयि प्रेम्णः आत्यन्तिकः अपि मधुरिमा सिद्धः (सन्धान के शेष में तुम में प्रेम की आत्यन्तिक या निरतिशय मधुरिमा सिद्ध है) गोविन्द ! नाथ! त्वां प्रपन्नाः नः धियः अच्युतचरणदृशः कुर्याः (हे गोविन्द, हे नाथ ! आप में प्रपन्न हमारी बुद्धि को अच्युत चरण या परम पद को देखने में समर्थ बनाओ)।

भाष्य—उपसंहार में एक प्रार्थना के द्वारा वक्तव्य पूरा किया जाता है। हे भगवन् ! वेदान्त विचार की जो प्रसिद्ध रीति है अध्यारोप और अपवाद, यह तुम्हारे शुद्ध, निर्गुण, निर्विशेष रूप का प्रतिपादन करती है, सो किया करे। ब्रह्म सूत्र में 'जन्माद्यस्य यतः', 'शास्त्रयोनित्वात्', 'ईक्षतेर्नाशिब्दम्', 'रचनानुपपत्तेर्नानुमानम्' इत्यादि नाना प्रकार के लिङ्ग या हेतु द्वारा तुम्हारे सर्वत्व, सर्वशक्तिमत्त्व, सर्वान्तर्यामित्व, ज्ञानशक्त्यादि के समग्रत्व और परिपूर्णत्व को दिखाकर यह प्रतिपादन किया गया है कि तुम अशेष कल्याणगुणाकर ईश्वर हो, अर्थात् तुम्हारा सगुण रूप दिखाया गया है। वह हुआ करे। परम प्रियतम या मधुमत्तम के सन्धान के अवसान के रूप में तुम में ही निरतिशय आत्यन्तिक मधुरिमा भी सिद्ध हुई है। क्योंकि श्रुति में 'मधु' के सन्धान में तुम्हें ही चरम मधु के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। एवं 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मात्' इत्यादि कहकर प्रेष्ठता या सर्वापेक्षा प्रियता तुममें ही दिखाई गई है। वह भी

हुआ करे ! अर्थात् ये सभी तुम्हारे निर्गुण, सगुण या आनन्द रूप प्रतिपादित हुआ करें, किन्तु तथापि हे गोविन्द ! हे नाथ ! (तुम में) एकान्त प्रपत्तियोग से समर्पित हमारी बुद्धि को अपने अच्युतचरण अर्थात् अक्षय, अव्यय परम पद में अनाकुल दृष्टियुक्त बनाओ। तुमने स्वयं ही कहा है—'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' अतः तुम्हारा निर्विशेष, रसतम, प्रभृति रूप श्रुति-युक्ति-प्रभृति द्वारा प्रतिपादित होने पर भी तुममें एकान्त प्रपत्तियोग के बिना, शरणागति के बिना, अन्य किसी उपाय से 'तद् विष्णोः परमं पदं' तुम्हारा वह परम पद अनुभव में नहीं आता, साक्षात् अवगत नहीं होता। अतएव तुम करुणा करके हमें उस परम पद के अनुभवभागी बनाओ ।।३७।।

जपसूत्रम्

(प्रथम खण्ड)

(पुस्तक के सम्बन्ध में)

मन्त्र तथा जप के वेदोक्त आगमोक्त स्वरूप को एक अपूर्व सामरस्य तथा समन्वय के साथ जपसूत्रम् में संयोजित किया गया है। साधक जापक की अन्तरानुभूति में सर्वाग्र में गुरुतत्व प्रकाशित होता है। द्विदल कमल रूप गुरुधाम में अपनी छटा बिखेर रही श्री गुरुपदनख द्युति के द्वारा साधक जापक को जिस अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति होती है, उसमें समस्त अव्यक्त का व्यक्तीकरण और रहस्यावृत का रहस्योद्घाटन होता रहता है। अन्तर्गुरु की कृपा से उसकी जीवनधारा के विषच्छन्द अब अमृतछन्द के रूप में रूपायित होने लगते हैं। पहले जो 'संकर' था वह अब 'शंकर हो जाता है। जीवन की छन्दोबद्धता के साथ-साथ उसकी दृष्टि में समस्त विश्व की मधुच्छन्दता प्रकाशित होने लगती है। 'जपसूत्रम्' के अनुशीलन-मनन तथा निदिध्यासन द्वारा यह स्थिति अनायास आयत्त हो जाती है। मानव जीवन में जप के माध्यम से विश्वप्राण, विश्वशृंखला तथा विश्वछन्दः का साक्षाकार अनायास होता है। वेदो में वर्णित तपः तथा अग्नि वास्तव में जप ही है। इसके अनुशीलन से अहैतुक, शाश्वत तथा सर्वत्रग कृपा का वर्षण होना स्वभाविक है। यही है "जपसूत्रम्" का आदर्श उद्घोष !

सर्वतंत्रस्वतंत्र डॉ० ब्रह्मगोपाल भादुड़ी

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी :: दिल्ली